स्वर्गीय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रथम खण्ड

द्विवेदी-काव्यमाला

प्रथम खण्ड

विनयविनोद

(सन् १८८९ मे पहले-पहल प्रकाशित)

दोहा

विश्वाधार विशुद्ध विभु विश्वम्भर वरगीत ।
विमल विमोह विनाशकर विगतिविकार विनीत ।।
निराकार नर-केशरी केशव करुणाकन्द ।
नमो निरंजन ब्रह्म शुचि सुखद सच्चिदानन्द ।।
बुधजन मत्सर-ग्रस्त सब श्रीनि न मदवन्त ।
नवल सुभाषित अपर किमि सुनहिं भयो इमि अन्त ।।
सुजन जगत उत्पत्ति ते लखि न परत कछु सार ।
भय विषाद अपवाद शत कुटिल कल्मषनि भार ।।
यद्यपि पुण्य प्रयोग ते बहुतनि ते अनुकूल ।
भोगत भोग अनेक विधि जो अनर्थ कर मूल ।।
दुर्गमदुर्ग विदेश भ्रमि फल पावत कछु नाहिं ।
तजि स्वजाति-कुल-कानहू निष्फल सेवा जाहिं ।।
काक सरिस पर-गेह हठि जात अनादर पाय ।
तृष्णा तृप्त न होत तउ पाप विरति अधिकाय ।।
भूमि विदारत मूढ नर धनहित सहत कलेश ।
सरि सरितापति तरत अरु तोषत विविध नरेश ।।
मन्त्राराधन करि थकत निशा मशान गँवाय ।
मिलत न एक वराटिकहु तृष्णा तरुण सुहाय ।।
लोभवश बँधि खलनकर कटुभाषण सुनि हाय ।
दहत हीय ज्वाला विषम पै मुख वचन बनाय ।।
विहसत तिन मन की कहत कर जोरत परि पाय ।
आशा इनि आधीन कर नित नव नाच नचाय ।।
अति चंचल जलबिन्दु जिमि कमलपात के माहिं ।
क्षणभंगुर यह जीव तिमि निमिष भरोसो नाहिं ।।
ताहू पै अविवेक ते रे मन भ्रमित सदाहि ।
अल्प हेत हित याचना पातक करि न अघाहि ।।

भोग न भोगत भुगत ह्वी वय इमि सकल सिराय ।
तपहू तपत न वद तपत करत नित्य दुख पाय ॥
काल गयो नहि वय गई शिथिल परत सब गात ।
तृष्णा नहि जीरण भई वय जीरण ह्वै जात ॥
मुख आकृति कछु और ही कच सित रद रद खोय ।
अंग आपने नाहि पै तृष्णा तरुणी होय ॥
इच्छा भोग निवृत्त भइ गयो पुरु कर मान ।
कौन त्याग सुत बन्धुजन सुहृद सुप्रान समान ॥
अतिशय तनु जर्जर भयो श्रवण नयनहू दीन ।
समुझि मरण भय तउ चकित अहो शरीर मलीन ॥
आशा नदी विचित्र इक सुजल मनोरथ जासु ।
तृष्णा उर्ध्व तरङ्ग सम कहिय अनेकन तासु ॥
ग्राहवती जग प्रीति अरु तर्क विहग अनूप ।
तरुवर-धैर्य-विध्वसिनी मोह भमर के रूप ॥
चिन्तातट दुस्तर परम विन प्रयास ता पार ।
योगीश्वर मन शुद्ध जिन जात न लावत वार ॥
परम विक्षम यह विषय है जिन आलम्बन कौन ।
तिन सब भाँति दिगारेऊ सके न करि आधीन ॥
अवशि तजत सो वेगिही अमित व्याधि उपजाय ।
दुखप्रद भयप्रद नाशप्रद अघ ओघनि करराय ॥
ब्रह्मज्ञान विवेक ते निर्मल बुद्धि मुनीश ।
सकल वासना विगत हित सा त विश्वाधीस ॥
आश्रित इच्छा करत बहु सुख संपादन हेत ।
धन अप्राप्त चिन्तत अबुध काल कौर करि लेत ॥
ज्योति अनन्त अखंड नित गिरवर गुहा अनूप ।
लाय समाधि सचेत चित ध्यावत विमल स्वरूप ॥
आनन्दाश्रु सप्रेम जिन पीवत शुक पिक आदि ।
धन्य धन्य तिन धन्य है सेवत ईश अनादि ॥
प्रातहि उठि बहुविधि करत अ म मनोरथ रोज ।
धनसञ्चय क्रीडा सुखद नवल धाम पट खोज ॥
वाद अनेकन करि करत आयुक्षीण हतभाग ।
सुखी पात्र सुइ अहहिं जिन हरिचरणन चित लाग ॥

महादीन आधीन अति भिक्षाहित नित धाव ।
उदर भरे नहिं ताहु सन चित सतोष न पाव ॥
देह एक परिजन शयन रैनि भूमि आधार ।
वस्त्र जीर्ण शतखड कृत कथा दुख-आगार ॥
विधि विहीन या विधि जऊ अधम दशा आरूढ ।
ताहूँ पै मन विषय विष हाहा तजत न मूढ ॥
मोहित होत विलोकतहि जो स्वरूप सानन्द ।
सो अतिशय अपवित्र अरु सब प्रकार ही मन्द ॥
कुच कठोर कुदन कलश ग्रथी मांस मलीन ।
मुख सुश्लेष्मागार तिहि हिमकर उपमा दीन ॥
करिवर सिर सम कहत पुनि मलमूत्रादिक भाग ।
घोर निंद्य ता कहँ कविन गुरु करि करे विभाग ॥
अस्थि चर्म मज्जादिकन सुखद जानि इन माहिं ।
तहाँ रमत जे नर तिनहिं कृमि किमि कहिये नाहिं ॥
निज न जानि असमर्थ उडि तीव्र अग्नि महँ धाय ।
गिरत पतग विनाशहित अत न कछू बसाय ॥
खाय सकटक कौर जिमि मरत मीन अज्ञान ।
अनजानत सेवत विषय देत आपने प्रान ॥
देखि मनुज प्रत्यक्षहू करत न कछू विचार ।
अहो मोह महिमा प्रबल प्रेरत विपति अपार ॥
अति उतग मेरो भवन मेरे पूत सुजान ।
प्रिया परम कमनीय मम सुदरता की खान ॥
यौवन धन नव तन निरखि मूढ अचल अनुमानि ।
हठि जग कारागार महँ परत आपदा आनि ॥
क्षणभगुर सर्वस्व लखि जिन खैंचो निज हाथ ।
तिनके युगपद कमल मे पुनि पुनि मेरो माथ ।
निज तिय दीन मलीन मुख अति जर्जर कृशगात ।
व्याकुल रोदति क्षुधित बहु व्यथा न कछु कहि जात ॥
तापर शिशुना जीर्णता वसनन की न सँभारि ।
गहत चहत भोजन सकल इत उत भवन निहारि ॥
गदगद कंठ विलोकि इमि याचत चहुँ दिशि धाय ।
उदर हेत को सुजन जन बोलहिं हाहा खाय ॥

अभिमत मानसरोज कहु अधम याचना नीच ।
चन्द्र चन्द्रिका सम सदा करत क्षीण जग बीच ॥
लज्जा बन वल्ली वनी खर कुठारिका सोय ।
काटत मूल समेत ते जामे फेरि न होय ॥
यह अति प्रबल विडम्बना लोक शोक की सार ।
अब कत करति निराम मुहिँ विनवहु वारवार ॥
महानिविड आरण्य जहँ मृग मृगपति गजवास ।
अपर पशूगण खग रमत नितप्रति करत विलास ॥
तहाँ जाय रहिबो भलो सैवो नव फल फूल ।
पै न दीनता दीन ह्वै करिबो मति अनुकूल ॥
भागीरथी तरग कण शीतल सीचत जाहि ।
विद्याधर मुनिवर कुशल सेवत जाहि सराहि ॥
सो सुदर गिरिवर गुहा ना पद पायो काहु ।
लोभ ग्रसित विचरत सबै नर नरेश अरु शाहु ॥
कदादिक शैलादिकन कीधौं भई विनाश ।
की गिरिवर निरझर भये कीन्हो अनल प्रकाश ॥
द्रुमशाखा रसयुक्त मृदु फल अर वल्कल दानि ।
टूटि काहु धरणी खसी समुझत लागत ग्लानि ॥
जानि यथा स्थित इन सबै नर युग नयनविहीन '
उदर दिखावत मानहति कहत वैन अति दीन ॥
या दिन लो याँचो सबहि करो न कछू विचार ।
वृत्ति मूल फल फूल की अब तू जानु अधार ॥
प्रातकाल रवि किरण सम कोमल लाले पात ।
करु शय्या अरु चलु तहाँ जहाँ ब्रह्म दरसात ॥
अति व्याकुल अविवेक तें जे नर नित्य भ्रमात ।
तिनकर कबहूँ नामहूँ भूलि न उतै सुनात ॥
प्रतिवन अति घन पल्लवनि छाये तरुवर वृन्द ।
इच्छित फल सब काल में देत लेत आनन्द ॥
ठाम ठाम सरिता निकर मधुर सुशीतल वारि ।
वेलि मृदुल कोमल नवल कीजै सेज सँवारि ॥
तऊ नीच जन धन हितै जाय धनीन दुवार ।
भोगत बहु सन्ताप अरु सहत कलेश अपार ॥

शैल शिला विस्तीर्ण सित शय्या सुखद बनाय ।
धरत ध्यान जब शुद्धचित कानन काम नसाय ॥
अपनो अपनो करि गये जे दिन माँगत खात ।
हँसि आवत तब सुमिरि तिन सकल गात पुलकात ॥
योगीश्वर निज योग बल समदरसी सब काल ।
चिदानन्द चिन्तन चतुर परत न माया जाल ॥
जिन तन मन अरपन कियो रहे ज्ञान महँ पूरि ।
तिन चरणन की रेणुका मेरी जीवन मूरि ॥
भोग रोग भय होत है कुलच्युति भय सब देश ।
मन दरिद्र बल शत्रु भय धन भय नगर नरेश ॥
रूप सुरमणी भय बहुरि शास्त्र वादभय होय ।
गुण खलभय तन कालभय कहत सदा सब कोय ॥
जो कछु या ससार महँ सबहि नित्य भय लाग ।
तीनि काल त्रिभुवन अभय केवल एक विराग ॥
जन्मतही पीछे जरा करत आक्रमण रोज ।
तब यौवन या योग तें घटत नसात मनोज ॥
वित्त लोभ सन्तोष कहँ शम सुख तरुणी भोग ।
बनभूखल विषधर निकरि नृप विपत्ति अरु रोग ॥
ग्रास कीन एकैक इमि अति दुस्तर दिन लागि ।
को जानहि को सतपुरुष बचि है याते भागि ॥
आधिव्याधि शतश सकल मनदुख विविध प्रकार ।
खैचि मूल आरोग्य की डारत एकहि बार ॥
जहँ लक्ष्मी कर वास है तहाँ विपत्ति अपार ।
अनचाहत आवत अवशि करिय उपाय हजार ॥
होत करत या भाँति ते जात वेगिही प्रान ।
रचो काहि स्वस्थिर सुचित विधि स्वतन्त्र बलवान ॥
भोग सुतुग तरग सम चपल भग ह्वै जात ।
प्राण महाप्रिय जो सुऊ क्षण इक माँहि नसात ॥
दिवन जात पल सम चले यौवन जो झलकात ।
देखतही देखत तुरत झट पट बिनशि बिलात ॥
यातो या ससार सब रे मन जानि असार ।
भली भाँति जो बनि सकै कीजै पर उपकार ॥

आयु वायु विघटित घटा अल्पकाल समुदाय।
विज्जुलता सम भोग नव चञ्चल अति अधिकाय ॥
जीव युवा संयोग ते कछु न भरोसा देत।
नाते हे सज्जन सुमन करिये हरि सो हेत ॥
आयु लोल कल्लोल जिमि वेगि पाइहैं नाश।
कितने दिन तारुण्य यह जाकी करिये आश ॥
विषय सकल सङ्कल्प सम भोग तडित आभास।
प्रेम तन्तु तिय परमप्रिय थिर न सदैव विलास ॥
करि सुईश आराधना त्यागि वासना भार।
विन प्रयास चित चेति तू तरु भवसागर पार ॥
जीवन महाअनर्थ महँ प्रविशत प्रथम शरीर।
गर्भवास करि कछुक दिन बहुदुख सहत अधीर ॥
जन्मि जुवा उपभोग तें काटत कठिन कलेश।
जरा निन्द्य सब भाँतिही जहँ न शान्ति कर लेश ॥
रे मन जगजगतीविषै तिलभरि सुख न दिखात।
फिरि तू कत इतउत भ्रमत श्रीपतिशरण न जात ॥
जरा वाघिनी सम सदा गर्जहि सन्मुख घोर।
रोग शत्रु इव देह पै करत प्रहार सजोर ॥
फूटे घट को नीर जिमि आयु स्रवत नित जाय।
अनहित ताकत ताहु पै हाहा कछु न वसाय ॥
भोग विनाशी वृत्ति है जा सन जग जञ्जाल।
उपजत सकल प्रपञ्च अरु पावत कष्ट कराल ॥
विषय हेत तो पै अरे निशिदिन फिरत विहाल।
तौ सुनु मम उपदेश यह होहि सुखी सब काल ॥
मूल काम उत्पत्ति कर वर हैं आशा पास।
दे नसाय इन कहँ प्रथम मानु वचन विश्वास ॥
ब्रह्मा इन्द्र कुवेर सुर अपरहु अमित महान।
आवनही जिहि ज्ञान के लागत चणक समान ॥
बहुरो सब सुख संपदा तीनि लोक को राज।
विरस होत क्षण एक में सधत सुदुर्लभ काज ॥
ब्रह्मबोध चैतन्य अति परम प्रकाशित जोति।
दिन दिन अव हे मूढ मन वृद्धिगतसी होति ॥

आलबन तजि तासु कर वृथा होत किमि खेह ।
बार वार ससार महँ मिलत न मानुष देह ॥
अति उतग नगरी नई नृपति श्रेष्ठ बलवान ।
जगविजयी विख्यात चहुँ सम नहिं जाकी आन ॥
सचिव सभासद चतुर वर अगणित मत्त मतग ।
परिचारक वहु विकट भट कोटिन तुग तुरग ॥
नाश कीन भ्रू फेरतहि समरथ काल कराल ।
वन्दौ द्वौ कर जोरि मैं धरि धरणी निज भाल ॥
दुख सुख रिपु अरु भीत पै रक धनेश सुजान ।
रत्न मृत्तिका पै सदा करि निज दृष्टि समान ॥
कब मैं तजि सब जाल जग अति पवित्र बनमाँझ ।
जपिहौ हरि परिहरि सबहि भोर दिवस निशिसाँझ ॥
भूमि शयन दशदिशि वसन भोजन भिक्षाभाव ।
करनो कहा धनीन लै जो अस बनहि बनाव ॥
वलकल ते सतुष्ट कोउ कोऊ शाल विशाल ।
न्यूनाधिक सतोष मे होत न कौनो काल ॥
अति लोभी सोई सदा निपट दरिद्री जानु ।
जो पै मन सतोप तौ रक धनी सम मानु ॥
भोजन कहँ बनमूलफल अरु पीवन कहँ नीर ।
शयन धरातल कर उशी गेह गुहा गम्भीर ॥
विभव लेश मधुपान जो करत वुद्धि हठि हीन ।
हे प्रभु मोहि न दीजियौ सुनि मम विनती दीन ॥
रविराकेश कलक दिय शनि आदिन कछु नाहिं ।
शेषहि दलत सुभारते अहि विचरत महि माहिं ॥
करिवर कारागार महँ जवुक सुखी सदाहिं ।
प्रवल सकल करतूतिये कहिये किमि कहि जाहिं ॥
सकल गुणन की खानि अरु भू भूषन दिन रैन ।
पुरुष रत्न सिरजत जगत पै तिन अमर करै न ॥
भग होत भ्रूभग ते क्षण महँ सोउ सुजान ।
अहह सर्व उलटी क्रिया विधिगति अति बलवान ॥
अनहोनी होनी करहि होनी होन न देय ।
तृण सुमेरु अरु मेरु को तृण करि यश यश लेय ॥

रजकण की कण ते अधिक आपुहि लघु अनुमानि ।
रे मन गहु भगवत पद काल कलेवा जानि ॥
भ्रमण करत काहे वृथा हे मन इत उत जात ।
ह्वै थिर कहुँ विश्राम करु नातर वयस सिरात ॥
होनहार सो होइगो तामे कछु न विचार ।
करु विस्मरण व्यतीत को सोचु न आगिलि बार ॥
जो कछु सन्मुख आवई ताहि ताहि क्षण मीन ।
भोगु सुमिरि हरिपदकमल मन दृढ आनि प्रतीत ॥
रे मन चचल तोहि मै विनवहुँ हाहा खाय ।
श्री आशा जनि तू करै सर्वस यदपि नसाय ॥
भूपालन भृकुटीन की कल इच्छा लखि मोय ।
निरतत वर वेश्या वनी थिर कबहूँ नहि होय ॥
गणना हम सबकी भला किमि करियै अज्ञान ।
अशन न मिलत दुबेरहू दौरतु होत विहान ॥
सरस गीत सुन्दर मधुर नवल रागिनी राग ।
रसिक सुछद प्रबन्ध बहु अरु साहित्य विभाग ॥
मृगलोचनि हिमकरवदनि हसगमनि सुकुमार ।
कर ककण नूपुर पगनि उर बिच सोहत हार ॥
बनु लम्पट मन तोहि जो इनकर सुख अनुकूल ।
नहि तौ तजि सब जाल जग सेवै हरि पद मूल ॥
परम गहन इद्रीन कर अर्थ विषय तिहि त्यागि ।
अजहूँ निश्चल शातचित मोह निशा ते जागि ॥
आत्मभावगति चपल अनि ताकहँ तू विलगाय ।
सकल वासना रहित हित साधत किमि न सुहाय ॥
नाशवन्त ससार महँ जनि करु रति स्वीकार ।
चेतु ब्रह्म चैतन्य कहँ अद्वितीय अविकार ॥
छाँडि मोहमायादि सब करु हरिचरण सनेह ।
तजि कुसग सतसग गहु फिरि न मिलत नर देह ॥
वीचि वारि कल्लोल घन तडिता सम धन गेह ।
प्रिय दारा परिवार सव पल में ह्वैहै खेह ॥
जगबधन महँ बाँधि ये करत अकारज तोर ।
विरस जानि इन सकल तू भजु श्रीयुगुलकिशोर ॥

लारालय आनन सुहृद कहे सुनै नहि बैन।
नारी निदति नित्य उठि भूलिहु सेव करै न ॥
कठिन कष्ट हाहा सहत जीर्ण वयस दिन रात।
परिपालित निज परम प्रिय पुत्र शत्रु ह्वै जात ॥
वात पित्त कफ तीनि ऐ तापै कासस्वास।
प्राण लेत हठि वेगिही देत विविध विधि त्रास ॥
तरुण तीय सिर केश सित देखत दूरि पराहि।
सुनत कूप चण्डाल को जैसे सब तजि जाहि ॥
जब लौं स्वस्थ शरीर है जरा सु जब लौ दूर।
जब लौं सब इद्रीन की शक्ति भई नहि चूर ॥
जब लौ निज आयुष्य कर क्षय नहि भयौ सुजान।
तब लौ करिय प्रयत्न जग अरु शुभ कर्म प्रधान ॥
अनल जरत गृह देखि जिमि खननो कूप सुठाम।
नतरु दशा सुइ होयगो विनशै यह धन धाम ॥
माधाता मुचुकुद मनु दुर्योधन शिशुपाल।
कर्ण युधिष्ठिर वेणु बलि महाबली महिपाल ॥
सुमुख सुलोचन श्रोणपति नृपति कस लकेश।
गे बिलाय सब धूरि में लखि न परत कछु लेश ॥
ताहू पै समुझत नही रे मन मैं सिर फोरि।
पुनि पुनि विनवहुँ सुमिरु हरि सुनि गुहारि अव मोरि ॥
चचल चित्त तुरग कहँ योग लगाम लगाय।
अल्पकाल कछु दुख सहि खैंचि पथ महँ लाय ॥
ले बनाय अपनी सकल जो तू चतुर प्रवीण।
बारि बीचि सम देह यह होत पलक में क्षीण ॥
रे मन मानत एक नहि ठानी बानी सोय।
नयन खोलि अब देखु तौ काह काह जग होय ॥
करत विनाश शरीर कर जरा जरी जर काटि।
मृत्यु हरत आयुष्य प्रिय सन्मुख गरजत डाटि ॥
पल महँ या तन की प्रलय होवहिगी तत्काल।
त्राहि त्राहि कहि शरण गहि धरु हरि चरणनि भाल ॥
रम्य भोग भोजन मधुर रम्य देह अरु गेह।
रम्य वधु धन सुत सकल रम्य सुप्रिया सनेह ॥

रम्य सुधाकर किरण निशि रम्य गान इक पान ।
रम्य वसन भूषण नवल रम्य सभा सनमान ॥
मज्जन सद सों रम्य पै जनि सुन्दराई मान ।
जब लौं अन्त अनित्यता करति न हृदय प्रमान ॥
दीपक निकट पतंग की छाया सम सब जानि ।
संत सच्चिदानन्दपद सेवहिं वन मन मानि ॥
मायामय करिणी प्रबल लै जगबन्धन दण्ड ।
अभिमानी अन्तःकरण गज मदमत्त प्रचण्ड ॥
नासहिं पुनि पुनि निरदई ता कहँ बारम्बार ।
अनि न सुनो त्रिभुवन कहूँ कीजै सुजन विचार ॥
बेधि मनोरथ हिय गये होन न यौवन नास ।
गुणहू सकल गुणज्ञ बिन रहे न एकहु पास ॥
जा सम अपर न कोउ जग महनाकर बलवान ।
अवशि सुकाल कराल चलि निधन करहिगो प्रान ॥
मोह तिमिर नाशक युगुल परम प्रकाशक पांय ।
कबहुँ नहिं सेये सुचित हरि मन्दिर महँ जाय ॥
डिगरी को अब काह हठि मूढ़ बिगारत आप ।
जानि पतित सिरमौर निज करु सुनाम की जाप ॥
अतिसुन्दर उपवन सघन मिलत पन्थ के माँहि ।
मधुर फूलफल भूमि पैं उपजत हैं सब ठाँहि ॥
मृग अरु केहरि वनचर सुलभ जानि सब काल ।
मन्द होत मदअन्ध जग परि तिन माया जाल ॥
अहो मातु लक्ष्मी सुनिय विनवौं द्वौ कर जोरि ।
जाहु आन के पास तुम पुनि पुनि कहहुँ निहोरि ॥
भोग लेन की अब नहीं मो कहँ इच्छा एक ।
तातें करि इतनी कृपा राखहु मेरी टेक ॥
वल्कलपट गिरि-खोह गृह बन पलास के पात ।
ए सब मम निरबाह हित सुलभ सदैव दिखात ॥
जरजर तर शतखण्ड की कन्था अरु कोपीन ।
भिक्षाशन निक्षिप्त नित प्रिय परिवारविहीन ॥
सदा निरंकुश गात मन बसिबो विपिन मशान ।
योग महोत्सव माहिं थिर वर विवेक विज्ञान ॥

जो बनाव या विधि बने सब प्रकार तें आय ।
तो त्रिलोक के राज में कछू न अधिक लखाय ॥
सुदिन सुखद वह होइहै पद्मासन जब लाय ।
शिला बैठि सुरसरित-तट प्रभुपद ध्यान लगाय ॥
योगमगनमन जानि मुहिं जरठ हरिण मम अग ।
पुनि पुनि आय खुजायहै मुदित लाय निज श्रृंग ॥
महिशय्या शय्या अनुप भुजवल्ली उपधान ।
पवन व्यजन अनुकूल अति सुन्दर व्योम वितान ॥
चन्द्रदीप प्रज्वलित निशि वनिता विरति बनाय ।
हे प्रभु कब मै करहुगो सुख सो शयन सुहाय ॥
रजसमान सर्वस्व तजि विरम जानि धनधाम ।
कब मै पुण्यारण्य में पुलकिततन निष्काम ॥
पातक अंगीकार करि मुख तें जगदाधार ।
पावन नाम उचारिहो बैठि सुकुटी मझार ॥
कानन नदी समीप कब युगकर अजुलि जोरि ।
शरणागत रक्षक कहत विनती करत करोरि ॥
परिहौ महि मै दण्ड इव सब प्रकार तृन तोरि ।
अरु मन मुदित बिताइहौं दिवस निमिष सम मोरि ॥
मज्जन करि सुरसरि सुमन लै पवित्र फल फूल ।
हे जगव्यापक पूजिहो कब मैं तव पद मूल ॥
कब मै मन धरि ध्यान शुचि जाय गुहा गंभीर ।
शिला बैठि सब कहहुँगो तुम सन अपनी पीर ॥
पुनि पुनि आत्माराम में परमानन्दित नाथ ।
तव प्रसाद कब होइहों विपय वियोग सनाथ ॥
दीप्तिमान उज्ज्वल विमल कण युत सरितातीर ।
भव-भुजग तें भीति अरु भागि हीय धरि धीर ॥
परमप्रेम मय शुद्धचित सुखद समाधि लगाय ।
हाहा कब मै सुमिरिहहुँ प्रभुपदपद्म मनाय ॥
धन्य सुदिन धनि धनि घरी धन्य सुबुद्धि विकास ।
करहिं कृतारथ मोहि जब पूरै मेरी आस ॥
बीतत दिन जेती घरी ते फिरि आव न एक ।
गये दिवस अवलो कितिक आनी मनहि न नेक ॥

विहार-वाटिका

समर्पण

यह "विहार-वाटिका" मेरे मित्रवर प० महावीरप्रसाद जी की वाग्-विलास है। पद्य-रचना की सुघराई, यमक की मनोहरताई और लालित्य की अधिकाई आज इस मनभाई वाटिका को रसिकजनो की भेंट करने में मेरे परमहर्ष का कारण हुई है। आशा है कि न्यूनताओ की ओर ध्यान न देकर इसका विहार अंगीकार करेंगे।

हरलालगंज, झाँसी
१५ फ़रवरी १८९० ई०

सीताराम

श्रीराधामाधवाभ्यां नमः

बानी दानी भवानी विमल बुधिमनी लोकलोकेश रानी ।
माता अभोज गाता सकल फल लता श्रीस्वरूपा सयानी ॥
शक्तीनादा प्रसादा शरण तव सदा पादवदे विनीता ।
राधावाधाहरी जै विनय मम इती आदि माया पुनीता ॥१॥
उद्धार्यौ वरवेद सिधु मथिकै आनी धरा धारिकै ।
दैत्यै मारि बलीकुलै धरनि लै क्षत्रीनि सहारिकै ॥
लका जै मघवाभिमान हनिकै बौद्धावतारी भये ।
वन्दे सो निकलक वङ्क जनहा नानावतारै लये ॥२॥
मेरी बुद्धि मलीन दीन जड को हे शुद्धि कै दीजिए ।
ध्यावौ नाथ नवाय माथ धरणी एती कृपा कीजिए ॥
वर्णी छद निवध वृन्दं कविता सारी जु सिगार की ।
या नाही तिन माहि पूर्ण परिहै दोषानि के भार की ॥३॥

सुमिरि हास विलास कलानिहि ॥
सरसरास दुलासनि मानिही ॥
चरित कोमल नूतन श्याम के ।
कहन हौ चहहूँ शुभधाम के ॥४॥

बशी बट तट यमुन के राधा नन्दकिशोर ।
विहरत आनन इन्दुछबि ब्रजजन नयन चकोर ॥५॥
छाये मेघ चहूदिशानि लखिकै श्यामा ललामा महा ।
घोरारण्य मझार श्याम हँसिकै हो गेह जैयौ कहा ॥
प्यारी आयसु पाय जाय हरिके 'सकेतित-स्थान में ।
कालिन्दीवर कूल केलि करिहौ आनन्द पागे रमे ॥६॥
रासोल्लास भरे प्रसून विथरे शय्या सवाँरी जहाँ ।
श्रीराधाघनश्याम काम बिधि कै प्रेमाध राजै तहाँ ॥
दोऊ अक भरै 'अनन्द विहरै' हारै न कोऊ कहूँ ।
हूँ हूँ में छलमैं कपोल दल में लावण्य लीला चहूँ ॥७॥

अनेकनारी रतिलाल लालसी।
विलुब्ध वैसी अति ही प्रभालसी॥
सखी दिखावै मुद रूप राधिके।
नर्म समेता मति चित्त साधिके॥८॥

सुधा बाहा थाहा सुथल अवगाहा हरि तवै।
प्रिया भाई लाई हियहि सुख पाई छकि जवै।
कही वामा श्यामा मुदित अभिरामा रस भरे।
गहो बाही नाही करि कि कर जाहीं कन्करे॥९॥

सुशोभा महा श्याम जू की भई है।
प्रिये संग ले रासलीला ठई है।
कला कोटि कौशल्य तू कामिनी है।
कहो एकही राधिका नामिनी है॥१०॥

सरिस सबै जानी राधिका रासरानी।
मलिन अनख मानी मानिनी मानि ठानी।
विरह दव दहेली कुंज पैठी अकेली।
रिसि वश अलबेली दीन बैठी नवेली॥११॥

राधे नागरि के बिना साधे सुख सव श्याम।
विरस जानि विह्वल विकल तजी सकल व्रजवाम॥१२॥

हिये थके मोहन ताहि हेरिकै।
दगी दिशा प्यारिहि टेरि टेरिकै।
विथा महा मैन तपै जबै दयी।
कलिन्दजा राह दुखी तवै लयी॥१३॥

साधै वान कमान नैन भृकुटी सवानिकै तानिकै।
मारै मोहि सरोष तू शशिमुखी या मान ना ठानिकै॥
लीजै प्राण प्रचारि जारि विरहा पै दुःख ना दीजिये।
पापी मार कुठार वार खरते रखा हहा कीजिये॥१४॥

सालै हालै कुलिश सम ये ठीक माला ठये हैं।
नीके जीके वसन वरजे तेउ फीके भये हैं॥
कू कू कूके द्रुमनि चढ़ि सो हीय छेदै प्रचारी।
ऐरी देरी करित सुधि ले प्राणप्यारी हमारी॥१५॥

जहाँ कीन्हें दीन्हें सुख सुख सुरस भीने विपिन में।
तहाँ नामा नामा जपत सव यामा सुमन में॥

लखै घाटा बाटा पुलिन नव ठाटादुख दहे।
कहाँ जावै पावै उरज उर लावै कर गहे ॥१६॥
तकत प्रिय मुरारी सेज साजै विहारी।
कृशित तनु दुखारी पाय ना हीय हारी॥
तन मन धन वारी सुद्धि सारी विसारी।
तलफत विनुवारी मीन जैसे तृषारी ॥१७॥
भुजनि भरि निशका मेटिवे हेत अका।
विधि हरि कृपलका हाय पायो कलका॥
मधुर मधु विलासा राधिका में सुपासा।
सुरति करत हासा सर्व भूली हुलासा ॥१८॥
श्यामा श्यामा श्याम टेरत मुरली धरि अधर।
देखि सुललितावाम ताहि पठाई खोज हित ॥१९॥
महा विकल हौं कल नही पल युग सरिस वितात।
विन दर्शन कीन्हे प्रिया मोहि न कछू सुहात ॥२०॥
मनभावनि जितको गयी जाय तितै तिहि आन।
गई सखी देखी दुखी सर्वस मनहु नसान ॥२१॥
न सो डोलै वोलै नमत कछु खोलै महि परी।
विहारी जूही के गुनतगुन हारी सब धरी॥
दुरे मारै जारै रतिपति विचारै कछु नही।
लखै राधा वाधा दुख अति अगाधा सरि वही ॥२२॥
कहति मालति माल तमाल हू।
दुखद दाख सदा खस जालहू॥
अलि नलीन कलीनन लीन है।
भ्रमत भ्रामत हामत खीन है ॥२३॥
लखत ही तिनही तन ही भयौ।
कुलिश ज्यौ तजतै नहि जी गयो।
पवन पावन पावन पावऊ।
रज सदा जसदा जस गावऊ ॥२४॥
पल्लवलता नव विशद किशलय शोक उर उपजावही।
सुन्दर सुगन्धित मद मारुत सुमन सुचित सतावही॥
गुञ्जत भ्रमरवर मजु कजनि लखत तप तन तावही।
व्रजराज विनु सब काज आज अकाज करि अकुलावही ॥२५॥

इमि सखी आतुर देखि चिन्तत तुरत मोहन ढिग गई ।
तहँ जाय तिय सदेश पिय सो कहेहु विरहानल नई ।।
सुधि नही तन वसन की मध अधर मधुकर पीवही ।
मनसिज दहत मन हारिनी हरि हाय कैसे जीवही ।।२६।।

परी छरी सी महि माहि राधा ।
कही न जावे सु असाध्य बाधा ।
चलो हहा दीजहु जीवदाना ।
न तो तजैगी वह वेगि प्राना ।।२७।।

आशा लाये तिहारी नयनयुगुल ते अश्रुधारा बही है ।
नारे खारे करारे जलधि तिन भये टेकवाही गही है ।।
ताते ताको पतीजै दरशन चलिके बेगि ता ठामि जाई ।
दीजै लीजै निहारी न तरु जग सबै बूडि है अन्त पाई ।।२८।।

सीरी पीरी धरी सी शिथिल अति परी रोमठाढे अधीरा ।
चिन्ता दाहै कराहै कहत किमि बनै पीर जेती शरीरा ।
देखे तापाकलापा कपनि सुतनु की होइहै सर्व दूरी ।
ऐतो कीजै धरीजै सिख चित दृगनै लावऊँ पाद धूरी ।।२९।।

जरे अनग ज्वाल जाल वाल सर्व कालही ।
महा विहाल हाल है लखे रसाल मालही ।।
अचेत स्वेत चाँदनी चितौत चन्द चौगुनी ।
कृपानिधान ध्यान प्रान राधिका कथा सुनी ।।३०।।

कीजिए सनाथ नाथ नायिका अनाथ जानि ।
अगु मजु कंज गज मैन दीन हीन मानि ।।
हौ कहौ करौ कहा अहौ महा मलीन मन्द ।
सुन्दरी उठाय जाय देहि तोष नन्दनन्द ।।३१।।

प्रेमाकुल व्याकुल थकित कुजपुज बिच वाम ।
लाय समाधि अखण्ड जनु जपति तुमहि घनश्याम ।।३२।।

कबहुक स्वासाह नही चलत कलेश अपार ।
ऐक नाम आधार लखि तजे सकल आहार ।।३३।।

सुरनि कबहु करि रास की उर उमग उपजाय ।
हीय हार शृगार वर धारै बहुरि लजाय ।।३४।।

सजै साजै सेजा चकित चित लाजै पुनि छकी ।
कला लीला न्यारी विशद शुभशीला थिर थकी ।।

करैं [illegible] [illegible] निरखि अवनैं [illegible] पटी ।
दशा कौरी जी की सुधि [illegible] कौनी [illegible] कटी ॥३५॥
[illegible] [illegible] [illegible] मगन [illegible] नोनैं [illegible] नहीं ।
[illegible] [illegible] सोवै निशि [illegible] रोवै [illegible] नहीं ॥
राधा भारी भारी लखत बनवारी [illegible] ।
निशा आवै भावै न कछु फिरि जावै तप भरी ॥३६॥
ऐ हो प्यारे कहहि किन हो मोहि काहे बुलाये ।
जी मे ही मे सकल तन में आपही हो समाये ।
ऐसी मेरी विनय सुनिए कीजिए नाहि देरी
हाहा दीजै दरस अवतो आपनी जानि चेरी ॥३७॥
इत गोपाल विहाल अरु उत वृषभानु सुताहू ।
अशन व्यसन तजि चहत, इक केवल लोचन लाहु ॥३८॥
भावे कछू न विन प्रीतम सेज सूनी ।
वाढै विलोक तन भूषण पीर दूनी ।
कीन्हे विलम्ब अवलम्ब न पाय प्यारी ।
सकेत हेत सब देह दशा विसारी ॥३९॥
राधा हिये विरह व्याकुलता विलोकी ।
जान्यो मुकुन्द सखि आगम वात रोकी ॥
आली गई न मनमोहन पै जु आयो ।
लागी दवार हिय अग अनग छायो ॥४०॥
अवधि आवन भावन याम ही ।
युगुल गे युग से निशि वामही ॥
अनिल कुजनि कज शरीर है ।
लगत ही अग अग मनो दहै ॥४१॥
सजन साजन साज नसाय है ।
विकल के कल के कल आय है ।
जगत जीवन जीवन जाय है ।
अतन तापन ताप तचाय है ॥४२॥
यह सुधा धर चादर लाज की ।
अहह खैचत मो सिर ताज की ।
वरत वारि लगै तपते घनी ॥
सुभगनी यम की यमुना ठनी ॥४३॥

आये भाये अजहु नहि है धीर जीना धरो री।
मारे मोको मदन शर लै हाय कैसी करौ री॥
पाऊँ लाऊँ हियहि हरि को शूल सारे कलेश।
मेटौं भेटौं भुजनि करिये पूर्ण आशा ब्रजेश॥४४॥
उतकठित दुख कठलो मोचति लोचन वारि।
सजनी दुति पीरी परी रजनी विगत निहारि॥४५॥

रमे विहारी कित जाय आजू।
मिली कहूँ काहू सखा समाजू॥
भूले घने कानन कै सुश्याम।
आयै अबौ ना निशि एक याम॥४६॥
पिया हिया हाय कठोर कीन्हा।
चिता महादुख अपार दीन्हा।
बूझे तऊ लाज भरी न बोलै।
सशर्क प्यारी नहि मर्म खोलै॥४७॥

ना आये पिय निर्दयी यदि अली तेरो कहा दोष री।
सो स्वच्छन्द निकन्द द्वन्द दुख के ताते हिये रोष री।
जोपै बेगि न आय धाइ मिलिहै गोपाल मोको अरी।
तौ मेरो मन आपु त्यागि तन को ह्वैहै जहाँ श्री हरी॥४८॥
लीन्हो गोकुल को उबार गिरि लै गोपीश गोवर्धनै।
हारे इन्द्र समेत मेघ पचिकै गाथा न मोते बनै॥
मारे दैत्य अनेक एक कर से सहारि सारी अनी।
कीजै सो अनुकूल मूल भुज को दाता दया को धनी॥४९॥

निरखि प्रिय प्रभाता हर्ष ही ना समाता।
हुलसत हरिवाता कौन देखा जुगाना॥
कतहु मन धरे हे रूप औरै करे हैं।
सरस रस भरे हैं माल मोती गिरे है॥५०॥
रिस उर उपजाई बाल बोली रिसाई।
सुरति रत सुहाई पाग नीकी बनाई॥
युग दृग अलसोहै कीजिये लाल सोहै।
हिय बिच नख सोहै वा दिही खात सोहै॥५१॥
बिन गुड गुन माला है कहैं भेप भाला।
दुरत कत दुशाला सग लाये विशाला॥

मुकुर मुख निहारो फेरि टीको बिगारो ।
इमि धनि अनि जागो गैल वाही सिधारो ।।५२।।
मधुर अधर पीका त्यागिये नाग पीका ।
तन मन सब फीका मोहती नैन नीका ।
धनि धनि ग्रह आगे रंग कारौं भुलावे ।
सवतिन मन भागे जाय कूकै पराये ।।५३।।
पुरुष लखि पियारो मानिनी भेद भारी ।
सिसकत हिय हारी दीन बानी उचारी ।।
सनमुख लखि कै रै दीठ नीची चितैकै ।
गद्गद गति लैकै पाणि जोरै विनैकै ।।५४।।
सब विधि मनमानी अग मेरे समानी ।
अतुलित सुखदानी सत्य तूही सयानी ।
अपर तिय तहाँ ही ठौर कैसे सुपाही ।
मदन जब जहाँही नित्य ही मोहि माही ।।५५।।
भृकुटि तरल तेरी नागिनी लौं तिरेरी ।।
डसत कुटिल हेरी वक होतै दरेरी ।
विपम गरल हेता बिम्बरूपी सचेता ।
अमृत मधुर देता वेगिकै पान लेता ।।५६।।
विनय करहु दीना हूजिये ना मलीना ।
सुमुखि तव विहीना पीर जाती सहीना ।।
अब मन मुख मोरै हेरियै नैन कोरै ।
दुखसर मन भोरै आजु मेरो हिलोरै ।।५७।।
भरे तेरे ऐरी अधर मधुकेरे रस सने ।
कली लाली शाली कमल कुच आली लखि घनै ।।
बनी नासा हासा सुखद सुविलासा सुधि किये ।
तुही गावोपावो पलयुग गवावो मम प्रिये ।।५८।।
रमा जोहै मोहै अपर अस कोहै यग महा ।
उमा मैना रम्भा सम सकल दभा यदि कहा ।।
लजै नारी भारी तडित इव सारी तन लसै ।
तजो माया दाया करहु मन माया कत कसै ।।५९।।
भृकुटी कमान समान अलकै सुघर बन भलकै बनी ।
आनन अनूपम वक चितवनि सुभग शर शोभा घनी ।।

अगनि अनग उमग छाये छवि छकित अभिरामिनी।
शोभित परम कमनीय गुणमय जलजतनुद्युतिदामिनी ॥६०॥
कोमल कपोल कटाक्ष तीक्ष्ण विशिख जनु हिय में लगे ॥
सिर वारवर तम भार पूरित लखत रद मनसिज जगे।
सुखमा सदन सुचि रूप सुन्दर धन्य लखि मनमानही।
अनमोल गोल अडोल गोरे उरज युगुल समानही ॥६१॥
हरि हर्‌यो मानिन मान या विधि विनय कीन मनायऊ।
मुरली मधुर सुसलीन करलै हेरि फेरि सिधायऊ।
पिय गये जानि गुमान निजगुनिविकल तिय दुखपायहू।
अपमानि उर पछितानि रिसवस नयननीर बहायऊ ॥६२॥
व्यथा कथा तब तासु तन प्रेम कलह विरहागि।
सखी चतुरि आतुरि कहति मनमोहन रसपागि ॥६३॥
सोहैं तेरे निहोरे मलिन मनखरे प्रानप्यारे अधीरा।
मानो ऐं कौन ठानी कुटिलगति अरी धाय बूझी न पीरा ॥
दीन्हे तूने घनेरे तमकि दुख पियै मानकै सर्वखोवा।
ताते तोको दहैंहैं मलयजरजहू चाँदनी चारु चोवा ॥६४॥

सुनै कहैं सखी सखी समाज आज भास हैं।
सुवास अंग मे लगे मनो भुजंग स्वास है ॥
करैं अकाशचन्द सो दुचन्द प्रान घात हैं।
शरीर काम धामहू कछू नही सुहात है ॥६५॥
सदा सुभाय शीलता सनेह गेह गावऊ।
सप्रेम नाम नेम लै सुप्रीति ना दुरावऊ ॥
कहा हिये विचारि कै सरोष दोष मै दयो।
वियोग बीर आपही विमूढ बादिहीं लयो ॥६६॥

दीजै आश्रय दीनबन्धु सुनिये दासी निरासा भई।
जिह्वा चामहराम हाय मख में आपत्ति केती दयी ॥
कीन्हे वाद विवाद कोटि कटुजै सो काढ आली अरी।
हा हा नाथ पधारिये छमि सबै कीजै न देरी हरी ॥६७॥
कछुक काल गत विरह वस मनसिज प्रेरी नारि।
निशि अभिसार विहार हित आभूपण तनधारि ॥६८॥

चली कली सी सुसहेट पीय की।
सराहती तीय उछाह हीय की ॥

[illegible] नैन [illegible] ।
[illegible] ॥६९॥
[illegible] अंगनि मनोभव [illegible] ।
[illegible] उर माहिं [illegible] ॥
[illegible] ।
न जाय कामज्वर [illegible] ॥७०॥
[illegible] रैनि महा अध्यारी ।
[illegible] आनन्द पिया निहारी ॥
[illegible] अंक प्रेमाकुल [illegible] प्यारी ।
[illegible] करी केलि कला पसारी ॥७१॥
प्यारी चली ठीक गई सयानिहूँ ।
दोउन न जानी निशि नाहि वानिहूँ ॥
पायो उमँ ओर विषाद अन्त मे ।
लज्जा वढी भेद खुलो इकन्त मे ॥७२॥
लजी आई भाई तजि हरि वनाई कछु तहाँ
सखी मेरी माने कहति तिय अपने उनइहाँ ॥
अरी हेरे नेरे अवहि प्रिय प्रेरे मदन के ।
गुई आली चाली कुशल वनमाली सदन के ॥७३॥
गरे डारा हारा नवसत सिंगारा रचि किये ।
तिया भोरी गोरी वयसअति थोरी पिय हिये ॥
वसी कीमी मीमी वस वर वतीसी इमि वनी ।
मनो मोती भासै जगमग प्रकाशै दुति घनी ॥७४॥
कथा भाषै लाखै करत अभिलाषै पुनि कहै ।
कवै जैहै पैहै सुख दुख नसैहै मन यहै ।
दही देही काँपै अतन तन तापै निशि दिना ।
मिलो प्यारी लावै उर सव सतावै तुम विना ॥७५॥
हारावली तरल कङ्कण शुभ्र सोहै ।
मजीर दीप्ति मणि देखत कौन मोहै ॥
राधै निहारि हरि मजुल कुज द्वारा ।
सकोच सोच उपजाय न जाय पारा ॥७६॥
जानी लजी नवल वाल सुदेखि मोही,
आनन्द प्रेम परिपूरित तासु सोही ।

बैठे सखीन सिख दै सुसखी बुलाई।
स्वाधीन आप इत लै मुरली बजाई ॥७७॥
प्यारो प्यासो चहैहै मृदु रस अधरा पान येरी अयानी।
गावै तोही सुनावै सुनि मम सजनी लीजिए मानि वानी॥
नाही नाही नही है तव कुशल कला ताहि ते वेगि आवो।
ज्वाला सारी बुझावो सकुचि तजि सबै भावते हीय लावो॥७८॥
बिना मोलही लय लियो मोल जिनहि चितचाय।
तिनसो बोलन मे विहसि गोरी कहा लजाय॥७९॥
वन अलीके सुनत इमि चली मिली गोपाल।
सादर मय आनन्दयुत मन्द मन्द गति बाल॥८०॥
आछेकटाक्ष मृगाक्ष के तजि कानि कानन लो गये।
तासो भयो श्रम विथकि चंचल चपल तारे दृग छये॥
पूरे प्रयास प्रस्वेद मुकता विलग करि कोरन दये।
श्यामहि निहारत उमगि उरगिरि मनहु हर पूजत भये॥८१॥
प्यारी सखी मिसकै चतुर मुसुकाय जब न्यारी भई।
छूटी सकुच सब वदन पियलखि अतन की तनतप गई।
सोहै शुभग शुचि स्वेत सुन्दरहार हरिछबि निधि महा।
धारा यमुनजलविमलपै जनु फेन सितरुचि सो वहा॥८२॥
मोहन मुदित मनभावती सन कहत सनमुख आइहै।
कोमल कुसुमदल सेज पर पदकमल मृदु पधराइये।
अवुज अरुन समता करत तिहि जीतप्रीति लुनाइये॥
सेवहु चरन तव हरन सब दुख मधुर वैन सुनाइये॥८३॥
दपति सुरति आरम्भ सपति पुलकि जनु वहु पायऊ।
भेटनि मनोहर हँसनि चितवनि अधररस सरसायऊ॥
अकनि भरत निरशक हरषित हरि विपुलसुख छायऊ।
नैननिमिषितजि प्रियामुखछवि लखत अति मन भायऊ॥८४॥
अधखुली पलकै अलकै बनी,
उर उतग अनग सनी अनी।
ललित अग सुरङ्ग धुरङ्ग है,
गति बसी जनु सीव मतंग है॥८५॥
भुजन जोरि उरोजनिहूँ मिलै,
सुरति दायक नायक अग लै।

नखनि दतनि कंत इकत कै,
छत किये सुपिये रस अत कै ॥८६॥
थकि थली सिथली रस रीत में,
रति-रची सुखची-विपरीत मे ।
लजित कपति कप सनेह की,
नव कला विकला कलदेह की ॥८७॥
वसन आसन-आसनि दास कै,
विलग पी रस की हँसि हाँस कै ।
द्रगलसे विलसै अलसै गही,
सुमन हार विहार विहाय ही ॥८८॥
छरा छूटे टूटे सुरति रस लूटे हिय गहे ।
चितै गौहीसौही सजति अरसौही मुदलहे ।
थकी गीता प्रीता उझकि अगरीता सुखसनी ।
महाशोभा लोभा मन लखत शोभा छवि घनी ॥८९॥
प्यारे धारो सवारौ वसन सुरुचिसो अग मेरे विहारी ।
देखो मारे बिथारे कचतिय कहही भालवेंदी विगारी ।
रेखा केती बनाई हियहि तुम छली वेगि नीकी करीजै ।
माला तोरो सजीरी विनय नहि सुनी आनिये ताहि दीजै ॥९०॥
रचित कुच अडोला शुभ्र ज्यो मैनगोला ।
तिल कलित कपोला लाइयै श्याम लोला ।
विरति रति मशेनी गूथिये लाल वेनी ।
करनि वलय श्रेनी कीजिए मोद देनी ॥९१॥
जिमि जिमि मुसकाई युक्ति राधा वताई ।
तिमि तिमि चितलाई कीन सोई सुहाई ।
तन मन वलिजाई प्राणप्यारी रिझाई ।
पुनि पुनि उर लाई धाम आये कन्हाई ॥९२॥
मधुर सुर सुनाई श्याम वशी वजाई ।
विपिन निशि लुभाई गोपनारी वुलाई ।
सजल जलद देही मोहती नाहि केही ।
तजि सुत पति गेही वाम लाई सुगेही ॥९३॥
विरह दव वुझाई ताप सारी सिराई ।
नव सुख अधिकाई दीन संतोप पाई ।

विहार-वाटिका में प्रयुक्त वृत्तों की नामावली

वृत्त	नाम	वृत्त	नाम
१	स्रग्धरा	२९	स्रग्धरा
२	शार्दूल विक्रीडित	३०	नराच
३	" " "	३१	चामर
४	द्रुतविलम्बित	३२	दोहा
५	दोहा	३३	दोहा
६	शार्दूल विक्रीडित	३४	दोहा
७	" " "	३५	शिखरिणी
८	वशस्थ	३६	" "
९	शिखरिणी	३७	मन्दाक्रान्ता
१०	भुजगप्रयात	३८	दोहा
११	मालिनी	३९	वसततिलका
१२	दोहा	४०	" "
१३	वशस्थ	४१	द्रुतविलम्बित
१४	शार्दूल विक्रीडित	४२	" "
१५	मदाक्राता	४३	" "
१६	शिखरिणी	४४	मन्दाक्राता
१७	मालिनी	४५	दोहा
१८	मालिनी	४६	उपजाति
१९	दोहा	४७	" "
२०	दोहा	४८	शार्दूलविक्रीडित
२१	दोहा	४९	" "
२२	शिखरिणी	५०	मालिनी
२३	द्रुतविलवित	५१	" "
२४	" " "	५२	" "
२५	हरिगीतिका	५३	" "
२६	" "	५४	" "
२७	वशस्थ	५५	" "
२८	स्रग्धरा	५६	" "

वृत्त	नाम	वृत्त	नाम
५७	मालिनी	७९	दोहा
५८	शिखरिणी	८०	" "
५९	" "	८१	हरिगीतिका
६०	हरिगीतिका	८२	" "
६१	" "	८३	" "
६२	" "	८४	" "
६३	दोहा	८५	द्रुतविलंबित
६४	स्रग्धरा	८६	" "
६५	नाराच	८७	" "
६६	" "	८८	" "
६७	शार्दूलविक्रीडित	८९	शिखरिणी
६८	दोहा	९०	स्रग्धरा
६९	वशस्थ	९१	मालिनी
७०	उपेन्द्रवज्रा	९२	" "
७१	इन्द्रवज्रा	९३	" "
७२	इन्द्रवशा	९४	" "
७३	शिखरिणी	९५	शार्दूलविक्रीडित
७४	" "	९६	इन्द्रवज्रा
७५	" "	९७	वसततिलका
७६	वसततिलका	९८	दोहा
७७	" "	९९	"
७८	स्रग्धरा	१००	"

स्नेहमाला

समर्पण

प्रेम के आधार यह आपके प्रेम की ही रचना है। अनुचित तो है ही कि कुछ भी आपसे इस अवसर पर इस विषय में कहा जाय क्योंकि प्रेमी जनो की लालसा को, केवल उनकी उत्कण्ठा की ओर ध्यान देकर, असगत बातो को दुरा , पूर्ण करने का तो आपका प्रण ही है; तथापि विना कहे सन्तोष नही होता कि, इसे भी आपने पूर्वार्यवशजो के प्रशंसित सकल्पो से संगृहीत जान स्वीकार कीजिए।

झाँसी
१ मार्च, १८९० }

—ग्रन्थकार

स्नेहमाला

तनु जनु घनश्यामा शोभाधामा रसिक सुनामा विश्वभर।
नटवर नँदलाला उर बनमाला रूप विशाला मुकुटधर।
लोचन अनियारे जीवनप्यारे नाथ हमारे देववर।
श्रीराधानायक जनसुखदायक होहु सहायक विघनहर।

दोहा

विधि हरिहर उत्पत्ति अरु पालनलयकरतार।
सेवक इन सबहू किये विधुवदनी आगार॥
जाके चरित विचित्र अति परम मनोहर रूप।
ता पद अम्बुज वन्दहूँ कर शरकुसुम अनूप॥
घूँघुटपट खोलनि हँसनि हिय आशय गभीर।
लाजसकुचभाषण मधुर मरकतहेमशरीर॥
वाद बहुत अभिमानयुत भृकुटी कुटिल चढाय।
नारि सहजही विश्व के नरनि लेत अपनाय॥
वक भौह विभु चारु मुख स्नेहयुक्त मृदुवानि।
दृग चचल गज इव गमन मन्द मन्द मुसकानि॥
शोभा देहि अनेक यं मृगनयनी तन माँहि।
करन नरनि आधीन जग सोई आयुध माँहि॥
भय लज्जास्पद भग भ्रू सकुचि कबहुँ रहि जात।
लीलाहासविलास लखि कौन ताहि पतियात॥
नवल वदन चख अति चपल नारि नवोढा केरि।
नील सरोज समान युग मुदित होत मन हेरि॥
चद्रानन सरसिजनयन स्वर्णमयी सब देह।
कचकुंचित लखि होत हैं वलिवलि अलिगण स्नेह॥
चक्रवाक कुच केहरी कटि नितम्ब विस्थूल।
वचन सरस मृदु अधर सब तिय स्वभाव के मूल॥
मन्दहास सह मुखकमल चचल चितवनि चारु।
बोलनि बरननि अमिय जनु सुनत न रहत विचारु॥

मद मद पग अवनि धरि कुटिल कटाक्षनि मारि।
विन प्रयास तरुणी करत वश्य सुवीर निहारि॥
प्रेम प्रफुल्लित युवति वर, वदन देखिवे योग।
घ्राण सुगन्धित मुखपवन मम नहि दूसर भोग॥
वचन श्रवण तिनके सुखद अरु अधरारस पान।
नवयौवन सुमिरन करत छूटत मुनियन ध्यान॥
कोमल कर कंकण वलय पग नूपुर रवकारि।
धारि लजावत हँसि तिया इक टक रहत निहारि॥
असित शिशुमृगीलौ नयन पुनि पुनि चपल चलाय।
असि को जग नर धीरधर दे न जाहि विचलाय॥
तन कुंकुम चिह्नित सुघर कोमलांग उर हार।
करत वश्य नर पलक में कुटिल कटाक्ष प्रहार॥
निश्चय ते कविश्रेष्ठ हैं ज्ञान बोध विपरीत।
कामिनीन अबला कहहिं जे नित आनि प्रतीत॥
दृग विलोल अवलोकि जिन शक्रादिकहु महान
मोहत तिन किमि भापिये अबला अयन अमान॥
दरसतही जाके नयन तुरत काम प्रकटात।
ताको अज्ञाकारिवर सेवक मदन लखात॥
केशबद्ध सवकाल सिर लोचन श्रुति-पर्यन्त।
हृदयशुद्धता ते दसन अरु मुख स्वच्छ लखन्त॥
द्वौ कुच कुंभनि पैं सदा माल सुशोभित सोइ।
लीन शान्त वपु तदपि लखि महाक्षोभ जिय होइ॥
मुग्धे परम प्रवीन तू धनुष धारिवे माहिं।
शर मम पैनी कोर उर वेधत सकुचत नाहिं॥
दीप अनल रवि इन्दु अरु तारागण समुदाय।
मृगलोचनि विनु अवनि सब अन्धमई दरसाय॥
तरल नेत्र भृकुटी कुटिल पीन पयोधर भार।
अधरामृतहू ते व्यथा होति न करिय विचार॥
रोमावलि लखि ताप पै अधिक अधिक अधिकाय।
निज कर अक्षर पंक्ति जनु लिखी मैन चित लाय॥
गरुता कुचनि कठोर की सहि नहि सकत सुतीय।
कटि लचाय पग मग धरति पुनि पुनि तकि तकि हीय॥

कठिन स्तन नव चारु मुख रे मन लख अकुलात।
जो चाहत ऐसहि प्रिया करु तप काह सिहात॥
सुजनि छाँडि मत्सर सकल करिये हिये विचार।
कार्य एक उत्तम परम अरु मर्याद करार॥
कै निनम्ब भू भूधरनि सेइय अति अनुराग।
मार भार घर तियन के कै तजि सब जप जाग॥
ग ससार असार महँ चतुरन कहँ गनि दोय।
तत्त्व ज्ञान अमृत सुइक, पान करत नर कोय॥
नातर मदन विलासिनी जघन अग सुकुमार।
परास लहत सुख द्वै विहति जग न आन आधार॥
चन्द्रकान्त आनन सुघर महानील सिर केश।
पद्मराग कर तरुणि के वदन रतनमय शेष॥
नारि निपट भव विधि प्रवल करत मनुज आधीन।
विहँसि मोह उपजाय पुनि प्रकटत कला नवीन॥
निर्भय रमत निलज्ज अति कारण वहुरि विषाद।
रमणी रमण सदैव करि राखत वशी प्रमाद॥
विरहानल सन्तप्त अति अञ्चल वाल उठाय।
व्याकुल सुधि बुधि सकल तजि विचरत इत उत धाय॥
उर शीतल रजनीश कर लागत शर इव आय।
वेपत थर थर कंपि तनु आतुर हाहा खाय॥
प्रिय जव लग दरशति नही तव लगि जिय अकुलात।
आवत नयनन तर जवहि मन औरहि होइ जात॥
आलिंगन हित करत तन वहु प्रयत्न हरखाय।
भरत अक चह परस्पर तक न कवहुँ विलगाय॥
कटि केहरि कमनीय विधु आनन रूप रसाल।
प्राप्त जाहि सुन्दर नवल ताहि स्वर्ग सव काल॥
तिय स्वभाव ते नहि कहत भोग समय सुखमूल।
आश्रित तजि निज मान पै वनि आवत अनुकूल॥
करत वहुरि नि शक सुइ आदर स्निग्ध सुहाय।
पुलकित प्रेमाकुल रमत प्रीतम हीय लगाय॥
केश मुक्त उर विच पतित किञ्चित मुकुलित नैन।
परम रम्य मुसुकानि मृदु प्यारे कोमल वैन॥

सुरतजनित श्रमस्वेदकण छाये जासु कपोल।
वधू मधुर मधु पिवत हैं भाग्यवन्त नित लोल॥
आमीलित चञ्चल नयनि सुधा सुरतिरस एक।
सुखकर मनसिज शान्ति कर निश्चय सत्य विवेक॥
जरासु मदन विकार किय अति अनुचित विधि एह।
किय न स्तनपतनावधी जीवन कामिन देह॥
उभय चित्त अरु प्रीति जो सम ह्वै रहैं हमेश।
तौ सुख जानिय नतरु सग शवसम विविधि कलेश॥
मृगनयनी चञ्चल चतुर वाणी मृदुल पुनीत।
कविवर कहि कहि थकि रहे पाय सुहृदय प्रतीत॥
रसमय सुखमय प्रेममय भाषण रुचिर विनीत।
मैनोदयकर छवि छकित सकहि जगत सब जीत॥
ज्ञानिन कहँ सुरसरी तट वास त्यागि मद काम।
तरुणी स्तन मन हरन ते कै सुन्दर विश्राम॥
युवति करहि पिय सन्मुखहि लघु मध्यम गुरु मान।
मलय सुचन्दन सम्मिलित पवन सुखद सम जान॥
आवतही ऋतुराज के बहहि वायु मृदुमन्द।
नवल पल्लवनि युत सकल सोहहि तरुवर वृन्द॥
करहि मधुर रव पिक प्रिय द्रुमनि डार हुलसाय।
पाय समय अस होहि सब भोग सरस अर्फ काय॥
पवन सुगन्धित कोकिला कल वसन्त महँ हाय।
विरहिन दुखद विपत्ति जिमि सुधा गरल ह्वै जाय॥
आवासिन रमणीय है मधु रस मोद निधान।
तरुणि अधर मकरन्द नित करहि सदा जे पान॥
चन्द्र किरण शीतल रजनि अति विचित्र तिहि मास।
करहि साज सुख के सुई प्रवासीन उपहास॥
लखि रसाल नवमजरी उत्कण्ठित पिक कूक।
विरहानल हुति सरिस सो देत हीय विच हूक॥
वात कुसुभि सुवासमय हरनि सुश्रम समुदाय।
विष सम प्रिया वियोग ते लगि तन देति जराय॥
गुञ्जत अलिगण पुष्पमधु पीवत मधुर लुभाय।
ऋतुपति ललित लता निरखि किहि न काम भरसाय॥

अति शीतल श्रीखण्ड सम कामिन कर सुकुमार ।
सीकर सीचत भवन सब जलधि सुता सुतहार ॥
मरुत मन्द शुचि चाँदनी कुमुदिन कुसुमाकाश ।
मदनविवर्द्धक ये सकल ग्रीषम जबहि प्रकाश ॥
सुमन मनोहर मालवर व्यजन पवन पर्य्यंक ।
विमल सुजल कोमल शयन अरु निश किरण मयक ॥
धवल धाम ऊँची गची सरवर चन्दन चूर ।
मुख सरोजलोचनि लहहि जे सुकृतिसह पूर ॥
सुघर भवन सुन्दर रचित अमल रश्मि शशि रैन ।
मलयज मृदुरज शुभ सुरभि खसखाने मुददैन ॥
श्वेत नवल पट सुमन स्रक प्रिया वक्त्र अम्भोज ।
क्षोभहिं तुरन रसज्ञ जन मन सरसाय मनोज ॥
कामोद्दीपक कमल तन कुच कठोर कटि छीन ।
पावस अति तरुणी कहिय काहि न हर्षित कीन ॥
श्याम जलद मय नभ भई अवनि हरी चहुँ ओर ।
कुटज कदब सुगन्धवर वक पगति चितचोर ॥
विपिन रम्यशिखि कल मधुर अरु भिल्लीभनकार ।
वरषा जग सभोग हित वश करि राखत मार ॥
घनोपटल आकाश घन नृत्य मयूरनि बाग ।
वसुधा कदल धवल लखि धीर वियोगी त्याग ॥
विलसित वल्ली अकुरित जात केतकी फूल ।
गर्जनि घोर पयोद चहुँ दादुर रव सरकूल ॥
केकी पिक कोलाहलनि, पूरि जगत जब जाय ।
गजगामिनि विन रजनि तब विरह भरी न सिराय ॥
अन्धकार दीसहि नही कछहू नभ घनघोर ।
बरसत पुनि पुनि गरजि अति गिरत नीर करि शोर ॥
ता विच चचल दामिनी चमकि चमकि रहि जात ।
धन्य तिनहि जे भुज भरत प्रिया मुदित यहि रात ॥
पावस अगम विचारि मगु जो कदापि पिय गेह ।
शरद न विछुरन हेत तिय आलिगन अति नेह ॥
श्रमहारक शीतल पवन सीकर स्वेत विभास ।
सुखकारक दुख दिवस हू करत प्रिया जिहि पास ॥

शरद अर्द्ध निशि जे पुरुष सब विधि दैव विहीन।
भोग आम तजि शिथिल तनु जरत विरह दवदीन॥
रजनी शुभ्र वितान इव निरखि मयंक प्रकाश।
बिन तिय उपल प्रहारि हिय ग्रहगण गिनत अकाश॥
भाग्यवन्त घृत दुग्ध दधि प्राशन वर हेमन्त।
केशरि रस तन खौर अरु नवपट अरुण अनन्त॥
पीनोरस्थल कामिनी अंक लाय सुख पाय।
आनन्दित सोवहि सुखी सब जगजाल बिहाय॥
उडि कपोल चुम्बन करत केश झकोरनि वात।
सीसी सब मुख ते कढत उर न वस्त्र ठहरात॥
कंपत थर थर थर उरू वायु वेग लगि गात।
मरुत दशा विरहीन सी शिशिर काल ह्वै जात॥
पुनि अबलन सन पुरुषसम करत सोइ व्योहार।
आकर्षत कच बसनहू अंग अंग ते टार॥
आकुंठित करि दीठ कर विस्तृत रोमसु देह।
सीसकार ते अधर जनु रोतत भग्न सनेह॥
विषय विरस अति दुखमय त्याग्यो जानि असार।
निन्दत जे यहि मन्द कहि निज विचार अनुसार॥
आत्म तत्त्व थिर करि जबहि तिनहूँ बुद्धि सुजान।
खोजत तब नहि कह सकत तिय महिमा बलवान॥
श्रुति पुराण गुरु हित चहत यद्यपि चतुर प्रवीण।
वेद वारि वर महँ करत कवि कोविद मन मीन॥
तदपि कहत भू है न कछु परहित पुण्य समान।
अरु सुन्दर भामिन सरिस रम्य न जग कछु आन॥
युक्ति अनेक अनर्थ मय करिबो वृथा प्रलाप।
सेवनीय जग मैं अहहिं अपर सकल परिताप॥
तिय यौवन मद युक्त अरु नमित पयोधर पीन।
या वन, जिनव निरर्थ फिरं जो वर युगुल विहीन॥
सांची कहहुँ न और लै लोक यथारथ टेक।
विपइनि को सतोप जर नवनितम्बिनी एक॥
नित परमात्म्य साधहू मुनि समग्य कृपगात।
गहहि गन्ध वैराग्य जब मन इनते फटि जात॥

तामहँ विघ्न न कर सकहिं विबुह जो सुरताज ॥
ज्ञानी सुघर कुलीन नर तब लगिही आचारि ।
जब लग श्रुत प्रविष्ट नहिं मैन शरासन धारि ॥
वक्ता वेद पुरान वर, ज्ञाता शास्त्र सुजान ।
लहत परम पद गति क्वचित कोऊ पुरुष महान ॥
परम अनूपम कुञ्चिका तिय भृकुटीन विहाय ।
चहत खोलिबो अमरपुर द्वारो खुलि न सकाय ॥
मीन-ध्वज मुद्रा तिया बहु सम्पति दातार ।
मन्द त्याग तिय करहिं जे पावहिं दण्ड अपार ॥
क्रोधित मदन महीप कृत मुण्डित नग्न विदेह ।
कर कपाल लै भ्रमत नित दुखित नेर ते गेह ॥
विश्वामित्र मुनीश जिन अशन पवन अरु पात ।
सो मोहे लखि कमल मुख प्रगट सबहिं यह बात ॥
मनुज दूध दधि घृत करत शाली अन्न अहार ।
ते न फँसहि यदि विंध्य तौ तरहि पयोनिधि पार ॥

वदन तेज रजनीश सम कटि कृश अति कमनीय।
मध्य भाग तरुणी कुशल मैन कुम्भ र हीय॥
इनही हित नर वुद्धिवर दुप्टहु राज दुवार।
सेवत चित धरि धैर्यगत मानि विविध उपकार॥
सुघर गुहा रमणीय जहँ गिरजा शम्भु स्थान।
गगवार शोभित शिला तहँ धरिवे कहँ ध्यान॥
जात कौन मनमलिन तजि गृह सुत निज परिवार।
जो कुरग शावकनयन्नि व्यापति जग न विकार॥
कोमलागि मोहन प्रवल मंत्रन यदि प्रकटात
अति दुस्तर ससार तरि तौ सव पारहि जात॥
करि न उल्लंघन सकत नर सागर आशा रूप।
परम मनोहर तरुणता यह सव भाँति अनूप॥
फिरि प्रवास किमि खोइयै भ्रगत अमित दुख पाय।
अन इच्छित आये जरा कर मीजवु रहि जाय॥
कहेहुँ प्रवलता मैन की मैं नहि चाहहुँ ताहि।
ताते करि ताको विरस वरणहुँ अव अवगाहि॥
यौवन दाहक निज वदन अरु वहु अनरथ हेत।
ज्ञानरूप विधु विमल कहँ घनसमपटल सचेत॥
वीज मोह उतपत्ति कर पचवान प्रिय मीत।
दुखप्रद नरकागार यह सवही विधि विपरीत॥
शृगारद्रुम नीरदा क्रीडा मेघ समान।
सींचि मधुर रस ते करत हाव लतादि वितान॥
मुकता फल अनमोल तिहि लागत फल चतुराय।
धन्य युवा जे नहि चलहि निज मर्याद भुलाय॥
पुरुष स्त्रिय जानत अशुचि तौहूँ ताहि निहारि।
निलज वहुरि मद युक्त ह्वै रमत न अतविचारि॥
अवुजनयने प्रियवरे पुष्टोच्चस्तन भाषि।
चन्द्रानने प्रवीन कहि हर्षत हिय हँसि राखि॥
सुनत ताप उन्माद लखि छुवत मोह अविकाय।
तासु नाम किमि लीजिए प्रिया सुशील सुभाय॥
जव लगि नयनन ओट नहि तिय तव लग सुख जान।
विलग होत ही सो सकल विप इव चढत निदान॥

कामिन काया वन सघन शिखर स्तन दुहुँ ओर।
रे मन पथिक न जाइयो बसत मार नहँ चोर॥
चतुर सुचञ्चल चपल अति गजगामिनि मदवन्त।
पंकज बदन विलोकि कै जासु मयंक दुरन्त॥
ताके नयन भुवंग कहुँ काहू भूलि डसै न।
भेषज मिलहि न तिन कबहुँ जिन घायल किय सैन॥
मधुरादिक रस नृत्य अरु गायन सुखद सुगंध।
परस पयोधर पाँच ये पचेन्द्रिय के बंध॥
मूढ भ्रमत इन महँ फिरत देह मनुज की पाय।
अविवेकी जड देति हैं परमारथहिं नसाय॥
मदन सुव्याधि असाध्य है जासु निवारण नाहिं।
औषध लगत न मन्त्रहू वाके निकटहिं जाहिं॥
शान्ति करत नहिं पावई कैसेहू सो नाश।
मोहज्वर नर अंग महँ आवत करत प्रकाश॥
सुन्दर वेश्या मैन की ज्वाला अति विकराल।
कामी यौवन धन जहाँ होमत नित्य विहाल॥
जन्म अंध दुर्मुख अशुचि जराजीर्ण सब गात।
अविचारी अकुलीन खल कपटी कोल किरात॥
अल्प द्रव्य हित जे रमत तिय इनहूँ सँग माँहि।
ज्ञानी श्रेष्ठ गुणज्ञ जन तिन पै मोहित नाहि॥
वारवधू के अधर नहिं सज्जन चुम्बन जोग।
दूत चोर चेटक नटहु मुख लावत सब लोग॥
पीन पयोधर चल तरल लोचन तन कमनीय।
कर कोमल कृश उदर वर हार मनोहर हीय॥
त्रिवलीलता अनूप लखि कछु लावत नहिं जीय।
धन्य धन्य ते धन्य हैं सब प्रकार कथनीय॥
बाले लीला करि कहा तू नैननि के बानि।
छोडि व्यर्थ श्रम करति है चूकत देख निशान॥
गुनिबो मन म्हँ प्रथम सम उचित नाहिं अब तोहिं।
विषय मोह माया सकल तृण इव दीसत मोहिं॥
नील कमल छबि हरण ये युगुल नयन तरवारि।
तकि तकि नित प्रति कत करत प्रबल प्रहार सँभारि॥

ठानी कह समुझत नही जानी कछू न जाय।
ज्वाला चहहुँ अनग की मैं तन देहुँ बुझाय॥
निरमल गृह अति शुभ्र अरु तरुणी भोग विलास।
अग अनूपम वहुरि जो जग सुखदायक भास॥
इन सबही को जानियो प्रेमतनु कर जाल।
कामी कृमि फँसि जासु ते तलफत दुखित विहाल॥
योगाभ्यास अखण्ड ते आत्मा मन अपनाय।
सुखी निरन्तर जे अहहिं मायाबध नसाय॥
तिनकह क्षोभि न सकत है तिय मुख स्वास सुवास।
अधरामृत भाषण मधुर प्रेम पल्लवित हास॥
निज कोदड चढाय किमि ठनकारत तू मैन।
सिर धुनि धुनि बोलत वृथा कोयल हू मृदु वैन॥
री कटाक्ष चचल कहाँ मुग्धे पुनि पुनि मार।
चित्त शरण भगवन्त की गह्यो विनाश विकार॥
मोह अन्ध मदग्रस्त जब मदन हाथ विकि जात।
सकल विश्व तब नारिमय दशहूँ दिशा दिखात॥
वर विवेक अजन जबहिं लोचन नेत लगाय।
सकल भुवन भरि तिनहिं तब ब्रह्म एक दर्शाय॥
कृपा तिहारी के विना सो मिलि सबहि सकै न।
विश्वविमोहन एक रस श्रीपति मुखमाऐन॥

॥इति॥

अथ श्रीमहिम्नस्तोत्रम्

भूमिका

[illegible]

[illegible] ।

[illegible]

[illegible] ॥

इस स्तोत्र की प्रशस्त भाव और सरल वाणी की सुन निर्मल चित्त सद्गुणियों ने प्रशंसा की और जिनके मन में यह आशा सी उत्पन्न होती हुई कि इसके मनोहर छन्दों में भी पुष्पदन्ताचार्य गन्धर्वराज ने जो कुछ प्रकट भाव से दर्शाया है उसे समझकर कृतार्थ होवें। परन्तु संस्कृत-शिक्षा के पूर्ण रूप से प्रचलित न होने के कारण अनेक प्रेमीजन इस रस से वंचित ही रहते हैं। मैं स्वयं इस भाषा से परिचित नहीं। इसी से यह विचार बहुत दिनों से मेरे मन में था कि यदि अवकाश मिले और किसी सुजन का दैवयोग से मेरा संयोग हो जाय तो अपनी बुद्धि के अनुसार इसके आशय को जान यदि हो सके तो उसे प्रकाश भी करूँ। सो यह आज पूर्ण हुआ। इसका अनुवाद मैंने सन् १८८७ ई० में, जिस समय मैं इलाहाबाद में स्थित था, किया था।

इस अनूठे स्तोत्र की रचना का कारण ऐसा सुना जाता है कि किसी राजा ने एक बहुत ही रमणीय पुष्प-वाटिका बनाई थी उसमें नाना प्रकार के सुवासित पुष्प सदैव विकसित रहते थे। किसी समय पुष्पदन्ताचार्य इस वाटिका की अत्युत्तम शोभा देख उसमें पधारे और जितने नूतन नूतन और सुगन्धित प्रसून पाये सब ले गये। उस दिन से उन्होंने नित्यप्रति वहाँ से फूल ले जाना आरम्भ किया। यह बात राजा को विदित हुई परन्तु कौन पुष्प ले जाता है यह कोई न बता सका क्योंकि गन्धर्वराज इस चौरकर्म को गुप्त रीति से करते थे। राजा ने गुणी जनों द्वारा यह प्रमाणित कराया कि यदि पुष्पचोर शिवनिर्माल्य का उल्लंघन करे तो निश्चय पकड़ा जाय। इस प्रकार का मन्त्र ठहराय एक रात्रि को वाटिका के चारों ओर शिवनिर्माल्य सिंचन कराया। पुष्पदन्त आये परन्तु जब लौटने लगे तब अपनी अन्तरिक्ष गमन की शक्ति नष्ट हुई जान चकित हुए और आशंकित होकर इस कष्ट से मुक्त होने के लिए शंकर की स्तुति करनी आरम्भ की जिसको श्रवण कर

श्री शिव जी ने प्रसन्नता प्रकट करके गन्धर्वाचार्य को पूर्ववत् शक्ति प्रदान कर उनका मनोरथ सुफल किया।

एक भाषा के छन्द को दूसरी भाषा के छन्द में उल्था करना कुछ तो आप ही कठिन होता है तिस पर इस पथ मे प्रवेश करने का यह मेरा प्रथम ही साहस है, इस कारण मूल सस्कृत-छन्दो के यथार्थ भाव को मुझे शका है कि मै भाषा में तादृश न दर्शा सका हूँगा अर्थात् कही कही छन्द-रचना मे आवश्यक वाक्यो की योजना करने में कुछ न्यूनाधिक हो गया होगा इसी से प्रत्येक श्लोक का भावार्थ भी लिखा है कि जिसमे मूल का अर्थ जानने मे कुछ विरोध न हो। इस स्तोत्र के भाषान्तर करने में मूल कवि के अभिप्राय को भली भाँति प्रकट करने के हेतु से कही कही भावार्थ के प्रकरण में फेर-फार भी हुआ है सो अवलोकन से विदित हो जायगा। इसका छन्द-प्रबन्ध इस प्रकार मे है —

मूल	भाषा
१से २९तक शिखरिणी	१से१३तक शिखरिणी
३० हरिणी	१४ से २८ तक भुजगप्रयात
३१ से ३४ तक मालिनी	२९ से ३५ तक हरिगीतिका
३५ से ३७ तक अनुष्टुप्	३६ से ४३ तक नाराच
३८ और ३९ मालिनी	४४ मे ४९ तक मालिनी
४० वसन्ततिलका	५० से ५२ तक तोमर
४१ अनुष्टुप्	५३ से ५५ तक प्रज्झटिका
	५६ दोहा

इस कार्य में हुशगाबादस्थ श्रीमद्बाबू हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ का जो सम्प्रति मध्यप्रदेश राजधानी नागपुर मे विराजमान है मै परम कृतज्ञ हूँ। उक्त महोदय ने बडी कृपापूर्वक पुस्तक के आशय और भावार्थ के जानने मे सहायता देकर भाषानुवाद को शुद्ध किया। तदनन्तर श्रीमद्बाबू सीताराम जी स्वामी इडियन मिडलैंड यन्त्रालय, झाँसी को मैं अनेकानेक धन्यवाद देता हूँ जिन्होने अपनी परम देशहितैषिता, स्वभाषानुराग और अनुपम मित्रस्नेह से इस पुस्तक को प्रकाश किया।

आशा है कि सद्गुण ग्राहक एक वार सका अद्योपान्त पाठ कर मेरे परिश्रम को सफल करे।

झाँसी
१५ जनवरी, सन् १८९१ ई०।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

अथ श्रीमहिम्नस्तोत्रम्

महिम्न पार ते परमविदुषो यद्यसदृशी
स्तुतिर्ब्रह्मादीनामपि तदवसन्नास्त्वयि गिर ।
अथावाच्य सर्वं स्वमतिपरिणामावधि गृणन्
ममाप्येष स्तोत्रे हर निरपवाद परिकर ॥१॥

अहो शम्भू तेरी अतिव अपरम्पार महिमा ।
महाज्ञानी ध्यानी सकहिं नहिं भापी तिहि समा ।
वेदा ब्रह्मा आदी गुणनि गणना औरहु करी ।
थकी वाणी गायी गिरिश तव गाथा गुणभरी ॥१॥

बखानैं हैं तोहीं सकल निज बुद्धी सब नितैं ।
स्तुती मेरी हू या ग्रहण करिहैं श्री शिव चितैं ।
सदा हेरैं हीरे ह्रियहि निज दासै अहहि जो ।
कुसेवे हू रीझै लखहिं मन की भावनहिं जो ॥२॥

हे शम्भु आपकी महिमा को भली भांति जानना परम दुस्तर है, तथापि ब्रह्मादिकों अरु अपर महर्षियों ने निज निज शक्त्यनुसार आपके गुणानुवाद गाये हैं, और आपने उनके गुणकथन और स्तुति को ग्रहण किया है, इससे मुझे भी आशा है कि इस स्तोत्र को भी उसके दोषो पर ध्यान न देकर आप अंगीकार करेंगे । मुझे विदित है कि मै, जिसको आपकी महिमा का लेशमात्र भी ज्ञान नहीं है, सब प्रकार से आपका स्तवन करने में अयोग्य हूँ, तथापि परम्परा से अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार सबने आपकी स्तुति की है, इसी से मैं भी दृढ विश्वास करके यथामति आपके गुणगान करने में प्रवृत्त हुआ ॥१॥

अतीत पंथान तव च महिमा वाङ्मनसयो-
रतद्व्यावृत्या य चकितमभिधत्त श्रुतिरपि ।
स कस्य स्तोतव्य कतिविधगुण कस्य विषय
पदे त्वर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वच: ॥२॥

मनौं बानी आहै अलग महिमा पन्थ हरते।
पुराणौ औ वेदौ चकित चित ह्वै कै सुडरते॥
कहै जैसे तैमे विलगि गुण ग्रामै प्रगटते।
शशी गंगाधारी अलख अविनाशी पशुपते॥३॥

सुताही के कैसे कहत बनि आवै गुण किते।
विषै का केते है मिलहिं नहिं ढूंढे युग विते॥
न है आदौ अन्तौ अगम अति जाकी करणि का।
करै लीला कोऊ कवन विधि ताकी बरणि का॥४॥

आपकी महिमा वाणी और मन से परे है, अर्थात्, वाणी और मन में यह सामर्थ्य नही है कि पूर्णरीति से उसके पार जा सके प्रत्यक्ष वेदवाणी भी आपके स्वरूप का प्रतिपादन भयभीत होकर करती है, आपके अनन्त गुण वर्णन करने मे कोई भी समर्थ नही है परन्तु आपके लीलार्थ धारण किये हुए रूप के वर्णन मे किसकी वाणी स्फुरित नही होती और किसका मन आकर्षित नही होता॥२॥

मधुस्फीता वाच परमममृत निर्मितवत-
स्तव ब्रह्मन् किं वागपि सुरगुरोर्विस्मयपदम्।
नम त्वेता वाणी गुणकथनपुण्येन भवत
पुनामीत्यर्थेऽस्मिन्पुरमथन बुद्धिर्व्यवसिता॥३॥

गुरू देवौं केहू परम मृदु गभीर स्वर ते।
अमीरूपी जाके वचन सुखदाई हृदय ते।
भया भीता गीता सकुचि जिय सोऊ कहत है।
कृपासिन्धू बन्धू यदपि शिव प्रेमै गहत है॥५॥

कथा गैबो चाहो पुरमथन पुर्व हिय धरो।
मिसी याही के मै वचन रसना पावन करो।
द्रवैंगे मो पै श्री त्रिपुरअरि आशा यह मना।
सवै देतै आये शरण न गुणौ औगुण गना॥६॥

हे पुरमथन! सब गुणसम्पन्न अमृततुल्य वेदवाणी के कर्त्ता आपके महिमा के वर्णन करने में सुरगुरु (बृहस्पति) की भी वाणी विस्मय को प्राप्त होती है। भला मेरी वाणी की कौन गणना है, परन्तु हे ईश! मेरी वाणी आपके स्तुति करने मे इस हेतु मे नही प्रवृत्त हुई कि वह किसी प्रकार से

आपको सन्तोष-दायक होवे किन्तु उसका अभिप्राय यह है कि आपके गुण-गौरव को वर्णन करके वह परम पावन हो जाय ।।३।।

तवैश्वर्यं यत्तज्जगदुदयरक्षाप्रलयकृत्
त्रयीवस्तु व्यस्त तिसृषु गुणभिन्नासु तनुषु ।
अभव्यानामस्मिन्वरद रमणीयामरमणी
विहतु व्याक्रोशी विदधत इहैके जडधिय ।।४।।

प्रभुत्व स्वामी ते जगत उपजै औ पलि मरै ।
प्रलै बूड सारो धरणि पुनि सोई जल भरै ।।
श्रुती तीनौं नित्यै करत प्रतिपादन तव हरे ।
त्रयी मूर्ति विष्णुर्विधिहु शिव शम्भू शशि धरे ।।७।।

यहै न्यारे न्यारे गुणनियुत राजै प्रभु जिते ।
सबै मे ज्योना है विमल शुचि तेरी जगपते ।।
करै निन्दा तापै कछुक इहलोके जड सदा ।
न सो शोभा पावै लगति रमणीया तिन यदा ।।८।।

हे वरद ! जगत् के उत्पत्ति, पालन और सहारकारक, ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीन देवताओ की भिन्न भिन्न तीन गुणो से प्रकाशित तीन वेदो-द्वारा वर्णन की हुई आपकी महिमा को, इस लोक मे कोई कोई जड-बुद्धि मूर्ख, लोप करने का प्रयत्न करते है उनको अपने यह कृत्य, अपने दुराचरण मे यद्यपि सुहावने लगते हे, तदपि, वास्तव मे वह सब भॉति विपरीत ही है ।।४।।

किमीह किंकाय स खलु किमुपायस्त्रिभुवनम्
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च ।
अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदु स्थो हतधिय
कुतर्कोऽय काश्चिन्मुखरयति मोहाय जगत ।।५।।

विधाता है कैसो रचत नयलोकै किमि सुई ।
धरे कैसी देही सकल किन वस्तू निरमई ।।
कुतर्कै है मूर्खा कहि सुइमि माया भ्रम परे ।
न जाने ऐश्वर्यो सकत नहि जो खडन धरे ।।९।।

आपके अतर्क्य ऐश्वर्य में जगत् मे बहुतेरे दुष्टबुद्धि, अज्ञानी मनुष्य इस प्रकार की कुतर्कना करते है कि विश्वोत्पत्ति ब्रह्मा ने की है । कल्पना किया कि

रुची वैचित्रेते सरल कुटिलो पन्थ सबही।
गहेहै भावै जो समुझि तिहि श्रेष्ठै धरत ही।
तिही भाँती जैसे सरित जल जावै जलधि में।
मिलेंगे ते तोही सकल अवसाने पलक मे ॥१३॥

तीनो वेद, सांख्य और योगशास्त्र, शिव और विष्णु-माहात्म्य-सम्बन्धी ग्रन्थ द्वारा निर्मित किये हुए भिन्न-भिन्न मतावलम्बियो को अपना-अपना मार्ग उत्तम भासता है, कारण, रुचि की विचित्रता मे सरल और कुटिल पथ में उन्हें अन्तर नही समझ पडता, परन्तु अन्त समय जैसे सर्व संसारी जल टेढे और सीधे दोनो मार्गो स सागर मे जाकर सम्मिलन करते है इसी प्रकार यह विविध मतानुयायी आपही को आकर मिलते है ॥७॥

महोक्ष खट्वाग परशुरजिन भस्म फणिन
कपाल चेतीयत्तव वरद तन्त्रोपकरणम्।
सुरास्ता तामृद्धि विदधति भवद्भ्रूप्रणिहिताम्
नहि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति ॥८॥

महा उक्ष खट्वाग व्याला कपाला।
कुठारै धरे पाणिराजै दयाला॥
रमाये विभूती उमानाथ अगा।
मृगच्चर्म आसीन प्रेतादि सगा ॥१४॥

अमागल्य सामग्रि कामारि तेरी। 2
ऋद्धी सिद्धि दातार से भौह फेरी।
सुरेशादि ब्रह्मादि सम्पत्ति सारी।
महाराज गौरीश दीन्ही तिहारी ॥१५॥

निजात्मा सुखी शम्भु आनन्दकारी।
विभौ ना चहैहै कवौं श्रीपुरारी॥
सुसारग तृष्णा समा जानि ईशा।
हियो सो कियो त्याग ताको गिरीशा ॥१६॥

हे वरद! नन्दी बैल, खट्वाग, परशु (कुठार), मृगछाला, भस्म (चिताभस्म), फणि (सर्प) और कपाल तो आपकी स्वय सामग्री है; परन्तु देवताओ की जो ऋद्धि-सिद्धि है सो आपकी केवल कटाक्षमात्र की कृपा से है। सत्य है आपको, जो कि परमानन्द में सदैव निमग्न रहते है; यह विषय-वासनारूपी मृगतृष्णा कदापि मोहित नही कर सकती है ॥८॥

ध्रुव कश्चित्सर्व सकलमपरस्त्वध्रुवमिदं
परो ध्रौव्याध्रौव्ये जगति गदति व्यस्तविषये।
समस्तेऽप्येतस्मिन् पुरमथन तैर्विस्मित इव
स्तुवन् जिह्वेमित्वा न खलु ननु धृष्टा मुखरता ॥९॥

ज ध्रू कहैहै नितै नित्य कोऊ—
अध्रू कोय ससार थापै सुदोऊ।
यही भाँति विस्मय जतावै सबी को।
अचम्भो वडो सो सुनै होत मोको ॥१७॥

करौं मै विनय नाथ कैसे तिहारी।
लजौहौं हिये माहिं हा हा पुकारी।
लहै अन्त नाही कबौं वेद जाको।
सु मै मन्दबुद्धी कहौ काह ताको ॥१८॥

हे पुरमथन! कोई तो कहता है कि यह ससार ध्रुव अर्थात् (स्थिर) सत्य जन्ममरणरहित है, कोई कहता है कि यह अध्रुव (अस्थिर असत्य) है, और कोई यह भी कहता है कि ध्रुव और अध्रुव दोनो है। ऐसी ऐसी वार्ताओ को सुनकर मै विस्मित की भाँति आपकी स्तुति करने मे सलज्ज नही होता हूँ, कारण की वाचाल सदा धृष्ट हुआ करते है। तात्पर्य यह कि अनेक प्रकार से स्तुति करने मे, मेरे मोहित होने से, लोग मेरी निन्दा करेंगे यह सकुच मैंने तनिक भी मन में न ला करके आपकी विनय करने मे, अपनी वाणी की योजना की ॥९॥

तवैश्वर्य यत्नाद्यदुपरि विरिंचो हरिरध.
परिच्छेत्तु यातावनलमनलस्कधवपुष ।
ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्या गिरिश यत्
स्वय तस्थे ताभ्या तव किमनुवृत्तिर्न फलति ॥१०॥

परीक्षा तवैश्वर्य की लेन हेता।
पतालै हरी उर्द्ध धाता सचेता।
गये हारि थाके लहो नाहिं पारा,
तबै ते भये भक्ति श्रद्धा अगारा ॥१९॥

कहौ शम्भु सेवा कहू ना फलैहै।
त्रिशूलै गहे पाणि काकी चलैहै।

दुराधर्ष कैलासवासी नमामी।
हरी मोह-माया व्यथा सर्व स्वामी ॥२०॥

हे गिरीश! आपके अग्नि-समान तेजपुन्ज स्वरूप-सम्बन्धी ऐश्वर्य की परीक्षा लेने के लिए ब्रह्मा तो ऊपर आकाश और विष्णु नीचे पाताल को गये, परन्तु निराश होकर अन्त मे भक्ति श्रद्धा समेत उनको आपकी विनय करनी पडी, तब आपने उनका मनोरथ पूर्ण किया। जिसके ऊपर आपकी कृपा हुई उसको कौन-सी वस्तु दुर्लभ है? अर्थात् कोई भी नही ॥१०॥

अयत्नादासाद्य त्रिभुवनमवैरव्यतिकरम्
दशास्यो यद्बाहूनभृत रणकण्डूपरवशान्।
शिरः पद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुहबलेः
स्थिरायास्त्वद्भक्तेस्त्रिपुरहर विस्फूर्जितमिदम् ॥११॥

दशग्रीव लै मुण्डमाला तुम्हें जो।
चढावै अनेकानि वारैं हुमैं जो॥
फलाहूँ प्रसन्न प्रत्यक्ष दिखायो।
निजारोप सो सार ताको वढायो॥२१॥

महा ह्वै वली तीनहू लोक त्रासे।
भयो एक राजा विना ही प्रयासे।
तऊ ना गई खाज वाहूनि वाके।
वडी युद्ध इच्छा वढ़ी हीय ताके॥२२॥

हे त्रिपुरहर! दशानन (रावण) ने अनायास विना किसी से वैर-भाव किये त्रैलोक्य का राज्य सम्पादन करके ऐसी ऐसी वली भुजाओ को धारण किया कि जो युद्ध की सर्वदा इच्छा करती रही। उसने अपने ही हाथ से अपने सिर काट कमल-माल तद्वत् आपके चरणारविन्दो मे अर्पण किया। यह सब आपही की स्थिर भक्ति के प्रताप का प्रभाव है॥११॥

अमुष्य त्वत्सेवासमधिगतसारं भुजवनम्
बलात्कैलासेऽपि त्वदधिवसतौ विक्रमयत।
अलभ्या पातालेऽप्यलसचलिताङ्गुष्ठशिरसि
प्रतिष्ठा त्वय्यासीद् ध्रुवमुपचितो मुह्यति खल ॥१२॥

सुरारीश ता मोह माया चलायो।
तव स्थान कैलास जातैं उठायो।

पताले भयो आदरो ता अनूठा।
दवो ईश ज्योंही दवा ो अँगूठा ॥२३॥

अहे सो सवै भक्ति औ नाथ सेवा।
वशीभूत जो कीन लकेश देवा।
खलै जो मिलै नेक कैहूँ वडाई।
वनै आँधरो दुष्ट करमै अड़ाई ॥२४॥

आप ही की सेवा के प्रभाव से जिस रावण की भुजा इतनी वलवान् हुई उमी रावण ने वलात्कार से आपका वासस्थान कैलाश पर्वत वरजोरी उठाना चाहा परन्तु आपने अपने अँगूठे की नोकही से दवा कर रावण को ऐसी दशा को प्राप्त किया कि उसको पाताल में भी आश्रय मिलना कठिन हो गया। सत्य है, मूर्ख उपकार को भूल करके अपने वल का उपयोग करने लगते है ॥१२॥

यदृद्धिं सुत्राम्णो वरद परमोच्चैरपि सती-
मधश्चक्रे वाण परिजनविधेयत्रिभुवनः।
न तच्चित्र तस्मिन् वरिवसितरि त्वच्चरणयो-
र्न कस्याप्युन्नत्यै भवति शिरसस्त्वय्यवनति ॥१३॥

वली वाण चर्णाम्वुजानि प्रभावा।
नवौ खड जै को जु डका वजावा।
लयो जीत पादोच्चधारी सुरेशा।
न सोऊ अचभो कछू है महेशा ॥ २५॥

जपा नाम जै नाथ साँचे स्वभावा।
धरा ध्यान औ प्रीति से माथ नावा।
तिहूँ लोक लोकेशहू ताहि स्वामी।
कहै कपिकै हीय तुभ्य नमामी ॥२६॥

हे वरद! वाणासुर ने समस्त त्रैलोक्य को सेवक के समान अपने वश करके सुरेश (इन्द्र) के महदैश्वर्य को भी लज्जित किया सो सव इस वाणा-सुर को जो आपके चरणो मे इतना प्रेम रखता था, कुछ भी आश्चर्यजनक नही है। आपके भक्तो को कौन-सी वस्तु अलभ्य है? कोई नही ॥१३॥

अकाण्डब्रह्माण्डक्षयचकितदेवासुरकृपा
विधेयस्यासीद्यस्त्रिनयन विष सहृतवत ।

स कल्माष कंठे तव न कुरुते न श्रियमहो
विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवनभयभगव्यसनिन ॥१४॥

प्रलै होन ब्रह्माण्ड आई जबै है।
भयो देव दैत्यानि विस्मय तवै है।
विषै पान कीन्हा दुखी देख सारे,
भई श्यामता कठ मे जो निहारे॥ २७॥

जगत्रास के नाश मै चित्त जाको।
विकारो सदा भूषणै नाथ ताको।
लहै काह ना सोउ शोभा घनेरी।
नमामीश मेरी हरौ ताप हेरी॥२८॥

हे त्रिनयन! समुद्रमथन के समय में हलाहल के निकलने से अकस्मात् ब्रह्माण्ड के नाश होने के भय से सुरासुरो को चकित हुआ देख, उनपै कृपा करके, विषपान करने से आपके कण्ठ मे जो कालिमा हो गई है सो क्या शोभा नही देती है? देती है। जिनका शासन ससार के भय को भग करना ही है उनको तो दूषण भी भू ण है॥१४॥

असिद्धार्था नैव क्वचिदपि सदेवासुरनरे
निवर्तन्ते नित्यं जगति जयिनो यस्य विशिखा।
स पश्यन्नीश त्वामितरसुरसाधारणमभूत्
स्मर स्मर्तव्यात्मा न हि वशिषु पथ्य परिभव.॥१५॥

विजयी जगत सुप्रचण्ड शर नहि होत निष्फल जाहि के।
व्यापित असुर सुर मनुज के मह विशिष तीक्षण ताहि के।
हे ईश सन्मुख जात तव जरि मारि छार सु है गयो।
करि कै अनादर महापुरुषहि भलो जग काको भयो।२९।

हे ईश! जिस मनसिज के जगत् विजयी वाण सुर, असुर मनुष्य किसी को लगकर असफल नही होते उसने आपको भी साधारण देव जान, आपके ऊपर भी बाणप्रहार किया, परन्तु आपने उसकी एक क्षण-मात्र में भस्म की ढरी बना दी। सत्य है जितेन्द्रिय पुरुषो का अनादर करना भला नही होता॥१५॥

मही पादाघाताद् व्रजति सहसा सशयपदम्
पद विष्णोर्भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणम्।

मुहुर्द्यौर्दौस्थ्य यात्यनिभृतजटाताडित तटा
जगद्रक्षायै त्व नटसि ननु वामैव विभुता ॥१६॥

निरतत जबहि पदघात सो हर भूमि भुजन उछारते ।
ग्रहगण सहित नभ बहुरि अनिभृत जटनि की फटकारते ।
बैकुठ तट सब लहत सशय दुस्थ होवन चाहते ।
यदि करत जगहित हेत प्रभ यह वाम होत प्रभाव ते ॥३०॥

आप जिस समय ताण्डवनृत्य करते है उस समय आपके पादाघात से पृथ्वी डगमगाती है, भुजो के फेरने से आकाश मे ग्रहगण भयभीत होते है और जटो की फटकार से स्वर्गलोक को भी ताडना होती है, आप तो जगद्रक्षा के हेतु से नृत्य करते है परन्तु आपके वैभव मे यह क्रियायें किञ्चित् विपरीत हो जाती है। (जैसे किसी राजा की सवारी निकलते मे यदि किसी के बोये हुए खेतो का कुछ भाग विध्वस हो जाय तो क्या आश्चर्य मानना चाहिए, यह तो पराक्रमी और महानुभावो के चिह्न ही है) ॥१६॥

वियद्व्यापी तारागणगुणितफेनोद्गमरुचि
प्रवाहो वारां य पृषतलघुदृष्ट शिरसि ते ।
जगद् द्वीपाकार जलधिवलय तेन कृतमि-
त्यनेनैवोन्नेय धृतमहिम दिव्य तव वपु ॥१७॥

जा फेन सम तारा निकर निकसी सुनभ ते सुरसरी ।
धारा अपार अखण्ड सब जग द्वीप आकृति जिहि करी ।
शिव शीश धारी विन्दु इव तिहि लहत सो शोभा महा ।
इमि दिव्य रूप अनूप भासत पार नहि काहू लहा ॥३१॥

जिस जलसमूह के प्रवाह (सुरसरिता) ने आकाश मे व्याप्त होकर, तारागणो से निज फेन को अधिक शोभायमान करते हुए भूतल मे आय सम्पूर्ण जगत् की द्वीपाकृति बनाई वही (सुरसरि) आपके शीश (जटामडल) में एक विन्दु के समान दृष्टिगोचर है, इसी से आपके दिव्य और स्थूल शरीर का अनुमान करना चाहिए। ॥१७॥

रथ क्षोणी यता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो
रथागे चन्द्रार्कौ रथचरणपाणि शर इति ।
दिधक्षोस्ते कोऽय त्रिपुरतृणमाडम्बरविधि-
र्विधेयै क्रीडत्यो न खलु परतन्त्रा प्रभुधिय ॥१८॥

हर त्रिपुर त्रण के हरन हित रथ अवनि सारथि विधि कियो ।
रथ अग सविता चन्द्र हिम धनु विष्णु शर सम कर लियो ।
जिहि हेरि करि सक भस्म ता हित इतिक आडम्बर कहा ।
क्रीडा स्वतंत्र समर्थ पै किय जगत यश जाकर रहा ॥३२॥

त्रिपुर दैत्य जिसको आप अपनी क्रोधाग्नि से तृणवत् भस्म कर सकते थे उसके सहारणार्थ आपने इतना आडम्बर किया कि पृथ्वी को रथ, विरच को सारथी, सुमेरु को धनुष, चन्द्र और सूर्य को रथ के दोनो चक्र और विष्णु को वाण बनाया, सत्य है महापुरुजो की बुद्धि परतत्र नही होती है । यह आपकी स्वतत्र क्रीडा और महान् प्रभुता की प्रभावदर्शकता है ॥ १८॥

हरिस्ते साहस्र कमलवलिमाधाय पदयो-
र्यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमलम् ।
गतो भक्त्युद्रेक परिणतिमसौ चक्रवपुश
त्रयाणा रक्षायै त्रिपुरहर जार्गात जगताम् ॥१९॥

कमलेश सरसिज पुष्प दश शत पद चढाहि सराहही ।
इकवार पावत ऊन एक सुनैन काढन चाहही ।
दृढभक्ति लखि इम चक्रदिय रक्षक त्रिलोक विचारि कै ।
हरि पाणि सो अजहू विराजत अमित शीश उतारि कै ॥३३॥

हे त्रिपुरहर ! आपके चरणपकज मे विष्णु भगवान् को एक सहस्र कमल पुष्प चढाते समय ऐसी घटना हुई कि एक पुष्प कम पडा, तब उन्होने अपना कमलरूपी नेत्र चढाया । स अनुपम भक्ति का प्रसाद चक्ररूप रण करके वि णु को प्राप्त हुआ, सो वह त्रिलोकरक्षक चक्र अभी तक जाग्रत है ॥१९॥

क्रतौ सुप्ते जाग्रत्त्वमसि फलयोगे क्रतुमताम्
क्व कर्म प्रध्वस्त फलति पुरुषाराधनमृते ।
अतस्त्वा सप्रेक्ष्य क्रतु फलदानप्रतिभुवम् ।
श्रुतौ श्रद्धा वद्ध्वादृढपरिकर कर्मसु जन. ॥ २० ॥

कृत यज्ञ पूरन होत ही कर्तानि तुम ता फल दिये ।
अति ही असम्भव विश्व जो विनु ईश आरावन किये ।
अस समुझि फलदातार श्रुति श्रद्धा सुजन उर आनही ।
ह्वै वद्धपरिकर सुभगवर हित सकल जार्गाह ठानही ॥३४॥

जब यज्ञ पूरा होता है तब आप ही फल देते है आपकी आराधना विना यज्ञकर्त्ता के सब कर्म नष्ट हो जाते हैं, जब कर्म ही नष्ट हो गये तो फल कहाँ से मिलेगा इमी कारण आपको यज्ञकृत कर्म का फलदातार जानकर, सुजन जन वेद मे प्रतीत करके श्रद्धायुक्त बद्धपरिकर हो सर्व कार्य करते है ॥२०॥

क्रियादक्षो दक्ष क्रतुपतिरधीशस्तनुभृता-
मृषीणामार्त्विज्य शरणद सदस्या सुरगणा ।
क्रतुभ्रश.स्त्वत्त: क्रतुषुफलदानव्यसनिनो
ध्रुव कर्तु श्रद्धा विधुरमभिचाराय हि मखा ॥२१॥

सब देह धारिन ईश मुनिन सहाय निपुण सुकर्म में।
जाके सभासद अमर शरणद दक्ष तत्पर धर्म में।
विध्वस वाहू को भयो मख गिरिश शुचि श्रद्धा विना।
किमि सकत पूरण होन तव पद व्यसन नहि एकहु दिना ॥३५॥

हे शरणद! क्रियादक्ष (कार्य्य मे निपुण) दक्ष प्रजापति स्वयं यज्ञ कर, सपूर्ण ऋषीश्वर यज्ञ करानेवाले और देवता सभासद् होने पै भी बिना आपकी श्रद्धा के यज्ञ विध्वस हो गया इससे स्पष्ट है कि आपकी भक्ति विहीन कोई भी शुभकर्म करने में कर्ता का विनाश होता है ॥२१॥

प्रजानाथ नाथ प्रसभमभिक स्वा दुहितर
गत रोहिद्भूता रिरमयिषुमृष्यस्य वपुषा।
धनुष्पाणेर्यात दिवमपि सपत्राकृतममुं
त्रसत तेऽद्यापि त्यजति न मृगव्याधरभस ॥२२॥

जबै विरचि पुत्रि सग में रमै विचारियो।
सभीत त्रस्त तै मृगी स्वरूप वेगि धारियो।
भयो मृगा सोऊ विलोकि हा हहा पुकारियो।
महा अधीन दीन ह्वै दुखी नभै निहारियो ॥३६॥

कह्यो समर्थ कोउ जो अहै सु हो उवारियो।
परी अधर्म फाँस वीच धाय दुःख टारियो।
सुने सु जासु के दयालु शभु बान मारियो।
विधो चतुर्मुखो शरीर दै फलै प्रचारियो ॥३७॥

हे नाथ! विरंचि ने जब कुबुद्धि से अपनी दुहिता (सरस्वती) का देख उसके साथ भोग की इच्छा प्रकट की, तब उसने धर्म-रक्षा के हेतु हरिणी का रूप धारण किया। ब्रह्मा भी हरिण होकर उसके पीछे धाया। इस अन्याय को देखकर आपने धनुष से सन्धान कर बड़े आवेश से आकर उस मृगरूपी ब्रह्मा को ऐसा बाण मारा कि स्वर्ग में जाने से भी यह पीछा अभी तक नहीं छोड़ता और मृगशीर्ष नक्षत्र होकर तारागणों में प्रसिद्ध है ॥२२॥

स्वलावण्याशंसा धृतधनुषमह्नाय तृणवत्
पुरः प्लुष्टं दृष्ट्वा पुरमथन पुष्पायुधमपि।
यदि स्त्रैणं देवी यमनिरत देहार्धघटना-
दवैति त्वामद्धा बत वरद मुग्धा युवतयः ॥२३॥

जऊ अनंग को महेश भस्म कै दियो चितै।
लख्यो हतो गिरीशनन्दनी सुभेष जो हितै।
तऊ अधपत ही कहै प्रिया सु अर्धअंगिनी।
लिया न दोष योग सो सदा कुबुद्धि संगिनी ॥३८॥

हे पुरमथन! हे वरद! हे यमनिरत! (योगादि नियमों में कुशल) पार्वती जी की, जो आपकी अर्धांगिनी है, विशेष सुन्दरता दिखाकर आपको मोहित करने के हेतु से जिस कामदेव ने आपके ऊपर पुष्पबाणप्रहार किया उस काम को आपने तृणसमान भस्म कर दिया यह वृत्तान्त विदित होने पर भी यदि वह पार्वती जी आपके अर्धांग में अपने को विराजमान जान आपको सकाम कहें तो यही समझना चाहिए कि स्त्रियों की यह मूर्खता है ॥२३॥

श्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहर पिशाचाः सहचरा-
श्चिताभस्मालेपः स्रगपि नृकरोटी परिकरः।
अमंगल्यं शीलं तव भवतु नामैवमखिलम्
तथापि स्मर्तॄणां वरद परमं मंगलमसि ॥२४॥

मसान वास औ पिशाच आदि की अनी घनी।
चिता विभूति अंग लेप मुण्डमाल है बनी।
सदा पुरारि साज शील सर्वहू भयंकरा।
अभै परन्तु होत नाथ नाम के जपे नरा ॥३९॥

हे स्मरहर! हे वरद! श्मशान तो आपका क्रीडास्थान हैं, पिशाच आपके सहचर हैं, चिताभस्म आपके अंग का लेप है और मनुष्यो (भक्तो) के मुंड आपकी माला है। यद्यपि आपके अखिल साज और समाज अमंगलकारी हैं तथापि आपके भक्तो को, जो आपका स्मरण करते हैं यही सब मंगलमय हैं॥२४॥

मनः प्रत्यक् चित्ते सविधमवधायात्तमरुतः
प्रहृष्यद्रोमाणः प्रमदसलिलोत्सङ्गितदृशः।
यदालोक्याह्लादं ह्रद इव निमज्ज्यामृतमये
दधत्यन्तस्तत्त्वं किमपि यमिनस्तत्किल भवान्॥२५॥

मुनीश आत्मसाध का जु बात जीतहू लियो।
सहर्ष जासु प्रेम नीर नैन ते बह्यो कियो।
समाधि लाय नित्य तत्त्व जौन ढूँढ़ते रहै।
अहो उई तुम्हैं कृपानिधान वेद यो कहै॥४०॥

योगीजन जिन्होने, मन से इन्द्रियो के आचरण को निहित करके, विधिवत् पवन को भी चित्त मे वश कर लिया है और प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का त्याग करके योग साधन कर मन में जिस तत्त्व को देख गद्‌गद होते हुए और नेत्रो से आनन्दाश्रु की धारा बहाते हुए अमृतरूपी कुण्ड मे तल्लीन होने के समान परमानन्दित होते हैं वह तत्त्व आप ही हैं॥२५॥

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवहः
त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रतु गिरं
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि॥२६॥

सु आप अर्क अग्नि सोम आप वायु रूप है
धरा पताल व्योम लोक आपही अनूप है।
गिनौ कितेक मूर्ति ईश सत्य हौ कहो खरै।
विना तुम्हे न वस्तु एकहू कहूँ लखी परै॥४१॥

आप ही सूर्य है, आप ही चन्द्र है, आप ही पवन है, आप ही अग्नि है, आप ही जल है, आप ही व्योम है, आप ही पृथ्वी है और आप ही आत्मा है। महात्माजन इस प्रकार आपके परिमित स्वरूप का वर्णन करते हैं, परन्तु

मेरी बुद्धि तो यह कहती है कि ऐसा कोई भी पदार्थ नही है जिसमे आप व्यापक नही ॥२६॥

त्रयी तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरा
नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति ।
तुरीय ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभि
समस्त व्यस्त त्वा शरणद गृणात्योमिति पदम् ॥२७॥

सदा महेश ध्यान ऊ समस्त व्यस्त गावई ।
अ ऊ मकार युक्त यो विभक्त कै वतावई ।
त्रिवेद वृत्तिदेव स्वर्ग मृत्यु औ रसातला ।
विकार सर्व हीन शभु व्याप्त आपकी कला ॥४२॥

हे शरणद ! ओ३म् जो अ उ म सयुक्ताक्षर है मो अकेला और भिन्न भिन्न त्रिधा विभक्त भी मन्द मन्द ध्वनि से तीनो वेद, तीनो वृत्ति (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) तीनो लोक और तीनो देवताओ के प्रति आप ही के निराकार स्वरूप का प्रतिपादन करता है ॥२७॥

भव शर्वो रुद्र पशुपतिरथोग्र सहमहाँ-
स्तथा भीमेशानाविति यदभिधानाष्टकमिदम् ।
अमुष्मिन्प्रत्येक प्रविचरति देव श्रुतिरपि
प्रियायास्मै धाम्ने प्रणिहितनमस्योस्मि भवते ॥ २८॥

महान भीम औ इशान रुद्रजू पशूपती ।
भव सुसर्व उग्र आठ नाम एक है गती ।
न्हैहि नित्य नित्य वेद शोधि कै सुनावई ।
नवाय माथ दास पै अखड धाम ध्यावई ॥४३॥

हे देव ! भव, शर्व, रुद्र, पशुपति, उग्र, सहमहान, भीम और ईशान इन नामाष्टक में से आप के प्रत्येक नाम को वेद भी गाते है; मै तो ऐसे परम पुनीत नाम धारण करनेवाले आपको मन वच कर्म से नमस्कार करता हूँ ॥२८॥

नमो नेदिष्ठाय प्रियदव दविष्ठाय च नमो
नम क्षोदिष्ठाय स्मरहर महिष्ठाय च नम ।

नमो वर्षिष्ठाय त्रिनयन यविष्ठाय च नमो
नम. सर्वस्मै ते तदिदमिति शर्वाय च नम ॥२९॥

सकल गुण निधाना एक त्रैलोक व्यापा।
चर अचर सबै मे सिद्ध तेरो प्रतापा ।
जगत जनक रूगा दूर हू नेर स्वामी।
त्रिपुर अरि दयाला अग व्याला नमामी ॥४४॥

हे प्रियदव! (वनविहारी) आप समीप तथा दूररूपी को नमस्कार है। हे स्मरहर! आप सूक्ष्म तथा स्थूलस्वरूपी को नमस्कार है। हे त्रिनयन, आप युवा नथा जरठ वेशधारी को नमस्कार है। इसी भाँति आप सर्नस्वरूपी तथा सर्वव्यापी को मेरा बारम्बार नमस्कार है ॥२९॥

वहलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमोनम
प्रवलतमसे तत्सहारे हराय नमोनम ।
जनसुखकृते सत्त्वोद्रिक्तौ मृडाय नमोनम
प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमोनम ॥३०॥

भव रज वहुधारी जीव उत्पत्तिकारी।
हर तन तन धारी क्रुद्ध ससार हारी।
प्रवल सत धनेशा ईश गौरीश गामी।
त्रिगुण पद विहीना चन्द्रचूड नमामी ॥४५॥

विपुल रज (बहुरजोगण) धारी, विश्वोत्पत्तिकारक, ब्रह्मस्वरूपी आप (भव) को नमस्कार है। प्रवल तम (प्रवल तमोगुण) सयुक्त सृष्टि सहारकारक, ईशरूपी, आप (हर) को नमस्कार है। जनसुखदायक, सत (सतोगुण) की मूर्ति, विष्णुस्वरू ी आप (मृड) को नमस्कार है। त्रिगुणविहीन माया रहित, परम पदस्थायी आप (शिव) को नमस्कार है ॥३०॥

कृशपरिणतिचेत क्लेशवश्य क्व चेद
क्व च तव गुणसीमोल्लघिनी शश्वदृद्धि ।
इति चकितममदीकृत्य मा भक्तिराधा—
द्वरद चरणयोस्ते वाक्यपुष्पोपहारम् ॥ ३१ ॥

कहँ मम बुद्धि दीना मोहसतप्तमन्दा ।
अकथ गुण तिहारे सो कहा विश्वकन्दा ।

तव पद रतही नें वाक्यपुष्पानिमाला ।
सचकित चढवाई प्रेरि मोको कृपाला ॥ ४६ ॥

हे वरद ! आपका, गुण की सीमा को उल्लघन करनेवाला, ऐवर्श्य कहाँ ! और मेरी क्लेशवश्य अत्यन्त अल्प वुद्धि कहाँ ! मुझको तो परम चकित जान आपकी भक्ति ही ने उत्कण्ठित करके यह वाक्यरूपी पुष्पमाल आपके चरणारविन्दो में चढवाई ॥ ३१ ॥

असितगिरिसम स्यात्कज्जल सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी ।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पार न याति ॥ ३२ ॥

असित गिरि वनावै जो मसी सिन्धु दोती ।
सुरतरु लिखनी औ निश्चला पत्र होती ।
लिखहि यदपि लै कै शारदा जू सदा ही ।
तदपि गुण कथा को नाथ पारै न पाही ॥ ४७ ॥

हे ईश ! यदि श्यामवर्ण पर्वत के वरावर कज्जल (मसि, स्याही) करके सिन्धु का पात्र (दावात, मसिदानी) वनाया जाय और सुरतरु (कल्पवृक्ष) के शाखा को लेखनी कर पृथ्वीरुपी पत्र के ऊपर साक्षात् शारदा सर्वकाल लिखती रहै तो भी आपके अनन्त गुणो की गणना का अन्त न लगे ॥३२ ॥

असुरसुरमुनीन्द्रैरर्चितस्येन्दुमौले-
र्ग्रथितगुणमहिम्नो निर्गुणस्येश्वरस्य ।
सकलगुणवरिष्ठ पुष्पदताभिधानो
रुचिरमलघुवृत्तै स्तोत्रमेतच्चकार ॥३३॥

असुर सुर मुनीशा सिद्ध औ साधु वृन्दा ।
नमत नित सप्रेमा शम्भु पादारविन्दा ॥
सब विधि गुणवाना पुष्पदन्त प्रवीना ।
रचि सुरुचिर छन्दै स्तोत्र कीन्ह्यौ नवीना ॥४८॥

आप सुर-असुर और मुनीश सम्पूजित और उन्ही के द्वारा निज गुण की महिमा वर्णित, निर्गुणेश्वर के इस स्तोत्र की रचना सर्वगुणसम्पन्न पुष्पदन्ताचार्य्य ने रुचिर और अलघु अर्थात् वडे वडे वृत्तो (छन्दो) में की ॥३३॥

अहरहरनवद्यं धूर्जटेः स्तोत्रमेत-
त्पठति परमभक्त्या शुद्धचित्तः पुमान्यः ।
स भवति शिवलोके रुद्रतुल्य स्तथाऽत्र
प्रचुरतरधनायु पुत्रवान्कीर्तिमाश्च ॥३४॥

प्रतिदिन नर याही शुद्धि ह्वै जो सचेता।
पढहहि अति हेता भक्ति श्रद्धा समेता।
अघ सकल नसैहै रुद्रलोकै मिवैहै ।
धनवय अवगैहै कीर्ति सतान पैहै ॥४९॥

जो कोई इस उत्तम स्तोत्र का नित्य नित्य शुद्ध चित्त होकर भक्ति-समेत प्रेम से पाठ करते है वे इस लोक मे नवान्, पुत्रवान्, कीर्तिमान् और दीर्घायु होते है और अन्त को शिवलोक मे जाकर रुद्रतुल्य आत्मा को प्राप्त होते है ॥३४॥

दीक्षा दान तपस्तीर्थं ज्ञान यागादिका क्रिया
महिम्नस्तवपाठस्य कला नार्हन्ति षोडशीम् ॥३५॥

तप होम तीरथ दान। दीक्षाति यज्ञ विधान।
इन ना महिम्न की जान। षोडस कलाहूँ समान ॥५०॥

दीक्षा, दान, तप, तीर्थ, हवन और यज्ञादि क्रियाओ का फल महिम्न के पाठ के फल के सोलहो भाग की भी बराबरी नही है ॥३५॥

समाप्तोय समस्तोत्र सर्वमीश्वरवर्णनम् ।
अनूपम मनोहारि पुण्य गन्धर्वभाषितम् ॥३६॥

तत देत मै अब भाषि। पदपद्म हर उर राखि।
मन हरन चरित अनूप। कहि बन्दि प्रभु गिर भूप ॥५१॥

यह गधर्व राजकृत स्तोत्र, जो परम मनोहर और अनुपम है और जिसमें श्री शकर ही का सर्वत्र वर्णन है, समाप्त हुआ ॥३६॥

महेशान्नापरो देवो महिम्नो नापरा स्तुति ।
अघोरान्नापरो मन्त्रो नास्ति तत्त्व गुरो परम् ॥३७॥

सुर शिव परे कहु है। विनती महिम्न परे न।
न अघोर छाँडि सुमत्र। गुरु परे तत्त्व न तत्र ॥५२॥

शंकर से विशेष कोई देव नही है, महिम्न से विशेष कोई स्तुति नही है, अघोर मंत्र से विशेष कोई मंत्र नही है और गुरु से विशेष कोई तत्त्व नही है ॥३७॥

कुसुमदशननामा सर्वगंधर्वराजः
शशिधरवरमौलेर्देवदेवस्य दासः ।
स खलु निजमहिम्नो भ्रष्ट एवास्य रोषा-
त्स्तवनमिदमकार्षीद्दिव्यदिव्यं महिम्नः ॥३८॥

श्री पुष्पदन्त भव भक्त लीन ।
गुरु घोर क्रोध पै भ्रष्ट कीन ।
सुनि वर महिम्न शंकर सुजान ।
उद्धारि कीन गुणगण निधान ॥५३॥

कुसुमदशन (पुष्पदन्त) नाम गन्धर्वो के राजा श्री महादेव जी के सेवक ने, जिसका आचरण गुरु के रोष से भ्रष्ट हो गया इस महिम्न की रचना करके स्तवन करने से, दिव्य रूप पाया ॥३८॥

सुरवरमुनिपूज्यं स्वर्गमोक्षैकहेतुम्
पठति यदि मनुष्यः प्रांजलिर्नान्यचेता ।
व्रजति शिवसमीपं किन्नरैः स्तूयमानः
स्तवनमिदममोघं पुष्पदन्तप्रणीतम् ॥३९॥

कर युगल जोरि जो शिव समीप ।
पढिहै हो है कुल माहि दीप ।
कैलास जाइहै मोक्ष पाय ।
यहि सम न आन जग कछु उपाय ॥५४॥

इस पुष्पदन्तप्रणीत अमोघ स्तोत्र, स्वर्ग मोक्ष के दाता और सुर-मुनियों द्वारा पूजित, का जो कोई एकाग्रचित्त होकर, हाथ जोड़ प्रेम से पाठ करते हैं वे अन्तकाल शिवपुर को जाते है और गन्धर्वादि उसकी स्तुति करते है ॥३९॥

श्रीपुष्पदन्तमुखपंकजनिर्गतेन
स्तोत्रेण किल्बिषहरेण हरप्रियेण ।
कण्ठस्थितेन पठितेन समाहितेन
सुप्रीणितो भवति भूतपतिर्महेशः ॥४०॥

गधर्वराज कृत विनय नित्य।
श्री शकर मन्दिर शुद्ध चित्त ।
अघ जूह नमहि मुख पढत गाथ ।
अतिशय प्रिय है यह विश्वनाथ ॥ ५५ ॥

श्री पुष्पदन्ताचार्य्य के मुखारविन्द से निकले हुए, पाप के नाश करनेवाले और शकर जी के परम प्रिय, इस स्तोत्र का जो कोई जिह्वाग्र पाठ करते है उनके ऊपर भूतनाथ श्री महादेव जी बहुत प्रसन्न होते है ॥ ४० ॥

इत्येषा वाड्मयी पूजा श्रीमन्छकरपादयो. ।
अर्पिता तेन मे देव प्रीयता च सदाशिव ॥ ४१ ॥

अर्पित शिव पद कमल में वाणी पूजा एह ।
करहि निरन्तर हर कृपा मोपै सहित सनेह ॥ ५६ ॥

यह वाणीमयी पूजा श्री शकर के चरणकमल में अर्पित की है इससे सदा शिव मुझ पै प्रसन्न होय ॥४१॥

सुरसरि शेखर गिरिश हर चन्द्रमौलि कर जोर ।
भाषा करो महिम्न की यथा बुद्धि लघु मोरि ।

इति

श्रीकान्यकुब्जवशोत्पन्नमहावीरप्रसादद्विवेदीप्रणीत प्राकृतभाषानुवाद-सहित श्रीपुष्पदन्तगधर्वराजविरचित श्रीशिवमहिम्नाख्य स्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥

ऋतुतरङ्गिणी
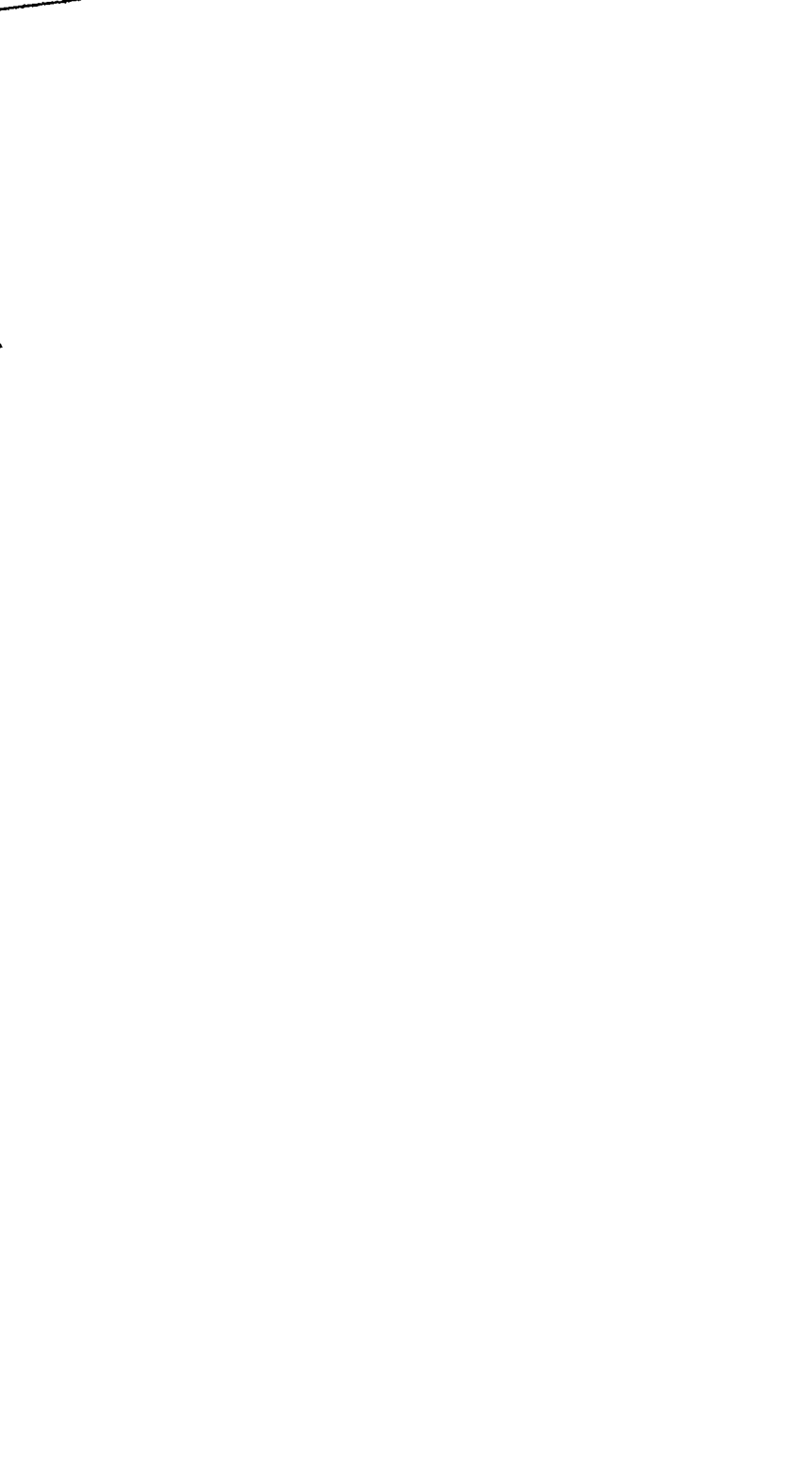
भूमिका

देवनागरी भाषा के काव्यो की पुस्तकमालिका में जहाँ तक मेरे अवलोकन में आया है विशेष करके दोहा, चौपाई, सोरठा, गीतिका, कवित्त (घनाक्षरी), सवैया इत्यादि साधारण मात्रावृत्तो के अतिरिक्त गणात्मक वृत्तो का बहुत ही कम उपयोग किया गया है। कहीं कही भुजगप्रयात तोटकादि छन्द दीख पड़ते हैं परन्तु ऐसी तो कदाचित् ही कोई पुस्तक होगी जिसमें आद्योपान्त संस्कृतयोग्य (गणवृत्त) छन्दो में ही काव्यकथन हुआ हो। हाँ, कविवर केशवदास जी ने अपनी "रामचन्द्रिका" काव्य में अनेक गणात्मक छन्दो का प्रयोग किया है और यह महाशय इस प्रकार की छन्दरचना मे एक ही हो गये हैं।

(२) महाराष्ट्र भाषा देवनागरी से अच्छी दशा में है। इस भाषा के प्रसिद्ध काव्यो के निरीक्षण से यह विदित होता है कि उनमें गणवृत्त बड़े विस्तार से प्रयुक्त हैं। इस समय में इस भाषा के कवियो में विरले ही ऐसे हैं जो मात्राछन्दो का प्रयोग करते हैं।

(३) संस्कृतषट्काव्य की मनमोहनी और सर्वगुण-सम्पन्न पद्य-रचन ने मेरे मन को परम उत्साहित करके निज भाषा में गणात्मक छन्दो के योजना करने में असीम उत्तेजन दिया। प्रथम ही मैंने विहारवाटिका नामक १०० गणात्मक छन्दों की पुस्तक श्रीमत्कविवर जयदेवप्रणीत "गीतगोविन्द" के आशय पर लिखकर श्री बाबू सीताराम जी स्वामी इंडियन मिडलैंड यन्त्रालय झाँसी के प्रबन्ध से प्रकाशित किया और अब इस "ऋतुतरङ्गिणी" को लिखकर रसज्ञजनो की सेवा में अर्पण करने का द्वितीय प्रसग आया देख चित्त में समाधान पाय पुस्तक को यन्त्रस्थ करने में जहाँ तक हो सकी है शीघ्रता की है।

(४) इसमें बहुत-सा सस्कृतवाक्य प्रयोग होने से रोचकता में विरोध हुआ है परन्तु आसाधारण छन्द होने के कारण नियत स्थान में शुद्ध हिन्दी-शब्द की योजना नही हो सकी। इस न्यूनता का मुझे बड़ा खेद है।

(५) यह मेरी सामर्थ्य के बाहर था कि मै इसकी रचना किसी नवीन ढग से करता और इसी कारण अपने भूतपूर्व महाकवियो का आश्रय लेना पड़ा इसमें जगद्विख्यात ऋतुसंहार आदि काव्यो के भाव बहुत स्थानो में

पाठको के दृष्टिगोचर होगे। ऐसा होना किसी प्रकार अनुचित समझे जाने के भय से मैं भाषाकविशिरोमणि तुलसीदास जी के रामायण बालकाण्ड के और सस्कृतमहाकवि कालिदास जी के रघुवश प्रथम सर्ग के वाक्यो का जिनमें इन महानुभावो ने स्पष्ट रीति से उन कविवरो के निर्मित मार्गों पर चलना स्वीकार किया है जो उनसे पहले हो गये है स्मरण करना सामयिक समझता हूँ।

(६) क्रमप्राप्त ऋतुवर्णन में वसन्त आदि मे आना चाहिए परन्तु ग्रीष्मऋतु प्राणीमात्र को दुखदाई होने के कारण उसका वर्णन प्रथम ही करके वसन्त में पुस्तकपूर्ति की है।

(७) भूमिका के पूर्ण करने के पहले मै उन महाशयो से जिनके समीप यह पुस्तक पहुँचे नम्रतापूर्वक अपना हृदयभाव प्रकट करता हूँ कि यद्यपि ये छुद्र छन्द उनको रुचिकर होने में सर्वथा असमर्थ है तथापि मेरे परिश्रम की ओर ध्यान देकर मुझे अनुगृहीत करने के हेतु से एक वार इनका अवलोकन करना उनके प्रशसित कार्यों के अतिरिक्त न होगा।

झाँसी,
१ फरवरी १८९१

महावीरप्रसाद द्विवेदी

ऋतुतरङ्गिणी

सौन्दर्य्यातिशयागारं
नीलाम्भोधरवत्तनुम् ।
सप्रियाकुञ्जपुञ्जस्थ
वन्देऽहं श्यामसुन्दरम् ॥

अथ ग्रीष्मवर्णनम्

(१)

समक्ष वैश्वानर[1] ज्वाल ज्वाला,
फैली महा तीक्ष्ण मरीचि[2] माला ।
सारे भये वारिविहीन ताला,
आयौ कृतातेव[3] निदाघ[4] काला ॥

(२)

न देखि तोयाशय[5] क्लान्त चेता,
पसारि जिह्वा गुरु[6] श्वास लेता ।
मरीचिमाली[7] प्रखरांशु[8] जारी,
भई वराही महिषी दुखारी ॥

(३)

दिनेश दावानल त्रस्त भारी,
आरक्तवर्णा रसना निहारी ।
निदाघ बाधाकुल श्वान सारे,
तृषार्त विश्राम करे बिचारे ॥

(४)

महा पिपासाकुल क्षीण अगा,
गरिष्ठ ग्रीष्माग्नि दहै कुरगा ।
शीतोदकार्थी पग वेगहीना,
परिश्रमै दीन दुखी मलीना ॥

१—अग्नि, २—किरण, ३—कालसमान, ४—ग्रीष्म । ५—जलस्थान, ६—दीर्घ, ७—सूर्य, ८—तीक्ष्ण किरणें ।

(१०)

निदाघ सतप्त समस्त देहा,
दिनेश संदग्ध विहाय गेहा।
दिनान्त सेवै सुगची[१] न जाई,
शशाक[२] ज्योत्स्ना[३] जव हर्ष पाई ॥

(११)

स्वेदाम्बु[४] युक्त जन रैनि निदाघ जारे,
रुद्धानिलाकुलित[५] देह दशा विसारे।
देवै तुरन्त तन ते पट फेंकि कैसे,
नारी नई कुचनि ते पिय हस्त जैसे ॥

(१२)

अत्यन्त सूक्ष्म विशदुज्ज्वल[६] वस्त्रधारी,
तत्काल के वकुल माल हिये सँभारी।
दावाग्नि त्रास[७] खसखास सुवास लाय,
राजै निशामुख[८] जनोपवनानि[९] आय ॥

(१३)

अत्युग्र ग्रीष्म खर-आतप में समाने,
लै लै युवा सुमन सग सखा सयाने।
कल्लोल[१०] लोल अवलोकन चित्रताई;
लेवै दिनान्त[११] सरि तीर समीर जाई ॥

(१४)

कृतिहिमोपल[१२] वारि वनाय कै,
व्यजन[१३] सज्जित गेह कराय कै।
खसन ते पवनायन[१४] छाय कै,
जन रहै दिन में सुख पाय कै ॥

१—उत्तम कोठे पर, २—चन्द्रमा, ३—चन्द्रिका, ४—पसीने का पानी, ५—रुकी हुई वायु से व्याकुल किये गये है जो, ६—विशद + उज्ज्वल, ७—दावाग्नि के त्रास से, ८—सध्यासमय, ९—जन + उपवनानि, १०—तरग, ११—सध्यासमय, १२—यहाँ कृत्रिम हिम अर्थात् वर्फ का अर्थ है। १३—पखा, १४—खिडकी।

(१५)

कुमुद पुष्प सुवास सुवासिता,
वकुल चम्पक गन्ध विनिश्रिता।
मृदुल वात प्रभात भये वहै,
मदनवर्द्धक अद्ध कला[१] कहै॥

(१६)

दुखद दुप्रहरागम[२] देखि कै,
तलघरोदर[३] शीतल लेखि कै।
मनुज सुन्दर सेज सजाय कै,
सुख सनै खस कै खस लाय कै॥

(१७)

अतर सुन्दर मंदिर मालिका,
चहल चन्दन अंगन नालिका।
गुल गुलाबनि आब भरी वहीं,
गरम ग्रीषम में सुख देवहीं॥

(१८)

कुकुंभ की चिक चित्रित सोहहीं,
सुजलयंत्र महा मन मोहहीं।
धननि गेहनि मंजुल मालती,
दहनि ग्रीषम अग्नि बुझावती॥

(१९)

भुजग श्वासैव[४] समीर ज्वालसी,
लसी स्वधामोदर[५] अंगना घसी॥
बजाय जारैं सिगरी घरी घरी,
घरी टरीसी स्थिर ताप ते भरी॥

(२०)

पूर्णेन्दु आनन सरोज समान रंग
भ्रू देखि होहि यमुनाम्बु तरंग भंग॥

१—घड़ी, २—दुपहरी की अवाई, ३—तलघर के अन्दर ४—श्वासा + एव ५—स्वधाम + उदर (अपने घर में)

उत्फुल्लकंजदललोचनि[1] ग्रीष्म काले,
पाटीर[2] पंक करि चर्चंत अंग वाले ॥

(२१)

कर्पूर चूर्ण करि शीतल वासि वारी,
मातंगमौक्तिक[3] मनोहर हार धारी।
शय्या समूल सरसीरुह ते सजाई,
पाटम्बरोत्तमनि[4] सूक्ष्म[5] शरीरधारी ॥

(२२)

चामीकराभरण[6] शुभ्र सुवास थोरे,
अल्पाल्प सर्व करि भूषित[7] अंग गोरे।
धारे नये वकुल चंपक चारु माला,
शीतांशु[8] रश्मि[9] निशि सेइ निदाघ काला ॥

(२३)

सप्रेम चन्दन रसाम्बु वनाय न्हाई,
गुच्छ प्रसून कर कंजनि लै सुहाई।
नारी प्रसादतल[10] रैंनि सुखार्थ पाई,
ग्रीष्मर्तु ज्वाल विकराल दई नसाई ॥

(२४)

(विशेषक)

पुष्ट स्तन प्रचुर चन्दन चर्चि नीके,
वेणी विशाल बिच गूथि प्रसून जी के।
शीतोपचार शतशः करि सौख्यकारी,
ग्रीष्मानलोग्र[11] (इमि) नाशत[12] नित्य नारी ॥

(२५)

सारी दवारि जलयत्रनि ते निकारी,
भारी सुवारि अधिवासित वस्त्रधारी।

१—फूले हुए कमल के समान है नेत्र जिनके। २—चन्दन, ३—गजमोती, ४—पाटम्बर + उत्तमनि, ५—पतरे, ६—सुवर्ग के आभरण, ७—आभूषित, ८—चन्द्रमा, ९—किरण। १०—कोठा, अटारी, ११—ग्रीष्म + अनल + उग्र, १२—नाश करती है

सौन्दर्य मूर्ति सह वल्लभ सेज साजी,
वीरागना[१] निशिमुखागन[२] में विराजी ॥

(२६)

तारा निशान्त कमलीन समस्त होही,
क्षीण प्रभेन्दु नभमण्डल देखि सोही ।
उत्तिष्ठ सृष्टि इमि भावत सुप्रभाता,
होवै चिरायु यह काल[३] सदा विधाता ॥

(२७)

आकाशगामी घन में कहूँ कहूँ,
आकुञ्चितार्कांशु[४] परै लगी चहूँ ।
इतस्तत[५] शीतल वायु निर्मई,
ग्रीष्मान्त मेघागम सूचना भई ॥

(२८)

करि हरित जवासा न्यून (शीतांशु) भासा[६],
सहित शुचि सुवासा शीतलागार[७] वासा ।
जल जलज सनाला रैनि शीतांशु जाला,
मनुज मन निहाला कीजियो ग्रीष्मकाला ॥

इति प्रथम तरग ।

१—वेश्या, २—निशि मुख (सन्ध्या), अगन (आँगन) ।
३—प्रात काल (अर्थात् इस ऋतु मे सदा ही प्रात काल ही बना रहे)
४—सिमटी हुई सूर्य की किरणें, ५—इहाँ वहाँ ६—सूर्य ७—शीतल घर ।

अथ वर्षावर्णनम्

(१)

सवारि जीमूत[१] मतग मान,
सुरेन्द्र-चापायुध[२] वृन्द वान ।
सशस्त्र देशेश्वर[३] सो सुहायो,
विलोकियो पावसकाल आयो ॥

(२)

नीलोत्पलाभा[४] जलदा[५] अपार,
सर्वपि पृथ्वीतल घोर धार ।
राखा न ज्वाला तप लेश लागा,
शोभामयी राजत दिग्विभागा ॥

(३)

हरिततृणाच्छादित[६] भूमि सोहै,
करै कलापी[७] सुखमा नई नई ।
अनेक ह्वै इन्द्रवधूटिका[८] गई,
महा दुखारी पथिकागना[९] भई ॥

(४)

सुपक्व जवूफल[१०] गुच्छकारी,
इतै उठी श्याम घटा करारी ।
महावियोगानलदग्ध वाला,
उतै परी मूर्छित है विहाला ॥

१—मेघ, २—इन्द्र-धनुष आयुध है जिसका, ३—राजा, ४—नील कमल के समान आभा है जिसकी, ५—मेघ, ६—हरी हरी घास से छाई हुई है जो, ७—मोर, ८—लाल रग का एक कीडा, ९—परदेशियो की स्त्रियाँ, १०—जामुन ।

(५)

मेघानि मारुद्वहि[१] आन लेवै,
न व्योम कैसे ठहरान देवै।
जैसे नितम्बाम्बर[२] वाम केरे,
टारै युवा मैन महीप प्रेरे॥

(६)

खद्योतरासि प्रमदा प्रमादा,
केकी पपीहा वक भेक नादा।
सत्क्रौञ्चमाला नद नीर नारे,
पानी भरे वर्द्धित होत सारे॥

(७)

कारे करालाकृति सर्प भीमा,
भेकाकुलानेक तडाग सीमा।
उन्मत्त नृत्यांगन मध्य मोरा,
देखे परैं दृष्टि भये सजोरा॥

(८)

धरा धरे धावत वारिवाह[३],
वहैं चले जात जल प्रवाह।
सुअंक लावैं निशि नारि नाह,
अनंग अगाग भरे उछाह॥

(९)

हरी हरी वाल लता हिलाई,
सुकेतकी पुष्प सुगन्ध छाई।
पयोद वर्षा जल संग पाई,
दशौ दिशा वायु वहैं सुहाई॥

(१०)

निशा अँधेरी न दिसैं कछू कहू,
वहैं सवर्षा जल नालिका चहू।
सुयौवनी पंकजलोचनी भली,
सवेग मानौ अभिसारिका चली॥

१—पवन चल कर, २—नितम्ब के ऊपर के वस्त्र। ३—मेघ।

(११)

छाई घटानि अवलोक अकाशकारी
नाचै मयूर मदमत्त महा सुखारी।
झिल्ली पुकार बरणैं कविश्रेष्ठ लोगा,
उच्चाटनार्थ परदेशिन सुप्रयोगा ॥

(१२)

गावै न कोकिल न शोर शिखी सुनावै,
नावै प्रभा न चपला चमकै न पावै।
कान्ता कहै जनि घटा घन घेरि छावै,
प्यारे प्रवास तजि जो न निकेत आवै ॥

(१३)

सीमन्तिनी वदत वारिदवृन्द बाना,
सौदामिनी नवल धार धरी कृपाना।
केकी कठोर रव घोर पुकारि शूला,
हे प्राणनाथ कब ह्वैहु सानुकूला ॥

(१४)

मेघ प्रघोर रव होत हितेऽनुरागी,
शोकाम्बुपात दृग ते लखि धीर त्यागी।
पत्नी सरोजनयनी सहवास आसी,
आवैं स्वगेह अब वेगि विदेशवासी ॥

(१५)

राजै निशाकर पिय अकनि लै जु बामा,
देवै सुभाग्य तिनकाहि प्रवर्धि कामा।
दाहैं वियोगिनिन सोइ सुसंकाला,
दावानलानुपम[1] मिश्रित मेघमाला ॥

(१६)

मेघोदरस्थ तडिता प्रगटि स्वरूपा,
तेज प्रपुञ्ज दरसाय प्रभा अनूपा।
सेज प्रसुप्त निशि प्रोषितवर्गनारी,
शब्द प्रघोर सह सर्वं करै सुखारी ॥

१—एक अनूठी अग्नि से मिली हुई है जो।

(१७)

आघात शब्द करि वारिद वारिधारा,
आवै धराधरनि[1] ते धरणी मझारा।
दीपैव[2] देखि सबरी सुनिरी करारै
केकी[3] कदम्ब चढि स्वस्ति सुखी पुकारै ॥

(१८)

धारा हरिद्गिरनद्वै बिच[4] शुभ्र सोहै,
शोभा विलोकि न हँसै अस विश्व को है।
मध्यस्तनद्वयसकचुकक्षद्वरेरी[5],
मानो लसै सुलर मौक्तिकमाल केरी ॥

(१९)

वल्ली शिला शिखर शेखर[6] शस्यशाला,
आरण्य दिग् द्रुमलता सहिताल वाला।
सपूर्ण युक्त हरिताखिल वस्तु बाना,
सोहै हरी अवनि सब्जपरी समाना ॥

(२०)

अम्भोधर स्खलित[7] सीकर वारि भारा,
आनम्र अम्ब कचनार कदम्ब डारा।
वातावधूत[8] तर ऊपर ह्वै सुहाई,
देवेन्द्रवृक्ष[9] जनु मौक्तिक वृष्टि लाई ॥

(२१)

जाती कदम्ब कुसुमान्वित[10] चारु शाखा,
शाली[11] समूह कृषि खेतन मध्य राखा।
नाना नवीन तृण सवृत[12] भूमि भागा,
आलोक काहि नहि होहि महानुरागा ॥

१—पर्वतो से, २—दीपक की आकृति का, ३—मयूर, ४—हरिद्गिरनद्वैबिच—दोहरे रग के पर्वतो के बीच, ५—हरित रग की कचुकी सयुक्त दोनो स्तनो के बीच मे, ६—पर्वत, ७—(अम्भोधर स्खलित) मेघो से गिरी हुई बूँदो के पानी के बोझ से नम्र (नीचे) हो गई है जो, ८—हवा ने हिलाया है जिनको, ९—कल्पवृक्ष १०—फूली हुई है जो, ११—धान, १२—छाये हुए है जो।

(२२)

श्यामा मयंक-वदनी कृषलंक[1] वामा,
विद्याधरी सहचरी[2] संग लै ललामा।
हिंडोर राग अति प्रेम समेत गावे,
कोटीन किन्नरवधू सहसा लजावे ॥

(२३)

पीनोन्नतस्तनि मनोहर रूप नारी,
जीमूत[3] दूत इव मन्मथ के निहारी।
लीलातरंगित कटाक्ष कला दिखाई,
मोहै महान मुनि मेघ सहाय पाई ॥

(२४)

मेघान्धकार परिपूरित रैनि कारी,
वर्षाम्बु धार खरपात विलोकि नारी।
शृंगार सर्व सजि वल्लभप्राणप्यारी,
संभोगहेत रतिमंदिर में सिधारी ॥

(२५)

अत्यन्त तीक्ष्ण मकरध्वज[4] वाण मारी,
व्योमाम्बवाह सह घोर निशा निहारी।
नारी विलास हित प्रीतम पास जायी,
विद्युत् प्रकाश महँ अंग प्रभा दिखायी ॥

(२६)

तोयाशयोपलसितोत्तम के वनाये[5],
फेना समेत घन वारि भरे सुहाये।
देखे अनूप जिनको छवि हर्ष छावै,
वाला सहास्यमुख की सुधि वेगि आवै ॥

(२७)

पानी प्रभाव परिपूर्ण सुवेगवाही,
विस्तीर्ण तीर सरि सिंधु मिलाप चाही।

१—कृष है कटि जिनके, २—सहेली, ३—मेघ, ४—काम, ५—(तोयाशयोपलशितोत्तम के वनाये) सफेद उत्तम पत्थर के वनाये हुए जलाशय (जल के कुण्ड इत्यादि) हैं जो।

आलोक सभ्रमित ह्वै इमि कैकहीना,
कैधो नदी कि पिय पास चली प्रवीना ॥

(२८)

सवेत गोपजन गोगण सग जावै,
आछे कछार नियराय सुखी चरावै ।
कोपे पयोद जल जोर जबै गिरावै,
भीजै भजै सकन पादप छाह आवै ॥

(२९)

वापी तडाग सरि सागर बारि बोरे,
नाना विधानि तृण धानि मुखानि जोरे ।
सानन्द भेक बक मोर चकोर कीन्हे,
वर्षा न काहि मुद मोदक दान दीन्हे ॥

(३०)

सतडित नभचारी छाय आकाशकारी,
प्रिय पिय सहनारी कौन सारी सुखारी ।
रवितपननिवारी वर्षि सर्वत्र वारी,
पुनि पुनि रवकारी मेघमाला सिधारी ॥

(३१)

अगणित गुणधारी निश्चला[१] तापहारी,
दिशि विदिश बिहारी सुप्रशसाधिकारी ।
जगजनमनभाई लाल लीला दिखाई,
जलद ऋतु सुहाई हूजियो मोददाई ॥

इति द्वितीय तरग

१—पृथ्वी ।

अथ शरद्वर्णनम्

(१)

कै कै निरभ्र नभ मारग शुभ्र पाई।
नीके निशापतिमयूखछटानि छाई॥
आकाशदेवसरितेव गली बनाई।
देखो मनोहर शरद्-ऋतु आज आई॥

(२)

शुभ्राभ्रगात परिरंभित गोपनारी।
विद्युल्लतैव अति शोभित जासु सारी॥
राधा समेत मनमोहन मोदकारी।
शृंगाररास रसनायक श्री विहारी॥

(३)

अच्छाच्छ अब्ज[१] उरमाल अनूप धारी।
विम्बा रानि वर वेणु धरे सुवारी॥
लावण्य लोल ललनागण संग लाई।
सस्नेह याहि ऋतु रास रच्यो कन्हाई॥

(युग्मक)

(४)

अम्भोधर प्रवल वायु प्रसंग पाई।
गौरांग वर्ण जलभार भरी गिराई॥
स्वस्थान त्याग अति सूक्ष्म भये प्रकाशा।
शैलाधिराज[२] शिखरैव[३] चलै अकाशा॥

(५)

फेनावदातवृत[४] तीर तडाग आई।
शुक्लारविन्द दल द्वन्दनि में लुकाई॥
उन्मत्त हंस विरुतोत्तम[५] जो करै ना।
अत्यन्त सन्निकट ते परखे[६] परै ना॥

१—कमल २—हिमालय ३—शिखर+एव ४—सफेद रंग के फेना से छपा हुआ है जो (अवदात=सफेद)- ५—विरुत+ (शब्द)+उत्तम —पहिचानना।

(६)

जाती जया सुमन सुन्दर वास[१] नाते।
नाना लता ललित मध्य लें सुहाते॥
अन्यान्य पुष्प शुचि शष्प[२] समेत जो हैं।
आरामभूमि[३] सहसा मनसा[४] विमोहैं॥

(७)

शीतांशु[५] रश्मि[६] रुचिरा तनतापहारी।
बाला वियोगविरहानल ज्वालजारी॥
संतापि सर्व सहसा कृशदेह दाहैं।
प्राणोंहार अविचारि प्रचारि चाहैं॥

(८)

पीनस्तनोरु रुचिरानन दिव्य नारी।
शोभा समूह शुचि अम्बर अंगधारी॥
सम्भोगग्लानिनिजनार्थ[७] श्रमान्तकारी[८]।
ज्योत्स्ना[९] सअबुकण[१०] सेवन को सिधारी॥

(९)

शुक्लाम्बुवाह[११] कमनीय अकाश छाये।
नाभोज शुभ्र सर सुन्दरता सनाये॥
सम्पन्न शालिकुल देश दिशा विभागा।
को है करै न जग जासु मनोज[१२] जागा॥

(१०)

वेणी विदारि मृदु मालन मोरि खोई।
पाटीर[१३] खौर दृग कज्जलरेख धोई॥
बाला विलोकि जल क्रीड़त क्रुद्ध भारी।
मानों भयाकुलित कंपत ऊर्मि[१४] सारी॥

१—सुगन्ध, २—नवीन घास, ३—उपवन, ४—मन, ५—चन्द्रमा, ६—किरण, ७—नाश करने के हेतु से, ८—ज्योत्स्ना का विशेषण, ९—चन्द्रिका, १०—निे के कण (ओस) सहित, ११—शुक्ल (सफ़ेद) अम्बुवाह (मेघ), १२—मैन, १३—चन्दन, १४—तरंग।

(११)

राजीव[१] जाल जँह कंपत मीन मारे।
पानी पराग युत वर्ण सुवर्ण धारे॥
कादम्ब[२] कोक रव राग भरी सुनाई।
नारी मनुष्य सरि वश्य करै बजाई॥

(१२)

शुभ्राम्बु धार जँह शैल शिलानि लागी।
विध्याद्रि[३] आदि शिखरोन्नत भाग त्यागी॥
वर्षा पयोद रव एव करै सजोरा।
साश्चर्य मोर तँह देखहि व्योम ओरा॥

(१३)

गगन तारन[४] तारन[५] सयुत।
जलज[६] जीवन[७] जीवन[८] ते च्युत*॥
लखि सुधाकर[९] थाक रही वहि।
प्रमुद[१०] मानस[११] मा न समावहि॥

(१४)

सुविच कैरव[१२] कै रव[१३] राजही।
रुत[१४] सना रसना[१५] रस लाजही॥
सुनत सारस सारस[१६] गानही।
वधिक वान नवान[१७] न तानही॥

(१५)

विशद दामिन सुन्दरता रता।
असित[१८] वारिद वारि गता गता॥
अति मनोज्ञ[१९] तऊ कहि ना हिना[२०]।
लखि कहीं नभ कान्ति विना विना॥

१—कमल, २—हंस, ३—विन्ध्या+अद्रि=(पर्वत), ४—तारागण, ५—समूह, ६—कमल, ७—पानी, ८—मेघ,* रहित, ९—चन्द्रमा, १०—प्रसन्नता, ११—चित्त, १२—कमल, १३—शब्द करके, १४—शब्द, १५—कटिकिंकणी, १६—स (सहित) आरस (आलस्य), १७—नव (नया), आन (लाकर) १८—श्याम, १९—सुन्दर, २०—यहाँ,

(१६)

स्फुट सरोज सरोज[१] निशा गते ।
शुचि पराग परा गलि पेखते ॥
चलित मारुत मारु मनौ करे ।
स्वगुन साधुनि[२] सा ु[३] निरादरै ॥

(१७)

शुचि दिवाकरता[४] कर[५] तालकी ।
प्रसरि जात प्रभात प्रमालही ॥
जनु शरच्छवि श्री सुखमा सनी ।
अरुण बादर[६] सी दरसी तनी ॥

(१८)

स सौम्य कंकेलि प्रसूनशालिनी ।
मन्दापगा[७] शालि समूह मालिनी ॥
मृगाक[८] भा[९] भूमि लता नई नई ।
घनागमश्री विजयी शरद् भई ॥

(१९)

न क्रौंच सानन्द कहूँ उडाही ।
सशक्रधन्वा[१०] घन घोर नाही ॥
तथापि शोभामय भा अकाशा ।
बिना निजार्थै जिगि अर्जनाशा[११] ॥

(२०)

ससस्य[१२] शालीकुल पीत रंगा ।
शुकावली आकुलिताङ्ग अगा ॥
विनम्र सन्तुष्ट तऊ सुखारी ।
असाधु साधून न क्लेशकारी ॥

१—सर + ओज, २—अच्छे, ३—सज्जन, ४—सूर्य, ५—किरण, ६—वस्त्र, ७—मन्द + आपगा (नदी), ८—चन्द्रमा, ९—चन्द्रिका, १०—इन्द्रधनुषसहित, ११—अर्जन (सञ्चय) + आशा, १२—धान्यसहित ।

द्रुम प्रकाण्डानि[1] वनानि वारी[2]।
लता विराजै परिरभि[3] नारी॥
विलोलनैना स्मर[4] की सताई।
रही मनौ प्रीतम अंक लाई॥

(२२)

नीलारविन्दामित[5] युक्त ताला।
नई नई मध्य मराल माला॥
प्रसून संयोजित काश डारै।
नारीन की धीर ध्वजा उखारै॥

(२३)

मन्द वाही[6] सरिता कृशोदरी[7]।
अत्यन्त शुद्धोदक स्वच्छ ते भरी॥
प्राप्तार्थ तोयार्णव[8] प्रान्त प्रस्थली।
सानन्द कान्ता समदा मनौ चली॥

(२४)

सुपुष्प सश्लिष्ट[9] सुगन्ध सानी।
नदी तुषारोर्मिन[10] मे समानी॥
पराग फुल्लोत्पल ते गिराई।
वहै श्वसन्[11] मानस मोददाई॥

(२५)

दुकूल अम्भोज नव प्रवाला।
मरालमाला रसना[12] विशाला॥
नितम्ववत् कूल घने बनाई।
तरंगिणी[13] रंजन प्राण आई॥

१—वृक्ष का धड़, २—नई, ३—आलिंगन करके, ४—काम, ५—नील+अरविन्द+अमित, ६—मन्द मन्द बहती है जो, ७—कृश है उदर (पेट) जिसका, ८—समुद्र, ९—अच्छे अच्छे फूलो ने आलिंगन दिया है जिनको, १०—तुषार (शीतल)+ऊर्मिन (तरंगन), ११—श्वसन (पवन), १२—मेखला, १३—नदी।

(२६)

अपक[1] उर्वी[2] मनमोहनी मही ।
जल प्रवाहोज्ज्वल जो जहाँ वही ॥
सुवस्त्रधारी प्रमदा गली गली ।
इतस्तत शुक्ल पयोधरावली[3] ॥

(२७)

शनै: शनै[4] शुभ्र नदी प्रवाहा ।
सरोज संयुक्त सरावगाहा[5] ॥
समीर सञ्चालित पद्मजाला ।
महा प्रसन्नानन मीनमाला ॥

(२८)

सशोभशाली सह दिग्विभागा ।
जहाँ तहाँ सारस हंस रागा ॥
सपुष्प बन्धूक लता विताना ।
सुकैरवेन्दीवर अग नाना ॥

(२९)

निशीथिनी[6] श्रीनिशिनाथ[7] कौमुदी[8] ।
अकाशगंगा प्रभा जुदी जुदी ॥
शेफालिका मंजुल मालती कली ।
लखें न काकी पुलकावली चली !

(३०)

अयि शरद्! सुहंसा चारु चन्द्रावतंसा ।
धवल कमल वशा तेरियै दीप्त अशा ॥
कुमुदनि विकसाई वर्य सीमा वताई ।
जग रुचिर बनाई भ.वती होहु आई ॥

इति तृतीय. तरंग:

१—कीच नहीं है जिसमें, २—पृथ्वी, ३—मेघमाला, ४—मन्द मन्द, ५—सर (तालाब) + अवगाह (स्नान), ६—रात्रि, ७—चन्द्रमा, ८—चन्द्रिका ।

अथ हेमन्तवर्णनम्

(१)

विहीन पत्राम्बुज मीन दोना ।
गोधूम[1] वाल्याकुर में नवीना ॥
चन्द्रानती नारि रसप्रवीना ।
हेमन्त वे कन्त रहैं मलीना ॥

(२)

हेमन्त आवर्तहिं अम्बर सूक्ष्म त्यागी ।
ऊर्नांशुकानि[2] परिधानि[3] प्रभात जागी ॥
स्नेही समेत शिशु द्वारन शीत पागे ।
आदित्य[4] अंशु[5] सुखकारक लेन लागे ॥

(३)

निशा भये पुष्टउरोज नारी ।
सुगाढ़ि कूर्पासिक[6] अंग धारी ॥
जबै पिया पास सुपास पावै ।
हिमर्तुसन्ताप सबै नसावै ॥

(४)

सुमध्य गोधूमन के विनीत ।
विराजते सर्षप पुष्प पीत ॥
किसान तोषी निज धारि रूप ।
मनौ कृषी श्री लसती अनूप ॥

(५)

विभावरी[7] शीत हिमाम्बु पात ।
महान सौन्दर्य सनो प्रभात ॥
विलोकियो पातन माहिं कैसे ।
मनोज्ञ मुक्ता अनमोल जैसे ॥

१—गेहूं, २—ऊन + अंशुकानि = ऊन के बने हुए कपड़े, ३—धारण करके, ४—सूर्य्य, ५—किरणें, ६—कंचुकी, चोली, ७—रात्रि ।

(६)

जितै विलोको उतही सुहाई।
जुवारि[१] पाई परिपक्वताई।
मही हरेरी यव[२] जाल छाई।
भई नई सर्षप[३] रासि राई॥

(७)

न शुक्ल अम्भोधर व्योम छावै।
न मालतीमाल तियान भावै॥
न न्दुज्योत्स्ना उपयोगकारी।
न निम्नगा[४] मज्जहिं भूलि नारी॥

(८)

शीलोच्चयोच्चत्तर[५] ओर जेते।
प्रालेय[६] ते पूरित सर्व तेते॥
निशान्त[७] बालार्क[८] प्रकाश माही।
रूप्येव[९] रूपान्तर मे लखाही॥

(९)

हिमर्तु[१०] आये स्मर[११] दीप्तकारी।
जु दैव इच्छा भ्रम ते बिसारी।
विलासिनी शुभ्र विलास खोवै।
प्रसूनधन्वा[१२] असहाय होवै॥

(१०)

दृगस्फुरिच्चञ्चल चारु कारे।
लखै लजै मीन मृगा विचारे॥
दीनान्त रत्युत्सव[१३] हेत वाला।
करै शलाकाञ्जन[१४] ते विशाला।

१—ज्वार धान्यविशेष, २—जव धान्यविशेष, ३—सरसों। ४—नदी, ५—शीलोच्चय (पर्वत) + उच्च (ऊँचे) + उत्तर, ६—हिम बर्फ, ७—प्रात काल, ८—बाल-सूर्य, ९—रूप + इव, १०—हिम + ऋतु = हेमन्त, ११—काम, १२—काम, १३—रति + उत्सव, १४—शलाका (सराई) + अजन।

(११)

विहाय मारी रिम काम जारी ।
विशालनैनी नतगात[1] नारी ॥
सरूप शय्यायन को सिधाई ।
मिलै स्वप्राणेश्वर कण्ठ लाई ॥

(१२)

केशप्रभा पटल नील पयोद जाल ।
आलोल वाल तरल दृग युग विशाल ॥
पीयूष एव वच विद्रुम[2] कण्ठ माल ।
मोहैं सुरासुर समस्त हिमन्त काल ॥

(१३)

प्राणेश हस्त हृदयस्थल माहि लागी ।
मुक्ता गिरैं खसि मनोहर माल त्यागी ॥
विस्रस्त[3] हार अवलोक सलज्ज बाला ।
जावै सखी जननि मध्य न प्रातकाला ॥

(१४)

भ्रूभग हीन रदनच्छद[4] भिन्न नारी ।
वेणी विशाल तिल गाल गले निहारी ॥
सालस्य प्रात रतिसूचक चिह्न लीन्हे ।
आवै गृहांगन मुखाम्बर ओट कीन्हे ॥

(१५)

हेमन्त बात[5] परिखेदित गात रामा[6] ।
शृंगार धारि निशि आवत ही सकामा ॥
सोत्साह[7] नाह[8] कर[9] को करि पाश[10] नाईं[11] ।
राजै मनोज मद मोचि प्रभात ताईं[12] ॥

१—नम्र है गात जिसका, २—मोती, ३—टूटे हुए, ४—ओष्ठ, ५—पवन, ६—स्त्री, ७—स + उत्साह, ८—पति, ९—हाथ, १०—बन्धन, ११—सदृश, १२—तक ।

(१६)

कविजन मनभानी सर्व ऋतुसत्य दानी।
हिमऋतु हिमवानी गाय नीके बखानी॥
सुख दिवस दिखावौ कंत कान्ता मिलावौ।
सब जग अपनावौ सार सत्कार पावौ॥

इति चतुर्थः तरंगः

अथ शिशिरवर्णनम्

(१)

मारुतुषार कन मिश्रित लागि बात।
कंपायमान नर-नारि करैं प्रभात॥
संतापकारि सबकौं रवि रविन लाल।
सेवै नितांत जन शीतल शीत काल॥

(२)

निशा निशाआनन[1] प्रातकाला।
मनुष्य सोत्साह[2] जराय ज्वाला॥
तपाय सारी तन बार बारा।
शनैः शनैः शीत व्यथा बिदारा॥

(३)

धरे हसंती[3] जन पास पासा।
गरू गरू वस्त्र भरे कपासा॥
सजाय पर्यंकनि शंक त्यागे।
स अंगना[4] सोवत प्रेम पागे॥

(४)

विहाय बालाऽऽनन[5] मन्द हास।
अभाग्यशाली जन जे निरास॥
बनै विदेशी दिसि दूर जाई।
मनुष्य देही तिन व्यर्थ पाई॥

१—सायंकाल, २—स+उत्साह, ३—अँगीठी, ४—स्त्री
५—बाला+आनन।

(५)

श्वसन्मनुष्यैव प्रभात काला।
विलोकि वारी रह गासि वाला॥
कपोल कुम्भ स्तन वस्त्र टारे।
न लोक लज्जा तनिकौ विचारे॥

(६)

असीम[1] दुःखाखिल[2] वृद्ध पावैं।
सदा दिनेशोदय[3] ही मनावैं॥
भुजंग शीताकुल वीर्य हीना।
बसैं स्वगेहानि निशानि दीना॥

(७)

समस्त सांसारिक[4] काज रोकी।
मनुष्य सन्ध्या समयावलोकी॥
महान शीतानित सर्व जामा।
तुरन्त आवैं निगरे स्वधामा[5]॥

(८)

न इन्दु तारागण मध्य सोहै।
न पथ पन्थो कहुँ भूलि जोहै॥
न पद्म पद्माकर[6] में विराजा।
अपूर्व आयो ऋतु साजि साजा॥

(९)

कस्तूरिका कुंकुम चर्चि अंगा।
धारे सुउष्णांशुक[7] कम्बल[8] रंगा।
देवैं भुजालम्ब[9] पर्यो न नारी।
प्रेमाकुलानन्दित प्राणप्यारी॥

१—नहीं है सीमा जिसकी, २—दुःख + अखिल (सर्व)। ३—दिनेश + उदय, ४—संसार से सम्बन्ध रखनेवाले, ५—अपने घर, ६—तालाब, ७—उष्ण=अंशुक (वस्त्र), ८—कम्बल, ९—आलिंगन।

(१०)

सभोग श्रात[1] प्रमदा[2] प्रभाता ।
सछिन्न बिम्वाधर खिन्नगाता ॥
निशा जगी सालस[3] खेद भाई ।
लसै स्वगेहागन मध्य आई ॥

(११)

बिम्बाधरी चम्पक चारु देही ।
लीलावती मन्मथ को सनेही ॥
नितम्बिनी चन्द्रमुखी सुकेशी ।
सन्दर्शनीयोत्तम नाभिदेशी ॥

(१२)

पीनस्तनी कोकिलकण्ठ बाला ।
सम्भोगशीला तरुणी विशाला ॥
सौन्दर्य सौभाग्यवती सुशीला ।
सीमन्तिनी सस्मित लोल लीला ॥

(१३)

विलोलनैनी कमनीय वामा ।
सुमध्यभागी ललना ललामा ॥
प्रमादपूरी भृश[4] भासमाना ।
प्रदीप्त कन्दर्प कला समाना ॥

(१४)

सुवासकाला गुरु वासिताम्बरी ।
कृषोदरी प्रेमभरी उजागरी ।
विनोदिनी दाडिमदन्त भामिनी ।
सुमानिनी हास्य सुधारसाननी ॥

(१५)

शुभाननी मत्तमतंगगामिनी ।
तडिल्लता सुन्दरगात कामिनी ॥
शीतर्तु आये जन जे भुजा भरै ।
स्वजीव की ते सुकृतार्थता करै ॥

१—श्रमित, २—स्त्री, ३—स+आलस, ४—अत्यन्त ।

(१६)

होवै दयार्द्र तिय तौ अनुकूलभोगा।
कोदंड[1] क्रुद्ध भृकुटी यदि जो प्रयोगा॥
खोवै समूल सहसा सब विश्वजाला।
नाराच[2] नैन बरषा करि शीतकाला॥

(१७)

दानार्थ प्राण मृतकामृत[3] यौल[4] धार।
मोहार्थ शम्भु कृत मोहन मन्त्र सार॥
मत्तार्थ शीत ऋतु मगु सुरोपचार[5]।
बाला कटाक्ष परमौषधि सुप्रकार॥

(१८)

विरहिन दुखकारी पद्मिनी[6] पुष्प हारी।
सकल स्वगुणधारी सत्य श्रीमन्त[7] प्यारी॥
अवनिन न सतावौ रैनि नीकै बितावौ॥
शिशिर ऋतु सुहावौ शीत अल्पाल्प नावौ।

इति पञ्चम तरग

अथ वसन्तवर्णनम्

(१)

पलाश कोदण्ड[8] अखंड पाई।
रची प्रत्यंचा[9] अलि माल लाई॥
प्रसन्न पुष्पायुध हस्त धारी।
वसन्त भूपागम हर्षकारी॥

१—धनुष, २—बाण, ३—मृतक + अमृत, ४—युद्ध, ५—सुरा (मदिरा) + उपचार, ६—कमलिनी, ७—धनवान्, ८—धनुष, ९—धनुष को बांधने के लिए चर्म अथवा किसी और प्रकार की रस्सी,।

(२)

न्दीवरानार निवार न्यारे।
चम्पा चमेली कचनार मारे।
सर्वत्र मे चित्र विचित्र साजा।
दीन्ह्यो जबै दर्श वसन्त राजा ॥

(३)

आयो वसन्त सुखकारक सर्व भायो।
फूले प्रसून चहुँ ओर सुगन्ध छायो ॥
झोरैं मदान्ध अलियूथ सुवास माते।
उत्फुल्ल कंज सर मध्य न हैं समाते ॥

(४)

उन्मत्त भृंगरव दुन्दुभि दीह बाजै।
मेना प्रसून चहुँ ओर अनूप राजै ॥
कुञ्ज प्रवेशि चहुँ मारुत[1] दूत भाजै।
सौभाग्यवन्त सुवसन्त मजी समाजै ॥

(५)

शाखा पलाश शुचि श्याममयी बनाई।
सौन्दर्य सार करि पुष्पनि की ललाई ॥
सप्रेम जानि ऋतुनायक की अवाई।
दीपावली[2] मुदित मैन मनो कराई ॥

(६)

सोत्कंठितांग[3] प्रमदा सिगरी सकामा।
आयी करै जलविहार विलोल वामा ॥
गम्भीर हीर वर कुङ्कुम रङ्ग गोरी।
मोहैं दुकूल[4] अनुकूल सबै सजोरी ॥

(७)

माला मनोहर सुगन्धित पुष्प के हैं।
राजैं सुमध्य कुच मंडल में सजे हैं ॥
सानन्द धारि ऋतुराज अनेक साजा।
हाहा दुखी तिय करैं विरही समाजा ॥

१—पवन, २—दिवाली, ३—स + उत्कंठित + अंग, ४—सारी।

(८)

कुसुम्भ रगी कुच कुम्भ कंचुकी।
निहारि निर्मालित हाल ह्वै चुकी॥
नई नई आन समान सान की।
सहर्ष धारै पिय प्रेम प्रान की॥

(९)

अपूर्व शोभा अहिफेन[१] फूल।
नितान्त[२] शुक्लारुण[३] सानुकूल॥
हरै प्रवासी प्रमदान हीय।
नवीन गेंदा दल दर्शनीय॥

(१०)

प्रफुल्ल अम्भोज जलानि निर्मला।
रसालशाखास्थ कलोल कोकिला॥
सुपुष्प सकीर्ण नवीन निर्गता।
भइ महा सुन्दर माधवी लता॥

(११)

श्यामा लता ुष्प पलाश जाला।
अनन्त अम्राकुर[४] गुच्छ माला॥
आरक्त पीतांशुक[५] युक्त वामा।
न काहि आकर्ष करै सकामा॥

(१२)

जहाँ जहाँ फूल समूल लाले।
लगै परे पाश पलाश पाले॥
मनो वियोगी विधि हीय आखे[६]।
वसन्त व्याधा लटकाय राखे॥

१—अफ़ीम पोस्ता, २—अत्यन्त, ३—शुक्ल+अरुण (सफेद और लाल), ४—आम की मजरी, ५—पीले वस्त्र, ६—चूर्ण।

(१३)

मत्तातुरानन्दित[१] चचरीक[२] ।
पी पो परागाम्बुज मञ्जु नीक ॥
सूर्यास्त भे पंकजबद्ध कैसे ।
उन्मत्त कामातुर जार जैसे ॥

(१४)

मलिन्द माला मकरन्द प्यासी ।
सुगुंजरै प्रात निशा उपासी ॥
प्रवाल आलंकृति पुष्पिता में ।
लची लजी सी ललिता लता में ॥

(१५)

जूही रु जाही गुलनार नाना ।
सुवल्लरी व्योम बनी विताना ॥
गुलाब दूर्वादल मध्य भ्राजै ।
सुवाटिका स्वच्छ बनी विराजै ॥

(१६)

वरोरु[३] बाला रति रूप अंगा ।
अमूल्य माला श्रवणावतंसा ॥
सुरेन्द्र वस्त्राभरणानि शोभा ।
कहौ वसन्तर्तु न काहि क्षोभा ॥

(१७)

फूले अशोक अवलोकत शोक होवै ।
हाहा सखी कुटिल कोकिल धीर खोवै ॥
दावा दहै मनहु किंशुक साख मारी ।
भाखै वियोग व्यथिता वनिता दुखारी ॥

(१८)

आम्र प्रसून श्रवणस्थ पराग पूरे ।
बाला कपोल कमनीय बनाय धूरे ॥
लोभी मलिन्द[४] मुख छावत दुखदाई ।
जैसे ग्रसै शशिहि सन्निध[५] राहु जाई ॥

---

१ मत्त+आतुर=आनन्दित, २—भ्रमर, ३—वर+उरु (अच्छी है (उरु) जंघा जिनकी) ४—भ्रमर, ५—निकट ।

(१९)

मत्तालि यूथ मलयाचल मन्द वाता ।
पुष्प प्रयुक्त तरु कामिनि गौर गाता ॥
मोहैं न जाहि मधु माम विकाश पाये ।
मोतो पशवीश[1] अथवाद्रि[2] बने बनाये ॥

(२०)

ताम्रप्रवालवृत कुंज लतानि माही ।
कूजै द्विरेफ[3] पिक प्रेम भरे जहाँ ही ॥
योगीश्वरानि मन मानस जो भुलावैं ।
ऐसे स्थलानि कुलकानि न को बहावै ॥

(२१)

पद्म स्फुट प्रचुर सालि[4] सुचालि माला ।
वायु प्रवाह मृदु आम्र प्रसून जाला ।
साह्लाद कोकिल कलाप अलाप ताला ।
लेवैं विमोहि नर नारि प्रभात काला ॥

(२२)

पलाश पुष्पान्वित युक्त बागा ।
ज्वाला लगे से दरसैं विभागा ॥
विलोकतैं अनि अनूप एहा ।
न को वियोगी जगि होहि खेहा[5] ॥

(२३)

सुगन्धवच्छीत[6] अवेगवाता ।
महा मनोहारक सुप्रभाता ॥
पराग सवासित मन्द मन्द ।
चलै मदोन्मत्त मनौ गयन्द ॥

१—पशु + ईश, २—अथवा + अद्रि (पत्थर), ३—भ्रमर पिक और द्विरेक (भ्रमर) जहाँ कूज रहे है, ४—स + अलि (भ्रमर सहित), ५—भस्म, ६—सुगन्ध समेत शीतल और मन्द पवन, अवेग = वेग नहीं है जिसमें ।

(२४)

नव प्रवालारुण वस्त्र धारि कै।
सुपुष्प आभूषणहू सँभारि कै॥
वसन्त आये सहहर्ष सोहई।
वनस्थली आगतभर्तृका[१] भई॥

(२५)

सरारविंदाम्र[२] प्रसून लागी।
जपा[३] नभस्वान पराग पागी॥
समीर चित्त स्थिर को विदारे।
न काहि कन्दर्प कृशानु जारे॥

(२६)

नीले सरोज सहकार निवार फूला।
पीले दिवाकरमुखी[४] सुमुखी दुकूला॥
हीले हरे हिय जगज्जन[५] के विचारैं।
जी ले वसन्त जनि अन्त कबौं सिधारैं॥

(२७)

सित अरुण अपारा पुष्प संयुक्त डारा।
दिशि दिशि कचनारा देत शोभा अपारा॥
विपिन अवनि नारी चित्र वैचित्र सारी।
कुल सजल निहारी लाय मानो पसारी॥

(२८)

मधुकर मधु लेता फुल्ल फूलानि खेता।
करत निज निकेता सर्व संलग्न चेता॥
रव विनय बनाये पै वसन्तान्त आये।
मनहु मन दुखाये पन्थरोधार्थ[६] धाये॥

१—आगतपतिका, २—सर (तड़ाग), अरविन्द और आम की मञ्जरी को स्पर्श किया है जिसने, ३—गुडहल—, ४—सूर्यमुखी फूल, ५—जगत्+जन, ६—पन्थ रोकने के हेतु से।

(२९)

मनोज राजा मधु[१] गान मानी।
हारावली युत प्रमदा सयानी॥
वीणैयकण्ठी[२] कर[३] दान देई।
राजस्व दोऊ कर जोरि लेई॥

(३०)

प्रवालरगारुगता[४] नसाई।
सारीनिरीतानन[५] श्री[६] सिराई॥
दई वसन्तावनि[७] त्यागि कैसे।
द्विमास भोगी नव नारि जैसे॥

(३१)

वेगि प्रयानापन[८] जानि आछे।
दीन्ही सु जो जो वन भूमि पाछे॥
कृताति[९] सो सो मधु श्री विहीना।
तन्वगि[१०] वे प्रीतम ज्यो मलीना॥

(३२)

सुकुमुम द्रुम जाला कुन्द माला विशाला।
पिक मधुप रसाला मोहनी मूर्तिवाला॥
ऋतुपति सहकारी और जेते विहारी।
रसिकन मनहारी ह्न जियो सौख्यकारी[११]॥

इति पष्ठ तरग.

सम्पूर्णम्।

१—वसन्त, २—वीणा के सदृश है कण्ठ जिनका (स्त्रियो का), ३—वर्षी वढी, वह द्रव्य जो नियत समय पर प्रतिवर्ष राजा को दी जाती है, ४—प्रवाल (=नवीन कोमल पत्ते+रग) अरुगता (ललाई), ५—निरीत (भ्रमर)+ आनन, ६—शोभा, ७—वसन्त+अवनि (भूमि), ८—प्रयान (गमन)+आपन (निज), ९—कृत+अति, १०—तनु+अगि (कृप है अग जिसका), ११—सुखदायक।

ऋतुतरङ्गिणी के उपयुक्त वृत्तो का विवरण

गण			छन्द	
नाम	चिह्न	रूप	नाम	लक्षण
मगण	म	SSS	वसन्ततिलका	त भ ज ज ग ग
यगण	य	ISS	मालिनी	न न म य य
तगण	त	SSI	द्रुतविलम्बित	न भ भ र
रगण	र	SIS	इन्द्रवज्रा	त त ज ग ग
जगण	ज	ISI	उपेन्द्रवज्रा	ज त ज ग ग

गण आठ ही है परन्तु लघु और गुरु का भी उपयोग होने से वे भी लिख दिये गये है।

इसमें दो प्रकार के उपजादि नामक छन्द है। उनमे से एक तो इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के और दूसरा वशस्थ और इन्द्रवशस्थ के मेल से होता है। अर्थात् चार चरणो में कोई चरण एक के और कोई दूसरे के होते है।

श्रीगंगालहरी

प्रस्तावना

१—इसका पता ठीक ठीक नही चलता कि इस काव्य के कर्ता पडित जगन्नथराय कहाँ के निवासी थे। किसी का तो कथन है कि ये महाराष्ट्र ब्राह्मण थे और महाराष्ट्र ही देश से दिल्ली में आये थे, और कोई-कोई यह कहते है कि इनका घर तैलग देश में था क्योकि इनके काव्य में उस प्रान्त के नगरो के नाम पाये जाते है। इनका जीवन-चरित देखने में नही आया इससे इनकी जन्मभूमि इत्यादि का विवरण करना कठिन हो गया है।

२—शाहजहाँ वादशाह की सभा में इस महान् पडित ने वडा मान पाया था, यहाँ तक कि जितने पडित और कवि वहाँ थे उन सबमे ये श्रेष्ठ गिने जाते थे और इनको "पडितवर" और "कविराज" की पदवी मिली थी। लोगो का कथन है कि इनकी चातुर्य्यता और म रसभरे काव्य से प्रसन्न होकर वादशाह ने कविराज के इच्छानुकूल राजकुल की एक परम रमणीय कन्या का इनसे पाणिग्रहण कराया था। इस प्रकार धर्मच्युत होने से इन्हे वृद्धावस्था मे वडा पश्चात्ताप हुआ और जव किसी ब्राह्मण ने इन्हे अपनी पक्ति मे लेना अगीकार न किया और किमी प्रकार इनके अपकृत्य का प्रायश्चित्त न हो सका तव निराश होकर भागीरथी के तट पर जाय इन्होने गंगास्तवन करना आरम्भ किया। वाराणसी में जो ५२ सीढी का घाट आज तक विद्यमान है उसी पर जगन्नाथराय जी के मुख से यह लहरी उद्गत हुई थी ऐसा लोगो का कथन है। सुनते है कि इस गगाहलरी के प्रति-श्लोक पर गगा जी एक सीढी वढती आई और अन्त में ग्रहण करके इन्हे मुक्त किया। इस आख्यायिका की सत्यता का विचार मै पाठको के स्वाधीन करता हूँ।

३— स गगास्तवन का नाम जगन्नाथराय जी ने अपने दूसरे ग्रन्थो में पीयूषलहरी लिखा है परन्तु अव सर्वसाधारण इसे "गगालहरी" के नाम से उल्लेख करते है, इस हेतु मैने इसी नाम का प्रयोग किया है। पडित जगन्नाथराय काव्य के सर्वांगो में परम निपुण थे यह इनके किये हुए "रसगगाधर", "अश्वघाटी", "भामिनीविलास" इत्यादिक ग्रन्थो के अवलोकन करने से विदित होता है। शिखरिणी और अश्वघाटी छन्द इन्होने ऐसे अनुप्रास-युक्त कहे है कि जहाँ तक मैने देखा है ऐसे दूसरे और सस्कृतकवि के नही पाये जाते। इनका अश्वघाटी काव्य तो अनुप्रासालकार मे अद्वितीय ही है।

४—अर्थगौरव के कारण महिम्नस्तुति तो सब स्तुतियो में श्रेष्ठ गिनी ही जाती है परन्तु गगालहरी भी एक परमोत्तम स्तुति है और महिम्न के समान नही तो कुछ ही कम कहना चाहिए—'इसमें कही कही अत्यन्त ही करुणारसपूरित स्तवन कवि ने किया है। इसके मनोहर छन्द विद्वानो के मुंह से वरावर निकला करते है। वास्तव मे है भी ऐसे कि पढने से मनुष्य के हृदय मे अक-सा हो जाता है और आँखें साश्रु हो जाती है। इसमें आदि के ४८ शिखरिणी और अन्तिम आठ क्रम से पृथ्वी, शार्दूल विक्रीडित, स्रग्धरा और उपजाति छन्द है।

५—भाषा के कवियो ने अपने अपने गगास्तवन में विशेषत सवैये और दंडक ही का प्रयोग किया है। शिखरिणी का अर्थ छोटे छन्द मे आ भी नही सकता इसी लिए मैंने भी ५० श्लोको तक का भाषान्तर सवैये में कर अन्तिम २ का क्रम से दडक और वसन्ततिलका में किया है। भावार्थ भी प्रत्येक का भाषा छन्द के साथ लिख दिया है जिसमे कवि का अभिप्राय जानने में कठिनाई न पडे। आशा है कि भाषारसिक त्रुटियो पर ध्यान न देकर पुस्तकावलोकन से मुझे कृत-कृत्य करेगे।

झाँसी,
१ जुलाई, १८९१ ई

महावीरप्रसाद द्विवेदी

श्रीगंगालहरी

हे गंगे! जो, समस्त पृथ्वी का उत्तम सौभाग्य, जो, निज लीला से त्रिलो-त्पत्ति करनेवाले शंकर का महान् ऐश्वर्य, जो श्रुतियों अर्थात् वेदों का सर्वस्व और जो देवताओं का पुण्यस्वरूप, ऐसा यह तेरा अमृत के तुल्य स्वच्छ सलिल (जल) हमारे पापों को नाश करे।

दरिद्राणां दैन्यं दुरितमथ दुर्वासनहृदाम्
द्रुत दूरीकुर्वन्सकृदपि गतो दृष्टिसरणिम्।
अपिद्रागाविद्याद्रुमदलनदीक्षागुरुरिह
प्रवाहस्ते वारां श्रियमयमपारां दिशतु नः ॥२॥

जो इक बार अचानकहू कहुँ आवत जात मे दीठहि भैवै।
पापिन पाप दरिद्रिन केरि दरिद्रता बेगि सबै हरि लेवै ॥
मोहमयीद्रुम तोरन को गुरु मन्त्र समान है जो नर सेवै।
सो तव धार प्रवाह हे गंग! अपार हमें सुख सम्पति देवै ॥

जो, एक बार भी दृष्टिगोचर होने से दरिद्रियो की दरिद्रता और पापियों के पाप तत्काल नाश करता है और जो, अविद्यारूपी वृक्ष के शीघ्र ही उखाडने को गुरु के सदृश उपदेश देता है सो यह ऐसा तेरा जल प्रवाह हमें अतुलित ऐश्वर्य देवे।

उदचन्मार्तंडस्फुटकपटहेरम्बजननी
कटाक्षव्याक्षेपक्षणजनितसक्षोभनिवहाः ।
भवन्तु त्वंगन्तो हरशिरसि गंगातनुभुवः
तरंगाः प्रोत्तुंगा दुरितभयभंगाय भवताम् ॥३॥

जो गिरिजाकृत कोपकटाक्ष प्रभात के बाल पतंग समाना ।
देखत ही अति क्षोभ बढ़ावत मत्सर ठानि बडेक प्रमाना ॥
नाचति ईश के शीश में जो तिहि के भय मानि मनौ हतज्ञाना ।
सो तव तुंग तरंग हे गंग ! सुभंग करै मम पातक नाना ॥

तुम्हे शंकर के मस्तक पै विराजमान देख मत्सरभाव से पार्वती (हेरम्बजननी) को प्रातःकाल के नूतनोदित सूर्यसमान लाल नेत्र किये हुए अवलोकन करने से ही मानो भयभीत हो जो महेश्वर के शिरोभाग में कंपायमान होनेवाले तेरे विशाल तरंग: सो, हे गंग ! हमारे सांसारिक भयों को भंग करें ।

तवालम्बादम्ब स्फुरदलघुगर्वेण सहसा
मया सर्वेऽवज्ञासरणिमथ नीताः सुरगणाः ।
इदानीमौदास्यं भजसि यदि भागीरथि तदा
निराधारो हा रोदिमि कथय केषामिह पुरः ॥४॥

मन ठानि भरोस तिहारो ही मातु बडो करि गर्व हियो न सकाई ।
सहसा इक बारहि हेलना मारग मे सब देवन दीन दिखाई ॥
यहि औसर जो भला भागीरथी करि चित्त उदास रहै अनखाई ।
कहु तौ तुही हाहा निराश्रय मै जग मे किहि सन्मुख रोवहुँ जाई ॥

हे माता ! केवल तेरा ही अवलम्बन करके मैंने बिना ही विचार बडे अहंकार से सर्व देवताओं की अवज्ञा (अवहेलना) की; इससे, हे भागीरथी ! अब जो इस समय तू उदासीनता को धारण करेगी तो तू ही कह कि मैं हा हा खाते हुए इस लोक में और किसके सम्मुख जाकर रुदन करूँ ।

स्मृतिं याता पुंसामकृतसुकृतानामपि च या
हरत्यन्तस्तन्द्रां तिमिरमिव चन्द्रांशुसरणिः ।
इयं सा ते मूर्तिः सकलसुरसंसेव्यसलिला
ममान्तःसन्तापं त्रिविधमपि पापं च हरताम् ॥५॥

सपने जिन पुण्य क्रिया न करी तिन ध्यान मे जो इक वारहु आई ।
हम ज्यो विनसाय मयक ते त्यो मन मोह कलक को अक विलाई ।।
तव मूरति सो यह जाके प्रवाहहि सेवत देव हिये हर्पाई ।
त्रिविधात्मक ताप औ पाप समस्त ममान्तस मध्य ते देहि बहाई ।।

जिन मनुष्यो ने सुकृत (पुण्य) कभी किया ही नही उनके भी स्मरण में आने से जो उनके समस्त अज्ञान को, जैसे चन्द्रमा अन्धकार को नाश करता है, तैसे छेदन करती है सो ऐसी यह तेरी मूर्ति जिसके सलिल को देव सदैव पूजते हैं, मेरे अन्त करण के त्रिविध सन्ताप और पाप का नाश करै ।

अपिप्राज्य राज्य तृणमिव परित्यज्य सहसा
विलोलद्वा नीर तव जननि तीर श्रितवताम् ।
सुधात स्वादीयस्सलिलभरमातृप्तिपिवताम्
जनानामानद परिहसति निर्वाणपदवीम् ।। ६ ।।

तृण तद्वत त्यागि महोपति राज अखड वसुन्धरा मण्डल केरो ।
तव नीर के तीर सप्रेम बसै वहै नीर जहाँ सब ओरनि घेरो ।।
मन तृप्ति भये लौ करै जलपान पियूप समान सुरापगा तेरो ।
तिहि आनन्द ते मिलै हे जननी निरबान सुखै उपहास घनेरो ।।

हे माता ! वडे वडे भूमडल के अखण्ड राज्य संपादन करनेवाले राजा अपने राज्य-वैभव को तृण समान त्याग करके तेरे तीर मे, जहाँ वेतस वृक्ष पवन के वेग से हिलते है वास करते है और जब तक मन की तृप्ति नही होती तब तक तेरे सुधा मे भी विशेष स्वादिष्ट जल का पान करते है, इससे उन्हें जो आनन्द प्राप्त होता है वह निर्वाण सुख (मोक्ष) को भी उपहासास्पद करता है अर्थात् मोक्ष को तुच्छ समझता है ।

प्रभाते स्नातीना नृपतिरमणीना कुचतटी
गतो यावन्म र्तामिलति तव तोयैर्मृगमद ।
मृगास्तावद्वैमानिकशतसहस्रै परिवृता
विशति स्वच्छन्द विमलवपुषो नदनवनम् ।। ७ ।।

उठि प्रात नहान को तरे तिया नरनाह की साथ उछाह सिधारी ।
तिनके कुच की जबलौं कसतूरिका जाय मिलै तव तोय में सारी ।।

तबलौ मृग जाकी हती वह वे सुर मग अनेक लये नभचारी।
विन रोक बनें धरि सुन्दर रूप पुरन्दरवाटिका मध्य विहारी ॥

हे माता! प्रभातसमय राजस्त्री तेरे जल में जब स्नान करती है तब उनके कुचप्रदेश में लगा हुआ मृगमद (कस्तूरी) ज्यो ही तेरे जल मे मिलता है त्यो ही वे मृग जिनका यह मद था तत्काल सहस्रो देवताओ सयुक्त विमान में बैठे सुन्दर शरीर धारण कर स्वच्छन्द इन्द्र के नन्दनवन मे विहार करने लगते है।

स्मृत सद्य स्वात विरचयति शान्त सकृदपि
प्रगोत यत्पाप झटिति भवताप च हरति।
इद तद्गगेति श्रवगरमगीन खलु पद
मम प्राणप्रान्तर्वदनकमलान्ते विलसतु ॥ ८ ॥

मन ते सुमिरे जिहि एकहि बार मिलै सुविचार सुबुद्धि की खानी।
जिहि जाप करै भवताप औ पाप की नेकु रहै नहि एकु कहानी ॥
यह सो मनभावनो शब्द अनूपम "गगा" कहै जिहि विश्व की बानी।
प्रिय प्रानन प्रान्त नितान्त समै मम आनन मै विलसै महरानी ॥

जिनके एक बार भी स्मरण करने से शीघ्र ही अन्त करण मे शान्तता प्राप्त होती है और जिसके गान करने से समस्त पाप और सासारिक (कायिक, मानसिक, वाचिक) दुःख नाश हो जाते है सो यह श्रवगसुहावना गगा शब्द प्राणान्त समय मेरे मुख मे विलास करै।

यदन्त खेलन्तो बहुलतरसन्तोषभरिता।
न काका नाकाधीश्वरनगरसाकाक्षमनस।
निवासाल्लोकाना जनिमरणशोकापहरणम्।
तदेतत्ते तीर श्रमशमनयोर भवतु न ॥९॥

जिन पै पद धारि निहारि जलै बनि काक महासुख भाक अपारा।
मघवापुर पावन पादन को मन मे नहि आवन देत विचारा ॥
नर वास थली करिकै जिनपै मरणान्तक जन्म को शोक निवारा।
सुई तीर तिहारे हमारे अधीर की पीर पछारि करै श्रमछारा ॥

जिनके ऊपर गमन मात्र करने से काक भी विपुल सन्तोष को प्राप्त हो कर अमरावती मे जाने की तनिक भी नही आकाक्षा करते और जिन पै

बरनै निगि जेहि पुरान सन्तु निरास भ अन्त न पावत माई।
कुंठ भई गिरि मंजु ज्ञानिन की जिहि में मन वानी गति न समाई ॥
नित है निराकार अपार प्रकास जो जो निज शक्ति ते ज्योति जगाई।
शुद्ध शुद्ध सदानन्दरूप तू गंग न इन्द्रियगोचर सो सबै माई ॥

हे सुरतटिनि गंगे! जिसका प्रत्यक्ष वेदान्तित वेद भी वर्णन करने में अन्त नहीं पाता, जिसकी महिमा के जानने में महात्मा जनों की भी वाणी कुंठित है, जो नित्य और निराकार है, जिसने अपनी शक्ति से मायामय अन्धकार का नाश कर दिया है ऐसा जो विशुद्ध तत्त्व है सो तू ही है; तू इन्द्रियगोचर नहीं।

महादानैर्ध्यानैर्बहुविधिवितानैरपि च यत्
न लभ्यं घोरैभिः सुविमलतपोराशिभिरपि।
अचिन्त्यं तद्विष्णोः पदमखिलसाधारणतया
ददाना केनासि त्वमिह तुलनीया कथय नः ॥११॥

न मिलै महादान औ ध्यान अनेकन यज्ञ विधान करै बहुवाता।
जग पावत जाहि न कै तप घोरहु जोर चलै न पचै नरगाता ॥
सुई देहि अचित्य तू विष्णु को लोक लखै लघु, मध्यम, उच्च न नाता।
यहु ताते तिहारो बराबरी मैं किहि ते करी विश्व उजागरी माता ॥

जो, महादान, ध्यान और विविध प्रकार के मख यज्ञादि तथा घोर तपश्चर्या करने से भी नहीं प्राप्त होता, वही विष्णुलोक तू सब प्राणी मात्रों को न्यूनाधिक भाव न रख कर देती है, इससे तू ही कह कि हम इस लोक में तेरी और कौन देवता से तुलना करें।

नृणामीक्षामात्रादपि परिहरन्त्या भवभयं
शिवायास्ते मूर्तेः क इह महिमानं निगदतु।

अमर्पम्लानाया परममनुरोध गिरिभुवो
विहाय श्रीकठ शिरसि नियतं धारयति याम् ॥१२॥

अवलोकत जाहि किहू विधि लोक में लोगनि शोक समूल नसाही।
भवभीति समस्त जो अस्त करै प्रिय है जिहि नीति की रीति सदाही।
गिरिजा जउ कोपित होति तऊ गिरजापति जाहि उतारत नाही।
तिहि मंगलमूरति की महिमा वरणै असि शक्ति अहै किहि माही॥

जिसके दर्शनमात्र से मनुष्यो के समस्त भवसागरजनित भय नाश पाते है और पार्वती जी के निरन्तर क्रोधायमान होने से भी जिसे शकर अपने शीश से नही उतारते है ऐसी इस तेरी जल-प्रवाहरूपी मूर्ति की महिमा वर्णन करने की किसमें सामर्थ्य है।

विनिद्यान्युन्मत्तैरपि च परिहार्याणि पतितै-
रवाच्यानि व्रात्यै सकुलकमपास्यानि पिशुनै।
हरन्ती लोकानामनवरतमेनासि कियतां।
कदाप्यश्रान्ता त्व जगति पुनरेका विजयसे ॥१३॥

जिन पाप प्रमत्तनि त्यागि दयो जिनको उनमत्तहुँ निद्य बतावत।
जिनते रहै धर्मविहीनहूँ रुष्ट सु जे नर दुष्टनहू को न भावत॥
तिनहूँ कृत पातक भार महान् नसावति मातु कछार मँझावत।
श्रम लेश न होत इते कहु पै यश देशनि में अधिकाधिक छावत॥

जिनको उन्मत्त निन्द्य कहते है, जिनको पापी परित्याग योग्य बताते हैं, जिनका व्रात्य अर्थात् सस्कारहीन नाम तक नही लेते और जिन्हे दुष्ट भी निकट नही आने देते ऐसे ऐसे अनेक पातकी मनुष्यो के पातक, निरन्तर तू अकेले नाश करती है इतना करने भी तुझे तनिक भी श्रम नही होता किन्तु इस जगतीतल में तू अधिकाधिक जय पाती है।

स्खलन्ती स्वर्लोकादवनितलशोकापहृतये
जटाजूटग्रन्थौ यदसि विनिबद्धा पुरभिदा।
अये निर्लोभानामपि मनसि लोभ जनयताम्
गुणानामेवाय तव जननि दोष परिणत॥१४॥

जगतीजन शोकनिवारण को सुरलोक ते र गिरी जब तेरी।
त्रिपुरारि पसारि जटा तिनमें तिहि धारि धरी न करी कछु देरी॥

यहि दोष को मूल है मातु तिहारे ही भूल गुरू गुण गौरव केरी।
सनतागत जे, निरलोभिनहू ममता मन लोभ की देत घनेरी।।

हे माता! पृथ्वीतल के निवासी मनुष्यों के शोकहरणार्थ तू जब स्वर्गलोक से चली तब महादेव जी ने बीच ही में तुझे अपने जटा-मंडल मे रोक लिया। यह तेरे त्रैलोक्यव्यापक गुणो ही का दोष है। यदि तेरे गुण शभुसदृश निर्लोभी के चित्त में लोभ न उत्पन्न करते तो ऐसी घटना ही क्यों होती।

जडानंधान्पङ्गून्प्रकृतिबधिरानुक्तिविकलान्
ग्रहग्रस्तानस्ताखिलदुरितनिस्तारसरणीम्।
निलिम्पैर्निर्मुक्तानपि च निरयान्तर्निपतितो
नरानम्ब त्रातुं त्वमिह परमं भेषजमसि ।।१५।।

श्रुति इन्द्रिय लोचनहीन महाजड मूकमलीन औ जे पगभगा।
अनिवारक पाप हजारक वार करे जिन जे ग्रहपीड़ित अंगा।।
जिनको नहि जोवत देव सुने जिन रोवत रौ व सोचि प्रसंगा।
तिन तारन कों तू सजीवनिमूरि सी पूरि रही जननी जग गंगा।।

हे अम्ब! हे माता! इस ससार मे, महानति मन्दो को, पंगुओ को, बहिरों को, मूको को, ग्रहपीडितो को, जिनके पातको का निवारण शास्त्र में भी नहीं कहा उनको, देवताओ के परित्याग किये हुओं को और भी नरकपतनोन्मुखो को, रक्षणार्थ केवल एक तू ही महौषध है।

स्वभावस्वच्छानां सहजशिशिराणामयमपा
मपारस्तेमातर्जयति महिमा कोपि जगति।
मुदायं गायन्ति द्युतलमनवद्यद्युतिभृत
समासाद्याद्यापिस्फुटपुलकसान्द्रा सगरजा ।।१६।।

अतिनिर्मल है जो स्वभावहि ते धरती तल शीतल जो सहजौंही।
धरि धूरि ते दिव्य शरीर महापुलकावलिपूरि प्रसन्न हमौंही।।
गुणगावत सानुजवर्ग सबै सगरात्मज स्वर्ग में जासु अजौंही।
तिहि तोय की तीरे अपार किती महिमा ज्गती लगती जननौंही।।

हे माता! जो स्वभाव ही से स्वच्छ और सहज ही शीतल है और जिसके गुणानुवाद सगर राजा के पुत्र दिव्यदेह धारण कर अब तक स्वर्ग में परम

पुलकित तनु हो सानन्द गाते है, ऐसे इस तेरे उदक (जल) की कोई कोई अपार महिमा ससार में जगमगाती है।

कृतक्षुद्रैनस्कानथ झटित सन्तप्तमनस
समुद्धर्तु सन्ति त्रिभुवनतले तीर्थनिवहा ॥
अपि प्रायश्चित्तप्रसरणपथातीतचरितान्
नरान् दूरीकर्तु त्वमिव जननि त्व विजयसे ॥१७॥

कै लघु पाप तुरन्त जे त्यागत जागत मानस मे पछिताई।
तारन को तिन आज त्रिलोक मे आहि हजारन तीरथराई॥
हे जननी पै करै नित जे उठि पातक घोर कठोर अघाई।
तापनिवारन को तिनको जग तेरो समान तुही सुनि पाई॥

हे माता! जिन्होंने छोटे छोटे पाप करके पश्चात्ताप पाया उनके उद्धार करने को त्रिभुवन में अनेक तीर्थ है परन्तु जिनका प्रायश्चित्त भी नही होता ऐसे अघोर पातक करनेवालो को भवसागर के पार ले जाने को तेरी समान एक तू ही जाग्रत है।

निधान धर्माणा किमपि च विधान नवमुदा
प्रधानं तीर्थानाममलपरिधान त्रिजगत ।
समाधानं बुद्धेरथ खलु तिरोधानमधियो
श्रियामाधान न परिहरतु ता तव वपु ॥१८॥

अमलीन नवीन प्रमोद निधान विधान है धर्म को कर्म सुधारै।
परिधान त्रिलोक को जो जग जा कहँ तीरथमध्य प्रधान पुकारै॥
मतिमदनि को तिरोधान सदा बुधि को समाधान सु जो मनधारै।
धनवान महान तिहारो स्वरूप सो ताप हमारि हँकारि उतारै॥

जो सर्व धर्मो का निधान (आश्रय), जो परम प्रसन्नता का विधान (कारण), जो तीर्थो मे प्रधान, जो त्रिलोक का परिधान (वस्त्र आभूषण), जो बुद्धि का समाधान, जो मतिमन्द मनुष्यो का तिरोधान (आच्छादक), और जो लक्ष्मी का आधान (सम्पादक), ऐसा जो यह तेरा स्वरूप सो हे मातु हमारे तन की ताप का हरण करै।

पुरो धाव धाव द्रवणि मदिरा घूर्णित दृशा
महीपाना नानातरुणतरखेदस्य नियतम् ।

[illegible] जडधिया।
[illegible] क्षणमपि ॥ १९ ॥

[illegible] मदिरा [illegible] गुपाला।
उठि [illegible] नाचि [illegible] ॥
[illegible] मतिहीन मैं [illegible] नाहि न [illegible] काला।
[illegible] अपराध [illegible] मातु क्षणार्ध [illegible] हाहु दयाला ॥

तेरा अवलम्बन न करने के कारण मेरे देहाभिमानी जड बुद्धिरूपी स्वहित शत्रु ने इन्द्रियरूपी मदिरा के मद से जिन महीपालों के नेत्र आरक्त वर्ण हो गये हैं उनके द्वार [illegible] जाय जाय बडा खेद पाया। यह सब मेरा ही अपराध है इसमें हे माता! इस अवसर पर यदि बहुत नहीं तो क्षणमात्र ही मेरे ऊपर करुणा कर।

मरुल्लीलालोलल्लहरिलुलिताम्भोजपटली
स्खलत्पांसुव्रातच्छुरणविसरत्कौंकुमरुचि ॥
सुरस्त्रीवक्षोजक्षरदगरुजम्बालजटिलं
जलं ते जम्बालं मम जननजालं जरयतु ॥ २० ॥

वहु वायु ते बीचि उतंग उठे सब रंग के लाल मृणाल हलाए।
मकरंद खिले अरविंदनि के गिरि कुंकुम की सम जो छविछाए ॥
सुर सुन्दरी पीन पयोधर लीन मृगांकित चन्दन पंक वहाए।
स सिवार तवोदक सो मम दूसरा जन्मनिवार करे मसलाए ॥

पवनोद्गत तरंगा के हिलाये कमलजाल में गिरे मकरन्द के मिश्रण से कुंकुम के समान शोभायमान और देवांगनाओं के पयोधर भाग चर्चित कालागरु चन्दन के पंक में मिश्रित यह तेरा शैवालसंयुक्त उदक मेरे पुनर्जन्मों का नाश करे।

समुत्पत्तिः पद्मारमणपदपद्मामलनखा-
न्निवासः कन्दर्पप्रतिभटजटाजूटभवने।
अथायं व्यासङ्गो हतपतितनिस्तारणविधौ
न कस्मादुत्कर्षस्तव जननि जागर्तु जगति ॥ २१ ॥

प्रगटी कमलापति के कमलामल पाद ते लोकविपादविदारन।
पुनि मार सँहारनहार के शीश वसी वनि सुन्दरता कर कारन ॥

हे माता! [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] जब [illegible] तू [illegible] में आसन हूँ तब [illegible] [illegible] [illegible] समाधिस्थ हो योग साधन करें, नारायण क्षीरसागर में [illegible] [illegible] शेषशय्या पर निद्रा में निमग्न होवें, [illegible] सर्वकाल [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रायश्चित्त-विधान, तप-दान, देवार्चनादिक साधन उठ जावें, अर्थात् उन सबके कार्य तू अकेली कर सकती है।

अनाथ स्नेहार्द्रां विगलितगति पुण्यगतिदां
पतन् विश्वोद्धर्त्रीं गदविगलित सिद्धभिषजम्।
सुधासिन्धुं तृष्णाकुलितहृदयोमातरमत्र
शिशु सम्प्राप्तस्त्वा महमिह विदध्या समुचितम्॥२४॥

बिगरी गति मोरि तू देहि भली गति मैं तो अनाथ तू नेह भरी है।
जगतारन तू अघभारनि मैं भरो हो तो सरोग तू रोग हरी है॥
उदकारत मैं तू सुधाम्बुधि है शिशु मैं तोहि मातु कहै नगरी है।
लखि सन्मुख मोहि यथोचित आजु करो तनी विनती हमरी है॥

मैं अनाथ, तू परम दयालु, मैं विगलितगति, तू उत्तमगति देनेवाली; मैं पतित, तू विश्वोद्धारतत्पर, मैं रोगग्रस्त तू भिषग्वर; मैं तृषाकुल, तू सुधासिंधु; मैं शिशु, तू माता, ऐसे सम्बन्ध विचार मैं तेरे सम्मुख आज प्राप्त हुआ हूँ। अब जो तुझे उचित जान पड़े सो कर।

विलीनो वै वैवस्वतनगरकोलाहलभरो
गतादूतादूर क्वचिदपि परेतान्मृगयितुम्।
विमानाना व्रातो विदलयति वीथीर्दिविषदा
कथा ते कल्याणी यदवधि महीमण्डलमगात्॥२५॥

अकथा-कथा पावन जा दिन ते तव मध्य मे मध्यमलोक के आई।
यम ग्राम में ताही दिना ते कुलाहल एकहु याम परै न सुनाई॥
मृत खोजनि दूरि इकान्त के देशनि दूतनि दीन कृतान्त पठाई।
नभ पथ दलै तरि प्राणनि को इतनी चलै पंक्ति विमान उड़ाई॥

जिस दिवस से तेरी यह कल्याणकारिणी कथा इस भूमण्डल में फैली उसी दिवस से यमलोक मे पापियो के कुलाहल बन्द हो गये। उन देशो को जहाँ तेरी कीर्ति कर्णगोचर नही होती यमराज के दूत मृतकान्वेषणार्थ

जिसके शीघ्र ही उद्धार करने से सर्व ससार विस्मित हो जावे ऐसा महापापी आज पर्यन्त हमे एक भी न मिला। इस प्रकार की जो आकाक्षा चिरकाल से तेरे चित्त मे वसी हुई है उसे हे माता ! आज हमे तू तार सुफल कर॥

श्ववृत्तिव्यासङ्गो नियतमथ मिथ्याप्रलपन
कुतर्केष्वभ्यास मततपरपैशुन्यमननम् ।
अपि श्राव श्राव मम तु पुनरेव गुणगणान्
ऋतेत्वत्को नाम क्षणमपि निरीक्षेत वदनम् ॥ ३१ ॥

भ्रमिवो उठि श्वान समान सप्रेम असत्यहि भाषण नेन निवेरो।
लखिवो परदोष सदा सुख सो करिवो हियमाँहि कुतर्क वसेरो॥
मुनिकै असि दुर्गुण मोरि करोरि अहै इतनो किहि केर उजेरो।
अव आजु दिना इक तेरे विना पलहू भर जो मुख देखहि मेरो॥

श्वानवृत्यनुकरण, असत्यभाषण, कुतर्काभ्यास, परदोषनिरीक्षणादिक मेरे अगणित अवगुणो को श्रवण कर तेरे अतिरिक्त इस ससार में दूसरा ऐसा कौन है जो मेरा मुख एक क्षण भर भी देखे।

विशालाभ्यामाभ्या किमिहनयनाभ्या खलु फलं
नयाभ्यामालीढा परमरमणीया तव तनु ।
अय हि न्यक्कारो जननि मनुजस्य श्रवणयो-
र्ययोर्नान्तर्यातिस्तव लहरिलीलाकलकल ॥ ३२ ॥

सव भाँति अकारथ ते अनमोल अपूरव लोचन लोल विशाला।
जिन ना अवलोकन कीन कवौं जननी तव सुन्दर रूप रसाला॥
धिक् वार हजार है कानन को जिन ना तजि के सिगरे जग जाला।
तव तुग तरगनि के सुनि कोरनि मानि हिए धनि भे न निहाला॥

हे जननी ! इस लोक मे मनुष्यो के जिन नयनो ने तेरी परमरमणीय मूर्ति का दर्शन नही किया वे निष्फल है और उनका विशालत्व वृथा है और इसी प्रकार जिन श्रवणो ने तेरे तरगों के कुलाहल को नही सुना उनको धिक्कार है, श्रवण शब्द उनको कदापि शोभास्पद नही है।

विमानै स्वच्छन्द सुरपुरमयन्ते सुकृतिन
पतन्ति द्राकपापा जननि नरकान्त परवशा ।

विभागोय तस्मिन्नशुभमयमूर्तां जनपदे
नयत्रत्वल्लीला दलितमनुजो· शेपकरुपा ॥ ३३ ॥

सुरलोक सिधारत शोकविहीन सुखी सुकृती जन त्रैठि विमाना ।
नरकान्त गिराय कृतात के दूत दुखावत पापिन के प्रिय प्राणा ॥
यह भेद है केवल ही तिन देशनि कोटि कलेश कसे विविनाना ।
न जहाँ अपशूल समूलविनाशक तेरे विचित्रचरित्र विधाना ॥

हे जननी ! सुकृती जन (पुण्यवान्) विमानस्थ हो स्वच्छन्द सुरलोक को जावें और पापी परवश नर्क-यातना भोगें, इस प्रकार का न्याय केवल उन्हीं अशुभ देशो में है जहाँ मनुष्यो के समस्त पातक नाश करनेवाली तेरी लीला नही ! (अर्थात् जहाँ तू है वहाँ प्राणीमात्र स्वर्ग ही को जाते है) ।

अविघ्नतो विप्रानविरतमुगतोगुरुमती
पिवन्तोमैरेय पुनरपि हरन्तश्च कनकम् ।
विहाय त्वय्यन्ते तनुमतनुदानाध्वरजुषा
मुपर्यंबक्रीडत्य खिलसुरसभावितपदा ॥३४॥

जे विनु शक बधै बहु विप्रनि जे गुरुनारि पर्यंक विहारी ।
पान करै मदिरा मदनीय जे हेम हरै नित नेम निकारी ॥
अत तवोदक में तनु त्यागत तेऊ तुरन्त विशाद विसारी ।
स्वर्ग मे भोगत भोग महा सुरवर्ग बनाय स्वपाद पुजारी ॥

हे अम्ब (माता) ! जो, विप्रघात, गुरु-स्त्रीसेज-शयन, मदिरापान और कनक चौर कर्मादिक अघोर पातक करते है वे भी यदि अन्त समय तेरे प्रवाह में देह त्यागते हैं तो देवताओ के पूज्यपाद हो श्रेष्ठ यज्ञकारो को जो भोग कठिनता से सुलभ होते है उन भोगो का उपभोग लेते हुए स्वर्गसुख से क्रीडा करते हैं ।

अलभ्यं सौरभ्य हरति सतत य सुमनसा
क्षणादेव प्राणानपि विरहशस्त्रक्षतहृदाम् ।
त्वदीयाना लीलाचलितलहरीणा व्यतिकरात्
पुनीते सोपिद्रागहह पवमानस्त्रिभुवनम् ॥३५॥

उठि भोर अलभ्य प्रसूनन की शुचि सौरभ चोरत जो मनलाई ।
विरहक्षतव्याकुल प्राणिन को क्षण माहि निपातत जो न सकाई ॥

तव नीर की वीचि विलोल छुए दुखदाय त सोई समीर सुहाई।
ततकाल त्रिलोक पवित्र करै यह केरी विचित्र अहो प्रभुताई॥

जो अलभ्य पुष्पो की सौरभ (सुगन्ध) को सतत हरण करता है और जो विरहरूपी शस्त्रजनित हृद्वेदनाकुलिनो के प्राण क्षण में शरीर से पृथक् कर देता है, ऐसा वह सोई पवन तेरी विलोल बीचिमाला के स्पर्श से त्रिभुवन को तत्काल पवित्र पदवी को पहुँचाता है, यह क्या ही आश्चर्य है!

कियन्त' सत्येके नियतमिह लोकार्थघटका'
परे पूतात्मानः कति च परलोकप्रणयिन.।
सुख शेते मातस्तव खलु कृपात पुनरय
जगन्नाथ' शश्वत्त्वयि निहितलोकद्वयभर॥३६॥

करि कोऊ महा उपकार इतै यहि लोक की कीरतिसारकमाही।
परलोक सुधारत कोऊ कहूँ करि दान दया सनमान सदाही॥
धरि तोहि पै भार दिलोकनि के तजि सर्व विचार जहाँ के तहाँही।
यह सेवक सोइ रह्यो सुख सो इक तेरी कृपा जननी जगमाहीं॥

कोई सत्पुरु नाना प्रकार के निरन्तर उपकार कर इस ससार में विमल कीर्ति सम्पादन करते है और कोई अनेक जप, तप, दान, सन्मान आदिक से अपने परलोक-सा न मे सदैव तत्पर रहते है परन्तु, हे माता यह जगन्नाथ तो दोनो लोको का भार तेरे ऊपर रख तेरी कृपा मे सुखपूर्वक सतत शयन कर रहा है।

भवत्याहि व्रात्याधमपतितपाषंडपरिषत्
परित्राणस्नेह श्लथयितुमशक्य. खलु यथा।
ममाप्येव प्रेमा दुरितनिवहेष्वव जगति
स्वभावोऽय सर्वैरपिखलु यतो दुष्परिहर॥३७॥

पतिताधम धर्मविहीनन के अघतूल समूल नसावन काजा।
निज प्रीति की रीति न त्यागति तू जस मातु विचारति रक न राजा॥
तस नेम ते मैं हूँ सप्रेम करौं उठि पाप सदा सजि आपनि साजा।
जग में न अभाव स्वभावप्रभाव को होहि चहै सर्वस्व अकाजा॥

हे अम्ब (माता)! जैसे सस्कारहीन अधम, पतित और पाखडी प्राणियो के उद्धार करने में तेरे स्नेह का न्यून होना सर्वथा अशक्य है तैसे ही नित्य पातक-

समूह उपार्जित करने मे मेरे नेम का भी कम होना सम्भव नही; क्योंकि इस संसार मे सब जीवधारियो को स्वभाव का त्याग करना परम दुस्तर होता है।

प्रदोषान्तर्नृत्यत्पुरमथनलीलोद्धृतजटा
तटाभोगप्रेङ्खल्लहरिभुजसन्तानविधुति ।
बिलक्रोडक्रीडज्जलडमरुटङ्कारसुभग—
स्तिरोधत्ता ताप त्रिदशतटिनी ताण्डवविधि.॥३८॥

नित्य प्रदोष की ओर गिरीश के नृत्यत शीशजटा तट लागी।
वीचि विलोल भुजा उठि जा मँह मानहु भाव कहैं रसपागी॥
तीर के खोहनि में डमरू सम जामे करैं रव नीर विभागी।
सो तव ताडव की विधि मातु हरै मम ताप हिए अनुरागी॥

प्रदोष समय शकर के नृत्यलीलोद्धृत जटाओ का प्रहार तट पै लगाने से जिनमें चचल तरगरूपी भुजा हाव भाव-सा करते है और तीर के खोहो में प्रवेश पाकर नीररूपी डमरु के मनोहर शब्द जिसकी शोभा को वढाते है सो वह भागीरथी की ऐसी ताण्डवविधि मेरा सकल ताप हरै।

सदैव त्वय्येवार्पितकुशलचिन्ताभरमिम
यदि त्वमामव त्यजसि समयेऽस्मिन्सुविषमे ।
तदा विश्वासोऽय त्रिभुवनतलादस्तमयते
निराधारा चेय भवति खलु निर्व्याजकरुणा ॥३९॥

धरि तोपै सबै कुशलात को भार अनिष्ट विहार करे सनमानी।
यह दुस्तर बेरि विलोक कै जो तजिहै मोहि मानुनराधम जानी॥
तव पापिन तारन की उठि जाय है बानी त्रिलोक ते तौ महारानी।
निजि वासन तेरे हिए लखिकै करुणा करि है करुणा बिलखानी॥

हे माता! अपनी भविष्य कुशल का सारा भार मैने तेरे ऊपर रख इस दिन पर्यन्त मनमानी की, अब इस ऐसे महादुर्धर समय में यदि तू मेरा अगीकार न करेगी तो, तूही, समझ देख तेरा पापोद्धारविषयक समस्त त्रैलोक का दृढ विश्वास आज अस्त-सा हो जावेगा और यह निर्व्याज करुणा तेरे हृदय में अपना वास न पाय निराधारत्व को प्राप्त होवेगी।

कपर्दिन्दुल्लस्य प्रणयमिलदर्धांगयुवते
पुरारे प्रेङ्खन्त्यो मृदुलतरसीमन्तसरणौ ।

भवान्या सापत्न्यस्फुरितनयन कोमलरुचा
करेणाक्षिप्तास्ते जननि विजयता लहरय. ॥४० ॥

कढ़ि कै जटली जटाजूटन ते अतिप्रेम प्रभाव नगेगजाधारी।
त्रिपुरारि के कोमल भाल प्रदेश में जे उतरी निज सौति निहारी ॥
जिनको करकज ते टारन कीन सरोष पहारनराजकुमारी।
जननी तव ते लहरी बिजयी जग ोहि यहै कहनूति हमारी ॥

हे माता! अधिक प्रीति के कारण अर्द्धाङ्गिनी पार्वती को वाम अग में स्थान देनेवाले त्रिपुरारी के जटामडल से निकल जो उनके कोमल भाल में अपनी सपत्नी के अवलोकनार्थ उतरी और गिरिजा ने सापत्न्यभाव से लाल लोचन कर अपने करकमल से जिनका निवारण किया ऐसी तेरी लहरें जगत में जय पावें।

प्रपद्यन्ते लोका कति न भवतीमत्र भवती–
मुपाधिस्तत्रा‍ऽत्र स्फुरति यदभीष्ट वितरसि ।
शपे तुभ्य मातर्मम तु पुनरात्मा सुरधुनि
स्वभावादेवत्वय्यमितमनुराग विधृतवान् ॥ ४१ ॥

जननी जगपूजित तू तिहिको नहिं को दरबार जुहारत जाई।
शरणागत स्वागत जागत जो तव सो मोहि कारण देत दिखाई ॥
सुरलोकनदी शपथप्रतिसत्य कहौ न करौं निज व्यर्थ बडाई।
अनुराग तौ मो मन को अति लाग स्वभावहि ते तव माँहि सुहाई ॥

हे सुरसरिता! तुझ जगत्पूज्या माता की शरण में कौन नही जाता है? तू वाञ्छित फलदात्री है; यही तेरे अवलम्बन करने का एक मुख्य कारण है। मेरे मन ने तो तेरे अनुराग का सम्पादन स्वभाव से ही किया है (प्रगसा सुन के नही) यह मैं तेरी शपथ खाकर कहता हूँ।

ललाटे या लोकैरिह खलु सलीलं तिलकिता
तमो हतु धत्ते तरुणतरमार्तण्डतुलनाम ।
विलुम्पन्ती सद्यो विधिलिखितदुर्वर्णसरणि
त्वदीया सा मृत्स्ना मम हरतु कृत्स्नामपि शुचम् ॥४२ ॥

तजि शोक सबै यहि लोक मे आय लगावत लाय लिलार मझारा।
तन धारि युवा सवितासमता नित नाशति जो बुधि के तम भारा ॥

पल माहिं निशंकित मेटति जो विधि अंकित अक्षर वंक विकारा।
जननी तव तीर की सो शुचि रेणु हरै हमरे सब पीर प्रकारा॥

जो स लोक में मनुष्यों के ललाट में प्रेमपूर्वक तिलकित होने से बुद्धि-विकार का, जैसे मध्याह्नकालस्थित अत्यन्त तीक्ष्ण किरणोंवाला सूर्य अंधकार को अस्त करता है वैसे नाश कर देती है और जो ब्रह्मलिखित अशुभ कर्माक्षरों को भी मिटाती है सो यह ऐसी तेरी मृत्तिका हमारे सब शोक हरै!

नरान् मूढान् तत्तज्जनपदसमासक्तमनसो
हसन्त सोल्लासं विकचकुसुमव्रातमिषत।
पुनाना सौरभ्यै सततमलिनो नित्यमलिनान्
सखा यो न सन्तु त्रिदशतटनी तीरतरव॥४३॥

निज देशनि जे मतिमंद बसैं मनमानि अनन्द तुम्है बिसराई।
विकसी कुसुमावलि के मिस जे तिनकी करैं हेरि हँसी मुसकाई॥
जिनकी सुचि सौरभ शुद्धि करैं सब भाँति मलीन अलीन सुहाई।
तव तीरन के तरु सो जननी मम होहिं सदैव सदा सुखदाई॥

स्वदेशवास ही से सन्तुष्ट होकर जो मूढ मनुष्य उन प्रदेशों की जहाँ होकर तू निकली है तेरे दर्शनार्थ नहीं जाते उनकी, अपने प्रफुल्लित फूलों के मिस से, जो हँसी सी करते हैं और जो आत्ममलिन भ्रमरों को भी अपनी सौरभ से पावन करते हैं सो ये ऐसे तेरे तीर के तरुवर मेरे निरन्तर मित्र होवें॥

यजंत्येके देवान् कठिनतरसेवास्तदपरे
वितानव्यासक्ता यमनियमरक्ता कतिपये।
अहं तु त्वन्नामस्मरणकृतकामस्त्रिपथगे
जगज्जालं जाने जननि तृणजालेन सदृशम्॥४४॥

चित धारत देवन सेवन में सहिकै कोउ नित्य नई कठिनाई।
मख ठानत कोउ सप्रेम कोऊ नर मानत है यमनेम निकाई॥
जपि नाम तिहारो पथत्रयगामिनि मैं असि काम तमाम बिहाई।
जगजालनि को सब कालनि में तृणजालनि तद्वत देखहुँ भाई॥

हे त्रिपथगामिनी! इस लोक में कोई तो अत्युग्र सेवा करके अनेक देवाराधना करते हैं, कोई यज्ञानुष्ठान में प्रवृत्त होते हैं और कोई यमनियमादिकों का साधन करते हैं। परन्तु, हे माता! मैं तो इस प्रकार के जितने कर्म हैं

उनसे अपना हाथ खीच केवल तेरा नामस्मरण कर जगत् के सर्व जंजाल को तृणवत् देख रहा हूँ।

अविश्रान्त जन्मावधिसुकृतजन्मार्जनकृतां
सता श्रेय कर्तुं कति न कृतिन सति विबुधा।
निरस्ता लम्बानामकृतसुकृताना तु भवती
विनामुष्मिल्लोके नपरमवलोके हितकरम् ॥४५॥

निज जन्म ते उत्तम जन्म निमित्त करी वहुपुण्य परिश्रम पाई।
तिन तारनहार करार ते केतिक जागत है जग मे सुरराई॥
यहि लोक में पै अघ खानि निराश्रित लोगनि के हित हेत सहाई।
नहि दूसरो मोहि दिखाय परै कहुँ जह्नुसुता इक तोहि विहाई॥

जो जन्म ही से उत्तम पदप्राप्त्यर्थ अनेक सुकृत (पुण्य) कृत्य करते है उन सत्पुरुषो को सुगति देने की किस देवता मे सामर्थ्य नही? परन्तु निराधार महापापी पापियो को अगीकार करने मे तत्पर एक तेरे अतिरिक्त इस लोक मे मुझे और कोई नही देख पडता।

पय पीत्वा मातस्तव सपदि यात सहचरै
विमूढै सरन्तु क्वचिदपि न विश्रान्तिमगमम्।
इदानीमुत्सङ्गे मृदुपवनसचारशिशिरे
चिरादुन्निन्द्र मा सदय हृदये शायय चिरम् ॥४६॥

पयपान कै मातु तिहारो सखानि महाधम ज्ञानविहीन बटोरी।
भ्रमि देश अनेकनि नित्य नवीन मलीन कुतूहल कीन करोरी॥
अव मन्द समीर ते शीतल तीर पै मातु दयालु विनै सुनि मोरी।
चिर काल उनीदित मोहि सदैव को निद्रित आजु करौ वरजोरी॥

हे दयालु माता! तेरा जलपान करके महामूढ मित्रमडली सयुक्त देश-विदेश जाय अनेक कुतूहल किये परन्तु विश्राम कही भी न मिला; इससे अब मृदुल समीर से शीतल किये हुए अपने इस तीर पै मुझ चिरकाल निद्राविगत को सदा के लिए निद्रित कर।

वधान द्रागेव दृढिमरमणीय परिकर
किरीटे वालेन्दु नियमय पुन पन्नगगणै।

न कुर्यास्त्वं हेलामितरजनसाधारणतया
जगन्नाथस्याय सुरधुनि समुद्धारसमय ।।४७ ।।

बाधियो वेगि महादृढ कै कटि साधियो आपनि सुन्दर गाता ।
लीजियो पन्नगजालनि लाय मिलाय किरीट तें चन्द्र सुहाता ।।
कीजियो हेलना भूलि न दूसरे पापिन को मन में गुनि बाता ।
है जगन्नाथ उधारन की यह दुस्तर बेर बडी सुन माता ।।

हे सुरसरि ! शीघ्र ही अपने परिकर को दृढतर बांध, भाल के बाल चन्द्रमा को सर्पजाल लगाय किरीट से साध, और साधारण पापियो का-सा मेरा हाल जान हेलना न कर । यह अधीर पातककार जगन्नाथ के उद्धार करने का समय है ।

शरच्चन्द्रश्वेता शशिशकलश्वेतालमुकुटा
करै कुम्भाम्भोजे वरभयनिरासौ च दधतीम् ।
सुधा धाराकाराभरणवसना शुभ्रमकर-
स्थिता त्वा ये ध्यायन्त्युदयति न तेषा परिभव ।।४८।।

तनु श्वेत शरदनु चन्द्रसमान किरीट मयक कला छविछाये ।
वर कुम्भ सरोज, महाभयभजन, आयुध हस्त धरै मनभाये ।।
उजरे मकरस्थित, अमृतधार-से भूषण वस्त्र सिगार बनाये ।
तव ध्यान धरै नर जे तिनको अपमान न होहि कबौं जग आये ।।

जिसका अग वर्ण शरद्चन्द्र समान श्वेत है, जिसके मुकुट की प्रभा शशिवत् उज्ज्वल है, जिसके कर-कमल, कमल, कुम्भ (घट) वर और अभय इन चारो आयुधो से आभूषित है, जिसके वस्त्राभरण सिगार अमृतधाराकार शोभायमान है और जो शुभ्र मकर (मगर) पै विराजमान है; ऐसी इस तेरी मनोहर मूर्ति का जो कोई ध्यान करते हैं उनका स्वप्न में भी इस लोक में पराभव नही होता ।

दरस्मितसमुल्लसद्वदनकान्तिपूरामृतै-
र्भवज्वलनभर्जितानानिशमूर्जयन्ती नरान् ।
चिदेक मयचन्द्रिकाचयचमत्कृतिं तन्वती
तनोतु मम शतनो सपदि शतनोरङ्गना ।।४९।।

मृदु हास विकासित आनन की अति सुन्दर भाष ीयूष पियाई।
जगज्वाल विशाल जरै जन जो सब काल जिआवति ताप नसाई॥
निज चेतनचन्द्रप्रकाशचमत्कृति जे जगती तल में प्रकटाई।
नृपशतनुनारि पियारि सुई मम होहि सदा मुदमगलदाई॥

मनोहर मुसुकानि ममय अपने प्रफुल्लित मुखारविन्द के प्रकाशरूपी अमृत से जो विश्वाग्निजालज्वलित मनुष्यो को जीवनदान देती है और जो निज चेतनचन्द्रिका से सबको चकित करती है सो यह ऐसी शतनु राजा की रानी हमारा सदैव कल्याण करे।

मन्त्रैर्मीलितमौ धैर्मुकुलित त्रस्त सुराणागणैः
स्रस्त सान्द्रसुधारसैर्विदलित गारुत्मतैर्ग्रावभि'।
वीचिक्षालितकालियाहितपदे स्वर्लोककल्लोलिनि
त्व ताप निरयाधुना मम भवज्वालावलीढात्मन॥५०॥

मन्त्र विलुप्त भये सिगरे विगरे गुग सर्व महौपधि केरे।
त्रस्त भ ` सुरत्रस्त सुधारस नष्ट भई मणि मो तन हेरे॥
हे हरिपादपखारनहारिनि देवनदी अपने तट नेरे।
विश्व कृशानु दहै मम अग के भग करी तुम ताप घनेरे॥

मुझे देखते ही मन्त्र लुप्त हो गये, महौपधियो ने अपने गुणो का गर्व त्याग दिया, देवतागण डरे, अमृतादिक रम गिर गये, और गारुत्मत के समान मणियाँ भी नष्ट हो गई, अब और तो कोई रहा ही नही कि जिससे मैं कुछ कहूँ इससे हे हरिपादप्रक्षालनी सुरसरि! मुझ जगत्ज्वालादग्ध आत्मा-वाले की सर्व ताप तू वेग ही शान्त कर क्योकि ऐसा करने को एकमात्र तू ही समर्थ है।

द्यूते नागेन्द्रकृत्तिप्रमथगणमणि श्रेणि नन्दीन्दुमुख्य
सर्वस्व हारयित्वा स्वमथ पुरभिदिद्राक् पणी कर्तुकामे।
साकूत हैमवत्या मृदुलहसितया वीक्षितायास्तवाब
व्यालोलोल्लासिवल्गल्लहरिनट घटी ताण्डव न पुनातु॥५१॥

एक वार गिरजा सग खेलत महेश द्यूत नदी नागेश चन्द्र प्रमथ कृत्य हारे।
दाँव माहि आपहि तव लावनो विचार कीन्ह सर्ववित्त हीन खीनवृत्ति चित्त धारे॥
भाव भरी तव तो तव ओर गिवा दीठ करी मन्दी मुसकानयुक्त जीतिबो विचारे।
ता लखि जो तेरी अति चचल तरग उठी गगकरै पावन सब अग सो हमारे॥

हे अम्ब (माता)! पार्वती के संग द्यूत खेलने में फणीश, वाघम्बर, पारषद, मणिमाला, नन्दी और चन्द्रमादिक अपना सर्व धन हार जब शकर ने अपने को दाँव पर रखना चाहा तो गिरजा ने मन्द मुसकान गूढाभिप्राय (तेरे जीत लेने के विचार) से तेरी ओर अवलोकन किया; इस प्रकार का आक्षेप होता देख महाचंचल हो जो सदाशिव के जटामडल में नृत्य-सा करने लगे ऐसे यह तेरे तरंग हम पावन करें।

विभूषितानङ्गरिपूत्तमाङ्गा सद्य कृतानेकजनार्त्तिभङ्गा।
मनोहरोत्तुङ्गचलत्तरङ्गा गगामसाङ्गान्यमलीकरोतु ॥५२॥

आभूपित तनुविनाशक श्रेष्ठ अगा। शीघ्र कृतामितमनुष्यकलेशभंगा ॥
सौन्दर्यमान अतितुंग चलत्तरगा मो अग मो करहि पावन मातु गगा ॥

जिसने अपने निवास से शकर का शिरोभाग आभूषित किया है, जो संसार के अनेक मनुष्यों के अनेक दुखो का शीघ्र ही छेदन करती है और जिसके ऊँचे ऊँचे चचल तरग परम शोभायमान लगते हैं ऐसी यह श्री गंगा हमारे सर्वांग को पावन करें।

देवीस्तुतिशतक

भूमिका

संस्कृतभाषा में जिनका प्रयोग प्राय सर्व छोटे-बडे ग्रन्थो में किया गया है ऐसे गणात्मक छन्द देवनागरी की दो-चार ही पुस्तको में उपयुक्त हैं यह सब सुज्ञ वाचको को विदित है। ऐसा होने पर भी प्रस्तुत समय में हमारे विद्वज्जन इस ओर ध्यान नही देते यह खेद का विषय है। क्या वे यह समझते है कि इस प्रकार के छन्दो का प्रचार होने से हमारी भाषा को विशेष शोभा न प्राप्त होगी ? जो हो, मुझे तो भगवती का स्वतन करना ही था और संस्कृत में विशेषत सर्वस्तुति विषयगणात्मक वृत्तो ही में वर्णन किये भी गये है अतएव मैने ऐसे ही छन्दो का प्रयोग करना योग्य समझा।

झाँसी,
२२ जनवरी, १८९२

महावीरप्रसाद द्विवेदी

श्री

देवीस्तुतिशतक

वसन्ततिलका छन्द

(१)

व्योमाम्बु भूमि अनिलानल तत्त्व माँही,
जाकी कला कुशल व्यापक है सदाहीं।
विश्वेश्वरी जननि सो जग आदिमाया,
राखै निरोग सब काल हमारि काया॥

(२)

धाता[1] स्वरूप धरि कै रचि सृष्टि सारी,
पालौ प्रजा अखिल अच्युत[2] भेषधारी।
नाशौ बहोरि सब शंकर अंक आई,
लीला अपार तव अम्ब न जाय गाई॥

(३)

नागेन्द्र[3] इन्द्र रवि चन्द्र उपेन्द्र[4] देवा,
जाकी सदा करत प्रेम समेत सेवा।
सो शक्ति जासु सबके उर में बसेरो,
होवै शरीर सुखदायक हेतु मेरो॥

(४)

धूमावती[5] त्रिपुर सुन्दरि मातु तारा,
पद्मात्मिकाह भुवनेश्वरि सावधान।
मातंगि छिन्नशिर भैरवि भव्यनासा,
काली कराल बगलामुखि को प्रनामा॥

(५)

तेरी प्रभा बिन प्रभाकर[6] तेज-हीना,
ताराधिनाथ[7] तव शीतलता अधीना।
दूजे अनेक ग्रह जे नभचक्रचारी,
होते प्रदीप्त द्युति तै जननी निहारी॥

१–ब्रह्मा, २–विष्णु, ३–शेष ४–विष्णु, ५–दस महाविद्याओं के नाम इस श्लोक में वर्णित, ६–सूर्य, ७–चन्द्र।

(६)

ब्रह्मा महेन्द्र निधिनायक[१] नीरनाथा[२],
सानन्द जासु गुण गावत जोरि हाथा।
सत्कीर्ति तासु यह पामर ज्ञानहीना,
हा हा कहै किमि महामति मन्दहीना ॥

(७)

स्वेच्छानुसार वर माँगन मे भवानी,
सेवा कछू करव सेवक धर्म जानी।
देऊँ स्वदर्थ कवितामय दीन दासी,
लै लेहु ताहि नतु होहि हमारि हासी॥

(८)

रे रे दिवाकर बहोरि प्रकाशकारी,
देहौं अवश्य अव दण्ड अतीव भारी।
यो उक्तवान महिषासुर को पछारी,
राजी शिवा जु हरु सोइ व्यथा हमारी॥

(९)

आरक्त[३] नेत्र करि शस्त्र समस्त साधी,
दैत्याधिराज तनु मध्य कृपाण आधी।
वेगि प्रवेशि कृत जो रव घोर वानी,
देवै शरीरसुखसम्पत्ति सो भवानी॥

(१०)

इन्द्राणि अम्बुपति-पत्नि[४] कुबेरजाया[५],
होवौ सुखी वचन यो कहि योगमाया।
धाई मृगेन्द्र चढि जो अमरारि आगे,
तासो डराय मम रोग भगै अभागे॥

(११)

हा हा हमैं महिषदानव दण्ड भारी,
हे देवि देतु हरु तासु शिर प्रचारी।
जावो तथास्तु इति वादिन[६] इन्द्रपाही,
चण्डी हमारि रुज[७] चूर्ण करै सदाही॥

१—कुबेर, २—वरुण, ३—लाल, ४—वरुण की स्त्री, ५—कुबेर की स्त्री, ६—कहनेवाली, ७—रोग।

(१२)

तीक्ष्ण त्रिशूल महिषासुरकूल माहीं,
पैठे विलोकि तकि तासु शरीर काहीं।
सक्रोध पृष्ठि-तट ऊपर मारि लाता,
गर्जी जु घोर कर मोर निरोग गाता॥

(१३)

पादारविन्दतल[1] ते निर्मोक[2] हेता,
व्यर्थ प्रयत्न रिपु के लखि मध्य खेता।
तारी बजाय विहँसी जगदम्ब जोई,
कल्याणकारिणि सदा मम होहु सोई॥

(१४)

अत्युग्र गर्जि निज विस्तृत वक्त्र[3] बाई,
माहिषासुरहि[4] आवत देखि धाई।
नाराच जासु प्रविशे सुरशत्रु अंगा,
मत्राण सो करहि श्री जगदम्ब संगा॥

(१५)

युद्धप्रसंग महँ जासु अनन्त बाना,
चण्डांशु[5] छाय करि रैनि घनी बनाना।
आनन्द दीन कुल कैरव को अपारा,
सन्ताप सो जगतमातु हरै हमारा॥

(१६)

शक्ति त्रिशूल असि पाश गदा कुठारा,
धन्वा धुरीण युत केहरि पै सवारा।
जासों समस्त महिषासुर सैन्य हारी,
ता अष्टबाहु जननीहि नमो हमारी॥

(१७)

संग्रामभूमिगत दैत्य अनेक मारी,
रक्तप्रवाह सब ओर बहाय भारी।
कल्लोलिनीश[6] जिहि लोहित[7] रंग कीन्हे,
सद्दुख सो हरहि भैरवि खड्ग लीन्हे॥

१—चरण-कमल के नीचे से, २—छूटना ३—मुख, ४—महिषासुर-
५—सूर्य, ६—समुद्र, ७—लाल।

(१८)

स्वर्लोकदेवपतिशत्रु चमू मझारा,
जासु प्रचण्ड हरिनायक[१] दन्त द्वारा
सोवे अनन्त मृतदानव मत्तदन्ती[२],
सो रक्ष मोहि महिपासुरमर्दयन्ती ॥

(१९)

पचाननोपरि[३] दृढासन सिद्ध पाई,
सव्यापसव्य[४] दिशि शक्ति चलञ्चलाई।
रुण्डावशेषकृत जे सुरशत्रु[५] मारे,
काटै जगज्जननि संकट सो हमारे ॥

(२०)

आलोक जासु दृग रोष भरेऽरुणारे,
कम्पायमान अति भे सुर शत्रु सारे।
जाके भुजानि महिपासुर शृङ्ग पारे,
सो अम्ब सर्व मम अंग करै सुखारे ॥

(२१)

घंटानिनाद सुन जासु अखण्ड एका,
व्योमोहव्याप्त रजनीचर भे अनेका।
सो देवि जाहि निज दास सदा सुहावै,
हस्तारविन्द मम मस्तक पै लगावै ॥

(२२)

पद्मानुकारि पद ते अथवा हमारे,
मेटौ महेश्वरि अवश्य अरिष्ट सारे।
सोऊ बनै न यदि तौ रज तासु डारी,
भारी भयाब्धि[६] सन लेहु हमैं उबारी ॥

(२३)

सेना समस्त सुरईश्वरशत्रुवारी,
अट्टाट्टहास जिहिकी सुनि भीतिकारी।
भागी अशस्त्र बनि बोलत दीन बानी,
राखैं सुखी हमहि सो नित रुद्ररानी ॥

१—सिंहराज, २—मत्त हस्ती, ३—सिंह के ऊपर, ४—दाहिनी बाईं
५—दानव, ६—भारी भयरूपी समुद्र।

(२४)

रोमालि[1] जानु दुहुँतै ललितप्रवाहा,
मैं बरना नहिं कै ऽगिलाञ्चिनादा।
पूर्णोन्नताति घन गाऽनन्दभाग,
नाशो अहै अम्ब पगकमलाधिकार॥

(२५)

पर्यंक पादमृदुता कह[2] महा घनेरी,
काठिन्यता वर महिषासुरपृष्ठ केरी।
दीन्ह्यो तथापि जिन[3] पूर्ण गुरुत्वगाता,
मेटै अनिष्ट मम सो नतन प्रभाता॥

(२६)

देवाधिनाथ अरिपृष्ठ कठोर कारी,
तापै स्वपाद अरुणाम्बुज तुल्य धारी।
शोभा ऽद्भुत प्रकट करि त्रिलोकमाता,
मद्देह हेत नित देहि निरोग नाता॥

(२७)

अत्यन्त तीव्र नख रश्मिन ते तपाई,
पद्माघ्रि[4] जानु महिषासुर को—दबाई।
पङ्कद्रवार्थ[5] जनु दीन पठै पताला,
नाशै सदा जननि सो मम रोग जाला॥

(२८)

खड्गप्रहार लगि रक्त नदी वहाई,
जौलौं मरै महिषदैत्य पछार खाई।
तौलौं सुरेश किय पूजन जासु आई,
मद्रोग[6] देहि जगदीश्वरि सो नसाई॥

(२९)

हुंकारशब्द करि कोपकृशानु लाई,
धूम्राक्षदेह द्रुत भस्ममयी बनाई।
देवेन्द्रकाज, हर हेत विभूति ढेरी,
साथै दृढ़ करनि जै जगदम्ब तेरी॥

१—रोमपंक्ति, २—कहाँ, ३—अर्थात् चरणद्वय, ४—कमलरूपी पद, ५—कीच में क्रीडा करने के लिए, ६—मेरा रोग।

(३०)

शैलाधिराजशिखरोपर शस्त्र साजी,
घोर स्वरूप निज वाहन पैं विराजी।
है चण्डमुण्ड यह यों मनमाहिं जानी,
मुस्मेरकांत्रि[१] जयतु त्रयलोकरानी॥

(३१)

चण्डीललाटतट ते कढि क्रोव पाई,
कीनाशदेश[२] अमरारिअनी[३] पठाई।
सन्तोषवृत्ति चितवारिणि भद्रकाली,
देखै दयासहित मो तन तापघारी॥

(३२)

जाके प्रचण्डनखदन्तप्रहार खाई,
देवारिसैन्य[४] पल माहिं गई विलाई।
मो सिंह हे जननि वेग तुम्हैं चढाई,
होवै ममाङ्गसुखसाधन में सहाई॥

(३३)

नाही सहार कर काज कछू दिखावै,
भार्ष्यो प्रमादवश मैं यह चित्त आवै।
लक्षावधि प्रवल दैत्यन जै पछारा,
मद्दुःख नाश महँ ताहिं कितेक वारा॥

(३४)

ज्यों शब्दमात्र करि शुम्भ अनीश[५] मारा,
सहार त्यो न सवको करिबे विचारा।
काली क्षुधार्त उदरातरभक्ष्यहेता,
शस्त्रप्रहार करि कौतुक कीन्ह एता॥

(३५)

पृथ्वी अकाश बिच जे न सके समाई,
ते रक्तवीज निज आनन माहिं नाई।
दंष्ट्रा[६] दवाय सब काहि लयो चवाई,
काली किती अहह त्वद्विभुताधिकाई[७]॥

१—मन्द हास करनेवाली, २—यमलोक, ३—दैत्यसैन्य, ४—दैत्यों की सेना। ५—शुम्भ नामक दैत्य का सेनापति; ६—डाढ, ७—तेरे प्रभुत्व का आधिक्य।

(३६)

शुभप्रतापरुजपीडित स्वर्गस्वामी[१],
त्वत्कीर्ति गाय वहुबार कही नमामी।
मैं तौ मनुष्य ग्रह कष्ट कृशानुजारो,
हे देवि द्वार किहि भाँति तजौं तिहारो॥

(३७)

पक्षीशपृष्ठ[२] पर बैठि सबेग आई,
सर्वास्त्र शस्त्र धरि पैठि रणाङ्गनाई।
काटे सुरारि सिर जो सब ओर धाई,
सो वैष्णवी हरहि मद्रुज दुखदाई॥

(३८)

हारे हजार त्रिधि जासन लोकपाला,
जाके प्रतापभय भानु भयौ बिहाला।
ता शुम्भ दैत्यपति के पल माहि प्राना,
लीन्ह्यौ अहो तव प्रभुत्व महामहाना॥

(३९)

कोदण्ड[३] कर्ण लगि तानि मुरारि ताकी[४],
बेगि प्रचण्ड शर मारन, माहि जाकी।
टेढी बिलोकि भृकुटी अरिसैन्य थाकी,
भागै हमार दुख देखि कृपाण ताकी[५]॥

(४०)

दैत्येन्द्रयुद्ध महँ लोहित नेत्र ारी,
पूर्णेन्दु वक्त्र बिच वारिकण प्रसारी।
वाणावली हनन हारि शिवा तिहारी,
सक्रुद्धमूर्ति मम दुःख दहै प्रचारी॥

(४१)

वृत्रारिवज्र[६] यमदण्ड अति प्रचण्डा,
भे जासु अङ्ग महँ लागत खड खडा।
ता शुम्भ दैत्य कहँ काटन में प्रवीना,
कात्यायिनी करहि मोहि व्यथाविहीना॥

१—इन्द्र, २—गरुड की पीठ, ३—धनुष, ४—तक के, ५—तिसकी, ६—इन्द्र का कुलिश।

(४२)

आकर्ण[1] चापगुण[2] औ पद वाम आगे,
द्वौ स्कन्ध नम्र दृग क्रोध कृशानु पागे।
सग्रामशालि अस उग्र स्वरूप तेरो,
सन्धानि तीव्र शर छेदहि रोग मेरो॥

(४३)

कै रक्तबीज सम उद्भट दुष्ट मारे,
काकी सहाय रण में निज शस्त्र धारे।
कीन्ही हरीन्द्र विधि शक्तिनहूँ भवानी,
तेरी समान इक तू यह सत्य बानी॥

(४४)

मैं प्रेमपूरि जगदम्ब त्वदीय गाथा,
गावौं जऊ विपुल बार नवाय माथा।
जावै तऊ न ज्वर जीवन दुखदाता,
आश्चर्य याहि कहु को कहिहै न माता॥

(४५)

दुर्गे दशा जु असि होइहि देश माहीं,
राखी बताउ फिरि को तव भक्त काहीं।
कारुण्यनीरनिधिईश्वरि[3] नाम पाई,
काहे न अम्ब अवलम्बन देहि आई॥

(४६)

तोको अयुक्त कहिबो जडता हमारी,
कीन्हें ऽपराध कछु मैंहि महान भारी।
जाते विलम्ब भइ भाषत कीर्ति तेरी,
देवि क्षमस्व[4] अब सो सब भूल मेरी॥

(४७)

सस्नेह पूजि जिनको नर नेमधारी,
पावैं कवीन्द्रपद पावन कीर्तिकारी।
नावैं नृदेव[5] जिन पायन पै स्वमाथा,
दण्डप्रणाम तिनको मम जोरि हाथा॥

१—कर्णपर्यन्त, २—धनुष की डोरी, (ज्याबन्ध) ३—करुणारूपी समुद्र की स्वामिनी, ४—क्षमा कीजिए, ५—नर और सुर।

(४८)

[illegible][1],
[illegible][2] [illegible]।
[illegible],
[illegible] ॥

(४९)

शोभाभरी त्रिपुरसुन्दरि देवि गोरी,
जंघा सजानुपग स्वर्ण[3] समान गोरी।
रम्भास्तम्भ[4] जिन माहि अनेक बारहु,
[illegible][5] त्यागु [illegible] बोलि करै [illegible] ॥

(५०)

लावण्यतासरित[6] त्वत्रिवली भवानी,
दाया अभीति वरदानवरिष्ठवानी।
ये तीनि अर्थ त्रयरेखनि ते पुकारी,
धैर्यावलम्ब जनु भक्तहि देहि भारी ॥

(५१)

त्रैलोक्यजीवजननीकुचकुम्भ दोऊ,
सामान्य नारि अनुमानि कहै न कोऊ।
काव्यप्रयोक्त तिहि कारण मै न गावौं,
वात्सल्यभाव निज काढि कहाँ दुरावौं ॥

(५२)

नक्षत्र व्योम विच रैनि भये दिखाही,
कल्याणि पै तव कुशेशयकण्ठ[7] माही।
कार्तस्वराभरण[8] मध्य सदा समाना,
तारास्वरूप सितरत्न प्रकाशमाना ॥

१—बालसूर्य्य की मनोहर और अरुणरगी किरणे, २—कुसुमित कमल की कोमलता, ३—सुवर्ण, ४—कदलीस्तम्भ, ५—मैथुन, ६—सौन्दर्यतारूपी सरिता, ७—कमल का कोमल दंड ८—सुवर्ण के अलंकार।

(५३)

आभीर नीर महँ ज्यों रवि सिद्धि साधै,
त्यों जो सरोज निशि में शशिहू अराधै।
तौ पाय भाग्यवश कोमलताधिकाई,
होवै त्वदीय कर को उपमान आई॥

(५४)

बिम्वाफलाल्प समयोत्तर शुष्क होवै,
आरक्तता नवलपल्लव नित्य खोवै।
ताते तवौष्ठ उपमा निज युक्ति द्वारा,
ढूँढौं यदि श्रम वृथा मम होहि सारा॥

(५५)

चन्द्रप्रभा मलिन होहि विलोकि जाही,
शुभ्रामृत स्वगतगर्व तजै सगही।
शर्वाणि सो तव महोज्ज्वल[1] मदहासा,
नाशै मदीय विविध ज्वरज्वालत्रासा॥

(५६)

राकेन्दु धोय स्वकलंक भले प्रकारा,
शोभासमुद्र महँ स्नान सहस्रबारा।
कै कै कड़े जिहि विलोकत शंक मानै,
देवि त्वदीय मुख सो कहु को बखानै॥

(५७)

फुल्लारविन्द विजयी दृग देवि केरे,
टेढ़े कटाक्ष तिनके विशिखेव[2] प्रेरे।
देखि व्यथाकुलित होत दुरे दुखारे,
हैं जे हमारि रुज जेतिक होनहारे॥

(५८)

भ्रूवकभाव तव देखि अनंगचापा,
लज्जावश त्वरित टूट सही न दापा।
मोरे मते मदन ता दिन ते सकाई,
कोदण्ड[3] पुष्पमय कौन गुणी बुलाई॥

१—महा उज्ज्वल, २—विशिख (बाण) के समान, ३—धनुष।

(५९)

ताटकलोललहरी जननी तिहारी,
सौन्दर्यसारसुखमा उपमानवारी।
प्रातप्रभासमय मो तनतापटारी,
देवैं शुचिस्मरण आपन विघ्नहारी॥

(६०)

पीबै शताब्द[१] दश धूम धुरीणधारा,
व्यापार और तजि जो नित अन्धकारा।
त्वत्केशपाश उपमा तिहिकी भवानी,
देवै सशक तउ कोविदवर्गवानी॥

(६१)

सेवा महान् चिरकाल करै सनेमा,
होवैं प्रसन्न सुर अन्य विलोकि प्रेमा।
जातै परन्तु तव सम्मुख सिद्धि सारी,
आवै तुरन्त यह रीति इहैं निहारी॥

(६२)

दै दै यथेष्ट फल भक्तन को सदा ही,
अत्यन्त शुभ्र यश पूरि अकाश माही।
कीन्ह्यो स्वय तुमहिं सूचित सर्वकाहीं,
गायै चरित्र मम दुख विचित्र जाही॥

(६३)

इच्छा नितान्त[२] जव तेरिहि या प्रकारा,
काहे न जाय जग धाय त्वदीय द्वारा।
मोको भवानि येहिते अतिही दृढाशा,
देहौं चहौं जु इमि बोलि कहौं प्रकाशा॥

(६४)

होवैं महाजन निज स्तुति ते सरोपा,
जानौं न सो यह न लागत मोहि दोपा।
द्वारे परन्तु सुनि याचक दीन वानी,
देवै न देवि कहु को कछु ताहि आनी॥

१—अब्द सवत्सर वर्ष, २—अत्यन्त।

(६५)

भक्तेप्सित[१] त्वरित दान विधान केरे,
दृष्टान्त जो न जग होति अजौं घनेरे।
ताको त्वदीय विनती करि देवि तारा,
इच्छानुकूल वर माँगत बारबारा॥

(६६)

सत्स्तोत्रकार विधि इन्द्र गिरीन्द्र[२] वासा,
अर्थीष्टदान[३] महँ दिव्यदया विकासा।
त्रैलोक्य व्याप्त यश देवि कहौ विचारो,
होवै यथार्थ तुलना किहिते तिहारो॥

(६७)

हस्तप्रसारि अरु बोलि विनम्रबानी,
दण्डप्रणाम शिरसा[४] करि इन्द्ररानी।
सीमतदेश[५] महँ त्वत्पदधूरि लाई,
अत्यन्त होति कृतकृत्य प्रमोद पाई॥

(६८)

जै नम्रमाथसुरनारिन[६] अग गोरे,
देवै बनाय जनु कुंकुमरंग बोरे।
बालार्कदीप्ति निज सन्मुख दीन सोई,
देवि त्वदंघ्रि[७] मम संकट देहि खोई॥

(६९)

भोगी[८] चितारज पिशाच नृमुण्डहारा,
ऐसो अमगलिक शंकर साज सारा।
ईशान पाय सहवास अहो तिहारा,
मांगल्यमूलमय होहि महा अपारा॥

१—ईप्सित अभीष्ट, २—हिमालय, ३—अर्थी याचक, इष्ट अभीष्ट; ४—सिर से, ५—सीमन्त-केश-वेश, ६—नवाये हैं माथ जिन्होंने ऐसी देवागनाओं को, ७—चरण, ८—सर्प।

(७६)

पद्मा[1] तुही परमरम्य शिवा[2] विधात्री,
तूही जलस्थलथिरा जगमुक्तिदात्री।
तन्त्रोक्तमंत्रमय तूहि श्रुति प्रमाना,
त्रैलोक्यगम्यगति तेरिहि सुप्रधाना॥

(७७)

तूही धरा धन धुरन्धर धर्मधारा,
सत्कर्म सामयजुऋग्वरवेदसारा।
आकाश तूहि पय पावक तूहि वाता[3],
सर्वत्र विश्वबिच व्यापक तूहि माता॥

(७८)

तेरी कृपा बिन तवस्तुतिवृत्त माही,
लागै न चित्त श्रमजात सबै वृथा हीं।
ताते शिवाजु कछु मो मुख ते कहावौ,
स्वीकार तासु करि देह व्यथा बहावौ॥

(७९)

अत्यल्पअर्भक[4] समान बिना विचारे,
गाये सुने जु गुणग्राम शिवा तिहारे।
देहौ हमैं अधिक जो अवहूँ सिखाई,
सूक्ति[5] प्रयोग करिहौं तव हेत माई॥

(८०)

कीन्हें महत्त्वपरिपूरितकाज नाना,
दीन्हें अनन्त अवलौं अभयप्रदाना[6]।
मच्चित्तवृत्ति अनुलक्षितकृत्य माही,
सकोच तोहि भुवनेश्वरि योग्य नाही॥

(८१)

नाना उपाधि जिन दैत्यन कीन्ह सोऊ,
दीन्ह्यौ पठाय सुरलोक बचे न कोऊ।
दाया तिहारि जब दुष्टनहू न त्यागै,
तौ भक्तभाग्य फिरि को कहि पार लागै॥

१—लक्ष्मी, २—पार्वती, ३—पवन, ४—बालक, ५—सु उक्ति—अच्छी उक्ति, ६—अभयदान।

(८२)

कालानुरूप[१] अवलोकि न यत्न मेरो,
ह्वै हैं सहास्य मुख नास्तिकवर्ग केरो।
मोंको परन्तु तजि और उपाय माता,
भायो तव स्तवन मङ्गलमूलदाता ॥

(८३)

त्वच्छक्तिहीन[२] भुवनेश्वरि कौन देवा,
को को न कीन करजोरि तिहारि सेवा।
चाहैं वृथा वनहिं औरन केरि गाथा,
सोहैं परन्तु विनती तव नाम साथा ॥

(८४)

स्वस्वेष्टदेव गुणवर्णन बात दूजी,
काको परन्तु बिन त्वत्पद आश पूजी।
दैत्येन्द्र शम्भु महिषासुर वेर आये,
काहे न और सुरं शस्त्र सुवारि धाये ॥

(८५)

त्वद्वंदना करि सगद्गदकण्ठवानी,
पैहौं अभीष्ट निज जो न गिरीशरानी।
जैहौं कहाँ शरण श्रेष्ठ विहाय तेरी,
देखौ विचारि करुणावति मातु मेरी ॥

(८६)

योगेश्वरी विपुल वैभवदा[३] सुकेशी[४],
दिग्वस्त्रयुक्त[५] अतिउच्च उरोजदेशी[६]।
हे भक्तकल्पलतिका जगमातु काली,
देरी दुराय हनियै मम व्याधिव्याली ॥

१—आजकल जैसा समय लगा है वैसा, २—त्वत्शक्ति व त्वच्छक्ति, ३—बहुत वैभव को देनेवाली, ४—अच्छे हो केश जिसके, ५—दिगम्बर, ६—अत्यन्त उच्च है कुचप्रदेश जिसका।

(८७)

शर्वाणि त्वच्चरण चारु सरोज माही,
भृंगायमान[१] जन जे तिनको सदाही।
विद्याविवेक बुधि वित्त विशिष्ट भोगा,
आवैं प्रसन्नमन सर्वं डराहि रोगा॥

(८८)

विष्णु त्रिनेत्र विधि जासु न अन्त पावा,
ताकी कथा कथन मे चित मैं लगावा।
है है भवानि यह मोर महा ढिठाई,
पै हौं करौं कह न त्वत्पदप्रीति जाई॥

(८९)

तेरी कृपा तनिक होतहि वागधारा[२],
काढ़ै कवीन्द्र मुखमार्ग ते अपारा।
देवी प्रसाद फिर जा कहँ चित्त लाई,
सौभाग्य तासु शतशेष सकै न गाई॥

(९०)

त्वत्पादपद्म युगचिन्तन चित्त लाई,
कीन्ह्यौं न आजु लगि मानुष देह पाई।
लीन्ह्यौ मुहूर्त[३] भरि मातु न नाम तेरो,
चण्डि क्षमा करहु सो अपराध मेरो॥

(९१)

लोकप्रशंसित महौषधि निर्विकारी,
खोये जऊ प्रथम रोग असाध्य भारी।
रोगी तऊ न तब लौं गुण तासु गावै,
जौ लौ शरीर रुज दुःख न सो नसावै॥

(९२)

जौ लौ सुखी शिशु[४] सखागण संग पाई,
तौ लौं न मातु पहँ रोवत आय धाई।
लेवै परन्तु जननी तउ अंक ताही,
देवै न दोष हरती दुखद व्यथा ही॥

१—भ्रमर के सामान आचरण करनेवाले, २—वाग (शुद्ध सं वाणी, ३—पल, ४—बालक।

(१३)

नीरजनाभ नर बालक सुन्दरा,
[illegible] नारि [illegible] ।
[illegible],
[illegible] ॥

(१४)

पीयूषपूर्ण न [illegible] हमारी,
मन्दापराध नव बालक मैं दुखारी ।
सम्पन्न रूप अब देवि हिये विचारी,
कोई यथा उचित मातु रमै निहारी ॥

(१५)

अन्यान्य देवप्रतिमा[1] यहि लोक माहीं,
पूजी यथोचितवचिन प्रीति समेत जाहीं ।
पै भक्तियुक्त तव मूरति भाव भामा,
सेवै न जे अनि न एकहु नाटनामा ॥

(१६)

स्नेहाम्बुयुक्त[2] मम हृत्पद अल्पताला,
तत्पद्मरूप शतपत्रप्रसूनमाला ।
अंगीकृत त्रिपुरसुन्दरि ताहि कीजै,
मेरी विनीत विनती पर ध्यान दीजै ॥

(१७)

वीरा समस्त-जन-रक्षण को उठाई,
रक्षा हमारि करिये अब वेगि आई ।
स्वाती सरोष लखि चातक जीव जाई,
भूलै न याहि जगदम्ब विलम्ब लाई ॥

(१८)

अद्य[3] प्रयन्त जिन याचक कीन्ह जोई,
पायो तुरन्त तिन देवि यथेष्ट सोई ।
जो मौन धारि तजिहो अब आजु मोही,
हा हा मनुष्य कहिहैं कह मातु तोही ॥

१–प्रतिमा, २–स्नेहरूपी जल से पूरित, ३–आज तक ।

(९९)

देखी जिती जननि त्वत्स्तुति लोक माहीं,
मत्पद्य तुल्य तिनकी तिलमात्र नाही।
हे ईश्वरी तदपि स्वेच्छित काज जानो,
लीजै सुधारि यह युक्त अयुक्त बानी॥

(१००)

एती कही स्तुति शिवा सुनिकै हमारी,
आरोग्य देहु दलि दु:खद व्याधि सारी।
सप्रेम हे भगवती महि माथ धारी,
माँगो हहा यहहि हस्तयुग प्रसारी॥

काव्य-मञ्जूषा

भूमिका

गत कई वर्षों से पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी की स्फुट कविता हिन्दी तथा सस्कृत के मुख्य मुख्य समाचार-पत्रो और मासिक पुस्तको में, समय समय पर, बराबर प्रकाशित होती आई है। पण्डित जी की कविता मे जो रस और जो अर्थ-गौरव रहता है, वह काव्य-रसिको से छिपा नही है। उनकी सरस और मनोहारिणी कविता की प्रशसा नागरी-प्रचारिणी सभा, सस्कृत-चन्द्रिका, हिन्दी-बगवासी, राजपूत और हिन्दोस्थान आदि ने मुक्त-कण्ठ से की है।

ऐसी मनोहर कविता को एकत्र करना परमोपयोगी समझकर, आज तक, पण्डित जी के जितने कविता-रत्न प्रकाशित हो चुके हैं उन सबका सग्रह, हमने, इस पुस्तकरूपी मञ्जूषा में रख दिया है। जो लाग सस्कृत नही जानते, उनके लिए, पण्डित जी का ही लिखा हुआ सस्कृत-कविताओ का भावार्थ भी हमने, हिन्दी मे, सन्निविष्ट कर दिया है। आशा है, कविता के प्रेमियो को, यह सग्रह रुचिकर होगा।

जयपुर,
१५ मार्च, १९०३

जैन वैद्य

काव्य-मञ्जूषा

१—शिवाष्टकम्

(संस्कृतचन्द्रिकायाम् [illegible] प्रकाशितम्)

(१)

शीतांशुशुभ्रकलया कलितोत्तमाङ्गं
ध्यानस्थितं गिरिसुतनयार्चितं तम् ।
कालानलोग्रमहहालहलकृष्णकण्ठं
विश्वेश्वरं कलिमलापहरं नमामि ॥

चन्द्रमा की शुभ्रकला से सुशोभित है शिरोभाग जिनका, योगध्यान में मग्न हैं जो, पार्वती ने पूजन किया है जिनका, कालानल के समान दुर्धर हलाहल से कृष्णवर्ण हो गया है कण्ठ जिनका, कलि के मल का नाश करनेवाले ऐसे विश्वेश्वर को हम नमस्कार करते हैं।

(२)

गायन्ति यस्य चरितानि महाद्भुतानि
पद्मोद्भवोद्भवमुखा सतत मुनीन्द्रा ।
ध्यायन्ति य यमिनमिन्दुकलावतस
सन्त समाधिनिरतास्तमहं नमामि ॥

जिनके अद्भुत चरित्रों को नारदादि मुनीश गान करते हैं, समाधिस्थ योगिजन जिनका ध्यान करते हैं, यमादि योग के अंगों में प्रवीण उन चन्द्रशेखर शंकर को नमस्कार है।

(३)

त्रैलोक्यमेतदखिलं ससुरासुरञ्च
भस्मीभवेद्यदि न यो दययार्द्रदेहः ।
पीत्वाऽहरद् गरलमाशु भय तदुत्थं
विश्वावनैकनिरताय नमोऽस्तु तस्मै ॥

विश्व की रक्षा में विरत उस परम पुरु को हमारा नमस्कार है, जो, दयार्द्र होकर, गरलपानपूर्वक, तज्जनित भय यदि दूर न करता तो सुरासुरसहित यह सारा ससार भस्म हो जाता।

(४)

पापप्रसाधनरता दितिजा अ ीन्द्र
सद्यो विजित्य सुरधामघराधिपत्यम्।
यस्य सादबललेशवशादवाप्ता-
स्तस्मै ममास्तु विनति. परमेश्वराय ॥

परम पापिप्ठ राक्षस भी जिसके किंचिन्मात्र प्रसाद को पाकर, इन्द्र को परास्त कर, सुरलोक के अधीश्वर हो गये, उस परमेश्वर को हमारा प्रणाम *।

(५)

नो शक्यमु तपसाऽपि युगान्तरेण
प्राप्तु यदन्यसुरपुङ्गवतस्तदेव।
भक्त्या सकृन्नततयैव सदा ददाति
यो नौमि नम्रशिरसा च तमाशुतोषम् ॥

युग के युग उग्र तपस्या करने पर भी, जो वस्तु वडे वडे अन्य देवताओं से नही मिलती, उसे भक्तिभावपूर्वक एक बार नमस्कृतिमात्र करने से जो देता है, उस आशुतोष शकर को हम सिर झुकाकर नमस्कार करते है।

(६)

भूतिप्रियोऽपि वितरत्यनिशं विभूतिं
भक्ताय य फणिगणानपि धारयन् सन्।
हन्ति प्रचण्डभवभीमभुजङ्गभीतिं
तस्मै नमोऽस्तु सततं मम शङ्कराय ॥

भूति (भस्म) प्रिय* होकर भी जो अपने भक्तो को अहर्निश विभूति (ऐश्वर्य) वितरण करता है; सर्पों के समूह को धारण† करके भी जो भव-

---

* जो वस्तु जिसे प्रिय है वह औरो को नही देता, परन्तु यहाँ उसका विपर्यय देख पड़ता है, यह विलक्षणता है।

† अपने घर में भरे हुए सहस्रश सर्पों के भय का प्रतीकार न करके तज्जनित दूसरो के भय को दूर करने के लिए दौडना विचित्रता है।

सागररूपी भीषण भुजग के भय को नाश करता है, ऐसे परम कल्याणरूपी शकर को हमारा सतत प्रणाम है।

(७)

येषा भयेन विबुधा रजनीचराणा
नो तत्यजुर्हिममहीध्रगुहागृहाणि ।
हत्वा ददौ समिति तानपि शैवधाम
त्वत्त परोऽस्ति परमेश्वर ! को दयालुः ॥

जिन राक्षसो के भय से हिमालय के गुहागृहो को देवता लोग न छो सके, उन्हे भी समर में सहार करके आपने अपने धाम को पहुँचाया ! हे परमेश्वर ! आपसे अधिक दयालु और कौन है ?

(८)

अर्चा कृता न, तव नाम हर ! स्मृतन्न
नो भक्तवत्सल ! कृत तव किञ्चिदन्यत् ।
वीक्ष्य स्वपादकमलोपनत तथाऽपि
मा पाहि कारुणिकमौलिमणे ! महेश !

हमने न तो कभी आपका पूजन किया, न कभी आपके नाम का जप किया, न और ही कुछ हमसे हो सका; तथापि, हे कारुणिकश्रेष्ठ ! हे भक्तवत्सल शकर ! अपने चरणकमलो में नत देख आप हमारा रक्षण कीजिए।

(९)

महावीरप्रसादो यो द्विवेदिकुलसम्भव ।
स भक्त्या परया युक्तश्चकारेद शिवाष्टकम् ॥

द्विवेदिकुल में उत्पन्न हुए महावीरप्रसाद ने, परमभक्ति-युक्त होकर, इस शिवाष्टक की रचना की।

२---प्रभात-वर्णनम्

(संस्कृतचन्द्रिकायास्तृतीयखण्डस्य द्वादशमख्यायां प्रकाशितम्)

(१)

ममाऽचिरात् सम्भविता समाप्ति-
शुचा हृदीतीव विचिन्तयन्ती।
उष. प्रकाशप्रतिभामिषेण
विभावरी पाण्डुरता बभार॥

'थोड़ी ही देर में मेरा अन्त हो जायगा' इस प्रकार हृदय में मानो चिन्तना करती हुई रात्रि ने प्रभात की अरुणाई के मिष, शोक से, पाण्डुरता को धारण किया।

(२)

मृगाधिपस्यागमनेन सर्वे
यथाल्पसत्वा विपिनं त्यजन्ति।
तथा भयेनेव विभाकरस्य
तारागणा लोपपरा बभूवुः॥

सिंह के आते ही जैसे और सब जंगली जीव, जंगल को छोड़, अन्यत्र चले जाते हैं, वैसे ही सूर्य के भय से भीत-से हुए तारागण धीरे धीरे लोप होने लगे।

(३)

श्यामां सिषेवे चतुरोऽपि यामान्
यां वीक्ष्य तस्याः पतनं शशाङ्कः।
मन्ये महाशोकसमाप्लुताङ्ग-
स पश्चिमाम्भोधिजले पपात॥

जिस श्यामा (रात्रि तथा षोडशवार्षिकी नवला कामिनी) का बराबर चार पहर पर्यन्त सेवन किया उसी का नाश होता देख, अत्यन्त शोकाकुल होकर, हमारी समझ में, यह चन्द्रमा, पश्चिम समुद्र में डूब मरा।

(४)

अलङ्कृतोऽयं महसोदयाद्रि-
सिंहासनस्थो भविता क्षणेन।

[illegible] ॥

जब तेज से अन्धकार [illegible], सूर्य अब [illegible] उदयाचलरूपी ऊँचे सिंहासन पर विराजमान होगा, यह जानकर, द्विज (पक्षी तथा ब्राह्मण) अपनी चहचहाहट से [illegible] मानो उसका मंगल गान करने लगे ।

(५)

मद गगनादिह निशान्धकारः
पलाय्य [illegible] यास्यतीति ।
उज्ज्वलन्निव क्रोधभरेण भानु-
[illegible] सहसाऽभिरानीत् ॥

'रात्रि-सम्बन्धी यह दुष्ट अन्धकार, हमारा अनादर करके, अब कहाँ भग कर जायगा ?' इस प्रकार भावना करता हुआ, क्रोध से अगार के समान जलता-सा, लाल सूर्य अकस्मात् निकल आया ।

(६)

दृष्ट्वा पतन्त रविबिम्बमारात्
दिवस्तमिस्रेग तिरोवभूवे ।
महात्मना सम्मुखगस्थितो हि
कियत्क्षण स्यास्यति दुर्विनीत ?॥

सूर्य के विम्ब को वेग के साथ आकाश से निकलते देख अन्धकार लोप हो गया । ठीक है, महात्माओ के सम्मुख दुर्विनीत मनुष्य कितनी देर ठहर सकेगा ?

(७)

कुशेशयै स्वच्छजलाशयेपु
वधूमुखाम्भोजदलैर्गृहेषु ।
वनेपु पुष्पैः सवितु सपर्य्या
तत्पादसस्पर्शनया कृताऽऽसीत् ॥

स्वच्छ जल जिनमें भरा हुआ है ऐसे जलाशयो में कमलो से, घरो में स्त्रियो के मुख रूपी अम्भोजदलो से, वन में नाना प्रकार के फूलो से, उसके पाद (किरण) स्पर्श-द्वारा सूर्य की पूजा-सी हो गई ।

इस प्रकार अन्धकार का उच्छेद करके, आकाशमार्ग से सब लोगो को अपने अपने कार्य में लगे हुए देख, मुदित-सा हुआ सूर्य्य, शुक्लवर्ण धारण करता है। अत. हम भी उसको प्रणाम करके अब इसे समाप्त करते है।

३—अयोध्याधिपस्य प्रशस्तिः

(संस्कृतचन्द्रिकायाश्चतुर्थखण्डस्य अष्टमसख्याया प्रकाशिता)

(१)

श्रीमत्प्रतापमहिपाल ! विशालभाल !
काव्यार्थचिन्तककवीश्वरकण्ठमाल !
नित्य प्रजाजनविपत्तिविनाशकाल !
भूयाः सदा सुखसमृद्धिसुतान्वितस्त्वम् ॥

काव्यार्थ का चिन्तन करनेवाले कवीश्वरो के कंठमाल; नित्यप्रति प्रजा की विपत्ति नाश करने में कालरूप; हे विशालभाल ! श्रीप्रतापनरेश ! आप सदैव सुख से, ऋद्धि-सिद्धि से तथा पुत्रादि मे युक्त रहे।

(२)

विद्वल्ललाम ! भुवि विश्रुत ! पूर्णकाम !
विश्वोपकाररत ! सर्वगुणैकधाम !
स्वप्रान्त 'कौंसिल' सभासदसत्प्रदीप ।
कीर्तिर्दिवं व्रजतु ते सतत महीप !

आप विद्वानो में श्रेष्ठ है; आप सारे संसार में विख्यात है; आपकी सकल कामनायें पूरी हुई है; आप विश्वोपकार में सदा रत रहते है; आपमें सारे गुण वास करते है; आप अपने प्रान्त के "कौंसिल" के सभासदो में दीपक के तुल्य प्रकाशित है। हे राजन् ! आपकी कीर्ति देवलोकपर्यन्त विचरण करे—यही हमारा आशीर्वाद है।

(३)

वाल्मीकिजा, कविकुलस्तुतकालिदास-
पत्नी, सुबन्धुघनिकादिकपूज्यमाता ।

जीर्णाङ्गिकाङ्गकवितावनिता चिरेण
त्वां प्राप्य वैद्यमिव नीरुजता दधाति ॥

वाल्मीकि मुनि की कन्या, कवियो ने जिसकी स्तुति की है ऐसे कालिदास की पत्नी, तथा सुबन्धु धनिकादिपडितो की माता, जीर्ण अगो को धारण करनेवाली यह कवितारूपी कान्ता, सद्वैद्य के समान आपको पाकर, फिर हरी-भरी हो गई है ।

(४)

या 'के-सि-आइ-इय' इत्यतिमानमूला
दत्ता प्रशस्तपदवी भवते च राज्ञ्या ।
कार्तस्वरेण सह रत्नमिवाविभाति
सा कोसलेश ! तव नामसमागमेन ॥

हे कोसलेश ! आपको जो के० सी० आई० ई० की अति माननीया उत्तम पदवी रानी ने प्रदान की है वह, सुवर्ण के साथ रत्न के समान, आपके नाम के सयोग से शोभा पाती है ।

(५)

त्वां वीक्ष्य दाननिरतं सतत नरेश !
लज्जाविनम्रवदन सुरपादपः सः ।
शङ्के सुमेरुगिरिगह्वरमाविवेश
नो चेत्, कथ न भुवि लोचनलक्ष्यमेति ?

हे नरेश ! आपको सतत दाननिरत देखकर, लज्जा से अपना सिर नीचा करके, वह जगत्प्रसिद्ध कल्पवृक्ष, हमारे जान, मेरुपर्वत की कन्दरा में छिप गया है। यदि ऐसा न होता तो वह भूमडल में दिखाई क्यो न देता ?

(६)

दान, दयाघन ! दया, नयनैपुणञ्च
शास्त्रे गतिं जनहिताचरणे रतिं ते ।
दृष्ट्वा दिलीपरघुरामकुशाजमुख्यान्
भूपांश्च न स्मरति पूर्वभवानयोध्या ॥

हे दयाघन ! आपकी दया, आपका नीतिनैपुण्य, शास्त्र में आपकी गति तथा लोकहित में आपकी प्रीति को देखकर आपकी राजधानी, यह अयोध्या, दिलीप, रघु, रामचन्द्र, कुश, अज आदि पहले के राजाओ को भूल गई !

(७)

स्वप्नेऽपि न द्विजपतिं स्वपदः करोषि
मायां तनोषि न महीप ! न शात्रवेऽपि ।
न त्वं समाक्षिपसि देव ! वृषे कदापि !
तेनोपमा भवतु ते मधुसूदनेन ?

हे महीप ! आप स्वप्न में भी द्विजपति (ब्राह्मण) का तिरस्कार नही करते; आप अपने शत्रुओं के साथ भी माया नही रचते; आप वृष (धर्म) का कभी व्याघात नही करते; अत विष्णु से हम आपकी किस प्रकार उपमा दें ? क्योंकि, विष्णु द्विजपति (गरुण) को अध. (नीचे) करते है अर्थात् उस पर सवार होते है; सदैव माया रचा करते है, तथा वृष (वृषभासुर नाम के दैत्य) का घात भी उन्होने किया है ।

(८)

दीपाङ्कुरैर्दिनकरस्य कराभिपूर्ती
रत्नाकरस्य भरणञ्च तुषारतोयै ।
वैचित्र्यमावहति नाथ ! यथा जनाना
कीर्तिस्तथैव कविभिस्तव गीयमाना ॥

एक छोटे से दीपक को जलाकर सूर्य्य के समान प्रचण्ड प्रकाश उत्पन्न करने का यत्न करना अथवा ओस के कणो से समुद्र को भरने जाना जिस प्रकार लोगो को उपहासास्पद जान पडता है—कवियो के द्वारा आपकी कीर्ति का गान किया जाना भी वैसे ही है ।

(९)

अत्यन्तविस्तृतपवित्रयशस्त्वदीय
सर्वासु दिक्षु परित स्वतनुं तनोतु ।
येनाखिलप्रवरपण्डितदत्तमान !
तुष्टिं प्रहृष्टहृदय. परमा व्रजामि ॥

अच्छे अच्छे पण्डितो को मान देनेवाले हे राजन् ! आपका अत्यन्त विस्तृत यश सब दिशाओ में चारो ओर फैले; जिससे, अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक, हमारा हृदय सन्तोष को प्राप्त होवे ।

४—भारतदुर्भिक्ष

(११ मार्च, १८९७ के हिन्दोस्थान में प्रकाशित)

(१)

हे रघुराज ! लाज भारत की आज रहै किहि भाँती;
अति विकराल काल की भीषण भेरी सुनी न जाती।
नाती पूत मीत ममता तजि भये सुजाति कुजाती;
हा हा कार सुनत लोगन के काकी फटै न छाती ?

(२)

गली गली कंगाल पेट पर हाथ दोउ धरि धावैं।
अन्न अन्न पानी पानी कहि शोर प्रचण्ड मचावैं।
बालक, युवा, जरठ, नारी, नर, भूख भूखि कहि गावैं;
अविरल अश्रुधार आँखिन ते बारबार बहावैं ॥

(३)

अस्थिमात्र जिनके शरीर है ऐसे बालक नाना,
गोद माहिं माता की लिपटे रोवत कण्ठ सुखाना।
माँगे मिलै न भीख माय कहँ किहि विधि राखहि प्राना,
विह्वल विकल विपन्न पुकारति हा ! हा ! ! हा भगवाना ! ! !

(४)

पति से पृथक भई नव पतनी मातु सुता सँग त्यागी,
पिता पुत्र तजि हाय ! वाय मुख माँगत टूक अभागी।
जननी प्रान तुल्य शिशु बेंचत इक दिन भोजन लागी,
त्राहि कहत टीडीदल त त फिरै प्रजा सब भागी ॥

(५)

पति मुख देखि देखि पतनी अति बोलत आरत बानी,
"नाथ देहु मोहिं लाय आज कछु नातर वयस सिरानी"।
सन्ध्या समय रिक्तकर पति कहँ लखि वहु रोदन ठानी,
सिर धुनि, विलपि, मीचु के मुख में कुलकामिनी समानी ॥

(६)

"मरे मरे अब अवशि आजु" इमि बोलत लाखन प्रानी,
वस्त्रविहीन दीन दुख रोवत जानत सूम न दानी।

सुतहिं फेंकि माता जठरानल-जरी भगीं अकुलानी,
मा! मा!! मा!!! पुकार शिशु केरी नेकु न मन में आनी॥

(७)

लोचन चले गये भीतर कहुँ कटक सम कच छाये,
कर में खप्पर लिये, अनेकन जीरण पट लपटाये।
मास विहीन हाड की ढेरी भीषण भेष बनाये,
मनहु प्रबल दुर्भिक्ष रूप बहु धरि विचरत सुख पाये॥

(८)

शक्ति नहीं जिनके बोलन की तकि तकि मुख फैलावैं,
सींक समान पैर लीन्हे बहु रोवत गोबर खावैं।
गुठुली खान हेत बेरन की ढूँढत सोउ न पावैं,
पग पग चलैं गिरैं पग पग पर आरत नाद सुनावैं॥

(९)

"अरे जाहु कगाल भवन" यह सुनत अधिक दुख पावैं।
कहैं वहाँ पगु धरतहिं हम कहँ कर धरि दड भगावैं।
रहन देहिं दिन द्वैक कदाचित आ हि पाव खिलावैं।
महाराज! कहिए किहि विधि हम अपने प्राण बचावैं॥

(१०)

मन्द दृष्टि यदि ईश! भये, जन-दशा न परै दिखाई,
तो लारेन्स मेव ते चश्मा कस नहिं लेहु मँगाई?
श्रवण-शक्ति यदि विकृत, लोककृत विनय न परै सुनाई,
केम्प कम्पनी ते इक नलिका-यन्त्र देहिं पठवाई॥

(११)

तुम सर्वज्ञ सर्वदर्शी प्रभु यह हमार लरिकाई,
अनुचित कहहिं बार बहु तुम कहँ जो यहि विधि दुख पाई।
करैं कहा फिरि हे करुणानिधि! विपति सही नहिं जाई।
मृतक ढेर के ढेर होत नित सुत पितु भगिनी भाई॥

(१२)

मातु पिता सुत सुता सकल मिलि जहँ बहु कीन्ह कलोलैं,
प्रीति समेत परस्पर प्रति दिन मृदुल वचन जहँ बोलैं।

लखि परिवार पुष्ट अपनो कस हरी हरीरि दिखावै ?
शोकानल स्वजाति को अपनेहु हाय न हृदय जरावै !

(१९)

प्रिये ! प्रिये ! कहि कण्ठ लगावहु जिनको अति सनमानी,
उन समान लागौं अनाथिनी तिया नैन भरि पानी।
तजि घर-द्वार अहार हेत बहु बोलत गद्गद बानी,
तिनकी ओर तनिक तो चितवहु करुणा कहाँ भुलानी ?

(२०)

बृटिश सिंह हुंकार यदपि जन-दुःख दूर लौं खोवै,
यदपि दुष्ट दुर्भिक्ष कहूँ कहुँ सुख की नींद न सोवै।
तदपि सकल की मिलि सहाय जो कछु कछु विपति विगोवै,
तो न हाय आरत यह भारत अब को गारत होवै॥

५—त्राहि ! नाथ !! त्राहि !!!

(२९ नवम्बर, १८९७ के हिन्दी-बंगवासी में प्रकाशित)

(१)

हे जगदीश ! शीश मैं अपनो बीस बार महि धारी,
पुनि पुनि पुनि तृण तोरि जोरि कर विनती करो तिहारी।
कोप शान्त करि कान्त रूप धरि हरे ! हरहु दुख भारी,
न तु पाताल प्रवेश करैगो अब यह देश दुखारी॥

(२)

एक नही, द्वै नही, तीनि नहिं, चारिहु नहिं, वरु नाना,
विपति एक ते एक भयकर देहु, धन्य भगवाना !
वीर्यहीन अति दीन देश यह तापर शर सन्धाना,
मृतकप्राय काहि मारन हित धरहिं न धनु बलवाना॥

(३)

नाना रत्न पूरि जिहि माहीं शोभा जासु बढ़ाई,
पुण्य भूमि भारत नाम करि सकल कला उपजाई।
प्रभुता जासु सर्व देशन पै प्रथमहिं ते प्रकटाई,
ताही कहँ अरक्ष करिबे को प्रभु अब भुजा उठाई!

(४)

स्वकृत सूतिकागेह, नेह तजि, बालकहू न नसावै,
करि रक्षा ताकी उपाय भरि, स्वस्थ देखि सुख पावै।
तुम सर्वज्ञ शक्ति-संयुत हौ श्रुति महर्षिगण गावैं,
भाँति भाँति के विशद विशेषण नाम संग तव लावैं॥

(५)

हरे! सोइ तुम पुरुष पुरातन, स्वामी, जगदाधारा,
रम्य बनाय देश भारत कहँ चाहहु ताहि उजारा।
लखि अनर्थ अस जो पै करुणा नाहिं तव हृदय बिदारा,
ईश! तुम्हिं तजि लाज लेशहु कह कहुँ अन्त सिधारा?

(६)

सर्वस करि अर्पित अपनो मघवा दीन न मानो,
शिबि हू धर्मराज-रूप में सह्यो ताड़न प्रानो।
रहे कलङ्क बनी मानो जे तिनहुँ को मिटो निशानी,
करुणासागर तऊ देव तुम करुणा हिये न आनो!

(७)

पर्यो पानी पानी माँगत यही विश्व की बानी,
ज्वार, बाजरा, मोठ, मूँग सब कहूँ की तहाँ सुखानी।
लेन जाय यदि ऋण कोऊ कहुँ कौड़िहु मिलै न कानी,
अस दुर्भिक्ष देखि लोगन की सुधि-बुधि सबै भुलानी॥

(८)

अन्न अन्न अवसन्न पुकारत भये प्रजा अकुलाई,
खाल, बाल अरु अस्थिजालमय भये शरीर सुखाई।
पुत्र प्राण प्रिय मेरे चून लगि गये अनेक बिकाई,
दयानिधे! सोउ सकल दीख तुमपै हिय दया न आई॥

(९)

मिलै घास-भूसा नहिं ढूँढे मूसा घर तजि भागे,
रुपिया अश्व, अठन्नी महिषी, बैल चवन्नी लागे।
भये सुजाति कुजाति धर्म बिनु कुलमर्यादा त्यागे,
सुख से सोवत रहे शेष पै तौहू तुम नहिं जागे॥

(१०)

बहुरि भयौ भूकम्प भयकर प्रलय प्रचण्ड समाना,
वङ्ग देश कर अग-भग सुनि काको हिय न सकाना?
बडे बडे प्रासाद ध्वस्त भे अस्त भये घर नाना,
दण्ड एक लौं खण्ड खण्ड ह्वै गिरि, गिरिकुल घहराना॥

(११)

नगर भव्य भारी शिलाग सम नारी नर सह सारा,
भयो पलक महँ भूतलशायी जानत सब ससारा।
घरविहीन अति दीन मनुज जे भगे हजार हजारा,
रेत-वृष्टि आदिक उतपातन तिन सब कहँ महारा॥

(१२)

जहाँ नदी तहँ मरु प्रदेश भो, जहँ मरु तहँ जल-धारा,
फटी भूमि महँ गये अनेकन जन, करि हाहाकारा।
तप्त-धातु के चले फुहारे जिन वहु जीवन जारा,
तबहूँ तुम न धाय गरुडध्वज! भुजा उठाय उबारा॥

(१३)

तदनन्तर सीमा-प्रदेश महँ रण अति भीषण गाजा,
सेना साजि साजि जहँ अपनी गये अनेकन राजा।
गुरखा, सिक्ख, पठान, पुरबिया, राजपूत सिरताजा,
सजे फिरगिन सग जग हित बजे वीररस बाजा॥

(१४)

होत घोर सग्राम दिवानिशि बहे रुधिर के नारे,
"यह रण अपर महाभारत है इमि भाखहिं नर सारे।"
शीशहीन, करहीन, हीनपद, भे वहु वीर विचारे,
अगणित भट, अगणित खर, घोटक, कटि यमपुरी पधारे॥

(१५)

भई भर्तृहीना जे नारी तिनकी क्लेश-कहानी,
सुनि पत्थरहू फटै, और की गति को कहै बखानी ?
होवैं वलि समराग्निकुण्ड महँ झुण्ड झुण्ड नित प्रानी,
तऊ शीघ्र नहिं शान्त कीन रण, ईश ! काह मन ठानी ?

(१६)

इतनेहुँ पर न तोष उर आना आँधी प्रबल चलाई,
भूमिकम्प में शेष रहे जे, ते घर-द्वार गिराई।
अर्द्ध लक्ष लौं मनुज मीचु के दीन्ह्यो अतिथि बनाई,
जानि परै अब हरे ! हमहिं यह रसा रसातल जाई॥

(१७)

यह जो भयो, भयो सो सब, अब मरी मरी है आई,
धारि त्रिविक्रम रूप आदि महँ प्रति दिन बाढ़त जाई।
मुम्बापुरी, कराची, पूना, सूरत सारी खाई,
तौहू तृप्ति भई याकी नहिं, अधिक अधिक अधिकाई॥

(१८)

ग्राम अनेकन नाम शेष भे याम माहिं कहि 'रामा',
प्राण देहि शत शत प्राणी नित शून्य होहिं बहु धामा।
रोवै को ? मनुष्य बिन इत-उत मृतक परे सब ठामा,
सुनत विदीर्ण होय हिय, इतने हृषीकेश ! तुम वामा !!

(१९)

हरिद्वार, कनखल, जालन्धर पहुँचि यक्षिणी मारी,
भक्षण लगी मनुष्यन हा ! हा ! लक्षण अति भयकारी।
बचब कौन विधि हे जगदीश्वर ! अब ध्रुव मृत्यु हमारी,
अस विचारि व्याकुल सब कोई आये शरण तिहारी॥

(२०)

स्वकृत सकल अपराधजन्य जन दण्ड विविध विधि पाई,
हाहाकार पुकारि, जोरि कर, सहस बार सिर नाई।
चाहत नाथ ! नाश मारी कर, ताहि भगावहु धाई,
कीजै लोप कोप अपनो यह, अब दुख सहो न जाई॥

(२१)

किये बिलम्ब, प्रलय पूरी इत ह्वै है, तब पछितैहौ,
स्वकर बनाये को बिगारि कै, अन्त ताप हिय पैहौ।
नहिं, नहिं, अस कदापि करिहौ नहि, दया-दृष्टि तुम दैहौ,
प्रणतपाल! यहि काल उबारन, ऐहौ, ऐहौ, ऐहौ॥

-कान्यकुब्जलीलामृतम्

(संस्कृतचन्द्रिकाया षष्ठखण्डस्य षष्ठसंख्याया प्रकाशितम्।)

(१)

सदैव शुक्लारुण पीतवर्ण-
पाटीरपकावृतसर्वभाल!
आभूतलालम्बिदुकूलधारिन्!
हे कान्यकुब्ज-द्विज! ते नमोऽस्तु॥

सफेद, लाल, और पीले रंग के चन्दन का खौर जिसके सारे मस्तक पर चढा हुआ है; धोती जिसकी इतनी लम्बी है कि जमीन तक की खबर लेती है; ऐसे हे कान्यकुब्ज देवता जी! आपको हमारा नमस्कार है।

(२)

बहूनि गायन्ति यशस्त्वदीय
पत्राणि* ते वंशधरैः कृतानि।
एकस्य तन्मे मितभाषिणस्त्व-
मिदं क्षमस्व स्तवचञ्चलत्वम्॥

आपके वंशवाले अनेक कन्नौजिये ब्राह्मण अपने अपने समाचार-पत्रों में आपका यश गाया करते हैं। हम तो अकेले ही हैं, और अकेले होकर भी हजार-दो हजार की कौन कहे, केवल तीस-चालीस ही श्लोक कहने

* समाचारपत्राणि।

की शक्ति रखते है, अतएव इस स्तोत्र के लिखने मे, हमारी चपलता, आप क्षमा कीजिए।

(३)

भवन्ति ते धन्यतमा द्विजा, ये
त्वदीयसम्बन्धमवाप्नुवन्ति।
व्रजन्ति ते ब्रह्मपदं तथान्ते
त एव वंशं निजमुन्नयन्ति॥

जिन पुण्यवान् ब्राह्मणो से आप सम्बन्ध करते है, वे धन्य हैं; ब्रह्म-पद उन्ही को अन्त में मिलता है, और वही अपना वंश उच्च पदवी को पहुँचाते हैं।

(४)

अहो दयालुत्वमतः परं किं?
यथेप्सितं यद् द्रविणं गृहीत्वा।
निन्द्यानपि त्वं विमलीकरोषि
तदीयकन्याकरपीडनेन॥

आप बड़े दयालु है ! इससे अधिक, कहिए, और क्या दयालुता हो सकती है कि, मनमाना रुपया ऐंठ कर आप निंद्य से निंद्यो को भी, उनकी कन्या का पाणिग्रहण करके, (चन्द्रमा के समान) उज्ज्वल कर देते है?

(५)

स्वगोत्रजानेव यदा सदा त्वं
"किं घाकरै* स्तै"? रिति धिक्करोषि।
तदाऽन्यजातीयजनास्त्वदीया
के नाम नाम वन्द्यैरपि वन्दनीयाः?॥

"अरे उन घाकरो से क्या मतलब?" इस प्रकार भला जब आप अपने सगोत्रजो ही को धिक्कारा करते है, तब दूसरी जातिवाले, फिर चाहे महात्मा भी उनका आदर क्यो न करते हो, आपके सामने क्या चीज हैं?

---

* घाकरै प्र.कृतसंज्ञाविशेषै.।

(६)

शास्त्रीयवार्तानु भवत्यहो ते
मुखे रसज्ञा किल कीलितेव।
स्थिते तु वैवाह्निकभापणे त्व-
माविष्करोप्यद्भुतवाक्पटुत्वम् ॥

शास्त्रीय वार्ता होने पर आपकी जीभ आपके मुखारविन्द मे कीलो से जड-सी दी जाती है; परन्तु विवाह-काज की बात निकलते ही, अहु! आपकी जवान एक मिनट में सौ मील के हिसाब से चलने लगती है!।

(७)

शेषस्तदा किं रसनासहस्र
स्वीयं महीदेव! ददाति तुभ्यम्?
येन त्वदुक्तिप्रखरप्रवाहै-
स्तिरस्क्रियन्ते बहु वाग्मिनोऽपि ॥

उस समय, शेष महाराज, क्या आपको अपनी हजार जिह्वायें दे देते हैं जो आपकी बातो के वेगगामी प्रवाह के सामने बडे बडे वक्ताओ को भी हार माननी पडती है?

(८)

मन्ये तदैव त्वयि वासवोऽपि
न्यासीकरोत्यक्षिचयं स्वकीयम्।
न चेन्निमेषेण कथं परेषां
दोषानसङ्ख्यांश्च समीक्षसे त्वम् ॥

हमारी समझ में, उस समय, इन्द्र महाराज अपनी हजार आँखें आपके पास गिरवी रख देते हैं; क्योकि, यदि ऐसा न होता तो, दूसरो के असंख्य दो आप, आँख की पुतली बदलते बदलते किस प्रकार गिन जाते?

(९)

कन्याविवाहे समुपस्थिते त्व-
मृणं गृहाभूषणदिकं च।
कृत्वा, कृतार्थं मनुषे नृजन्म
विलक्षणौदार्यमिदं त्वदीयम ॥

कन्या का विवाह उपस्थित होने पर, ऋण लेकर, घर बेचकर, जेवर बेचकर, हर तरह से आप (विवाह से निश्चिन्त होकर) अपना जन्म कृतार्थ समझते हैं। ओह! हो! आपकी उदारता का कुछ ठिकाना है? विलक्षण है!

(१०)

पुन पुन पुत्रवधूपितुश्च
धनानि हृत्वाऽपि धरासुरेन्द्र!
निरन्तर तस्य कदर्थनाया
न शोभते ते रसनोपयोग.॥

ब्राह्मण-राज! अनेक बहाने से पुन पुन. अपने समधी देवता से रुपये वसूल करके भी निरन्तर उसकी कदर्थना करने में आपकी जिह्वा शोभा नही पाती।

(११)

गुणान्वित, द्रव्ययुत, विहाय
हा! भूसुर! त्व कुलपक्षपातिन्!
मूर्खाय, नि.स्वाय, वराय कन्या
प्रदाय तज्जन्म वृथाकरोपि॥

हे कुलपक्षपाती ब्राह्मण देवता! आप गुणी और धनी लड़के की ओर दृग्पात न करके, मूर्ख और दरिद्री लड़के को, कन्या देकर, हाय! हाय! उस बिचारी के जन्म का सत्यानाश करते है!

(१२)

कि विद्यया? कि तव कर्षणेन?
व्यापारवृत्त्या किमु? चापि भृत्या?
जयत्यहो स श्वशुरालयस्ते
त्व कल्पवृक्षीयसि य सदैव॥

आपको विद्या मे क्या? किसानी से क्या? व्यापार से क्या? और नौकरी-चाकरी से भी क्या? आप क्यो इनका आश्रय लेने लगे? जीती रहै आपकी ससुराल, जिसे आप कल्पवृक्ष समझते है, और जहाँ से कुछ न कुछ सदैव जटते ही रहते हैं।

(१३)

निःशेषनिन्द्यव्यसनेषु नित्य
शनैः शनैर्नाशितवित्तजातः ।
चिरेण जागर्षि चमत्कृतः सन्
विद्राव्य दीर्घालसघोरनिद्राम् ॥

नाना प्रकार के निन्द्य व्यसनो में लिप्त होकर धीरे धीरे जब आप अपना सर्वस्व खो बैठते है, तब दीर्घ आलस्यरूपी आपकी घोर निद्रा भंग होती है, और आपकी आंख खुलती है। उस समय आपको आटा-दाल का भाव मालूम होता है।

(१४)

यत्नेन केनापि तदा कथचित्
करोषि कष्टेन वयोऽतिपातम् ।
तथापि हा ! हा ! न जहासि शुष्क
गभीरगर्व वरवशजातम् ॥

पूर्वोक्त अवस्था को प्राप्त होने पर आप किसी प्रकार जैसे-तैसे बडे कष्ट से अपने दिन काटते है। परन्तु उस दशा में भी हाय ! हाय ! आप अपनी कुलीनता का शुष्क गर्व नही छोडते !

(१५)

अल विवाहादिविधिस्तवेन
हे कान्यकुब्जावनिदेव ! देव !
अतः पर पश्य निजान्यलीला
श्रुतिस्मृतिस्थापितधर्मशीलाम् ॥

हे कान्यकुब्ज महाराज ! विवाहादि विषयक आपका स्तोत्र हम अधिक नही बढ़ाना चाहते ! उसे हम यही तक रहने देते है। अब, आप श्रुति और स्मृति के द्वारा स्थापन किये गये धर्म का ठीक अनुसरण करनेवाली, अपनी अन्य लीलाओ को देखिए।

(१६)

ते वाजपेयादिसवा कृतास्तै-
रेकद्विवार तव पूर्वजैस्तु ।

पारावतच्छागलमत्स्यमेधा
मखा गृहे ते प्रभवन्त्यनेका ॥

पूर्वकाल में आपके पूर्वजो ने वे वाजपेय आदि यज्ञ एक ही दो बार किये है, परन्तु आपके घर में, अश्वमेध के साथी कबूतरमेध, छागमेध, मछलीमेध इत्यादि अनेक यज्ञ हुआ ही करते है।

(१७)

स्वभ्रातृगेहेऽपि यदाऽप्रसन्न
पानीयपानेऽपि शिरो धुनोषि ।
वेश्याजनस्यान्न रसामृतेन
कृतार्थता यासि यदाऽसि तुष्ट ॥

आप जब कुपित होते है तब अपने सगे भाई के भी घर में, और वस्तु की बात नही करते, पानी भी पीने में सिर हिलाते है, परन्तु जब आप प्रसन्न होते है तब वेश्याजना के भी अन्नरामृत से अपने को कृतार्थ समझते है।

(१८)

समाजमुख्यास्तव ये सभासु
तेषा चरित्र भुवनातिशायि ।
विहाय काश्चिद्गणयन्ति नान्या-
स्ते कान्यकुब्जद्विजनामयोग्यान् ॥

आपकी सभा में समाज के जो मुखिया है उनका चरित्र बहुत ही बढा-चढा है। वे दो-चार को छोड, शेष सबको कान्यकुब्ज कहलाये जाने के योग्य ही नही समझते।

(१९)

विशिष्टविद्यापरिशीलनेन
बुद्धेर्विकाशो भवतीति नीति ।
एषामहो त्वद्विदुषामुदार-
भाव पर सङ्कुचतीव भाति ॥

विद्याध्ययन से बुद्धि का विकाश होता है और मनुष्य में उदारता आती है, यही सुनते आये है, परन्तु बडे आश्चर्य की बात है कि आपके न सामाजिक विद्वानो का उदार-भाव उलटा सकुचित-सा होता जाता है।

(२०)

नैव करिष्यामि वृथान्ननाशं
नैव ग्रहीष्यामि न विवाहे।
उच्चैरिति त्वं परिषत्सु नित्यं
करोषि भूदेव! दृढां प्रतिज्ञाम्॥

"हम बढार में अब कभी इतनी पूरी नष्ट नहीं करेंगे, कच्ची के दिन कभी इतना भात व्यर्थ न परोसेंगे, विवाह में मोल-तोल करके कभी अधिक द्रव्योपार्जन की इच्छा न करेंगे" इस प्रकार, हे ब्राह्मण देवता! आप अपनी सभाओ में सदैव लम्बी-चौडी प्रतिज्ञा, जोश मे आकर, किया करते हैं।

(२१)

परन्तु तत्तन्नियमावलीनां
निवेश्य पत्रं गृहपेटिकायाम्।
उपस्थिते विप्र! विवाहकाले
सर्वं क्षणाद्विस्मरसीति चित्रम्॥

परन्तु, विवाह के समय उन सारे नियमो के कागज़ का बंडल घर के भीतर किसी नज़रबूत-सी सन्दूक में बन्दकर (और ऊपर से उसमे ताला भर) हे विप्र जी! आप उन सब बातो को एक क्षण में भूल जाते हैं। आपका अजब हाल है।

(२२)

अध्यक्षतां, किंबहुना, त्वदीयां
गृह्णन्ति ये तेऽपि तदा पलाय्य।
स्वः श्वि गागूलमितस्ततश्च
गूहन्ति भीता इव भो द्विजेन्द्र!

हे ब्राह्मणों के इन्द्र! अब अधिक और क्या आपसे कहें? आपकी अध्यक्षता को जो ग्रहण करते हैं वे भी, विवाह-काज उपस्थित होने पर, अपनी लम्बी दुम को, भयभीत की भाँति, इधर-उधर, छिपाते फिरते हैं।

(२३)

अपव्ययन्ते भवति द्विजेश!
किं नातिनिग्रव्यसनेषु नित्यम्?

पर स्थिते सर्वंममाजकार्ये
पुरस्त्वमंगुष्टशिरः करोषि ॥

हे विप्रराज! अनेक निन्द्य व्यसनो में प्रतिदिन क्या आपका वृथा व्यय नही हुआ करता? कुछ न कुछ हुआ ही करता है। परन्तु समाज का काम पडने पर आप अँगूठे ही को आगे करते है!

(२४)

त्वयि प्रसन्ने च तथाऽप्रसन्ने
हानिः समाना भवति द्विजानाम्।
तुष्टः समाकर्षसि वित्तराशि
रुष्टो व्यथा त्व हृदये ददासि॥

आप जब अप्रसन्न होते है तब आपके वर्गवाले ब्राह्मणो की हानि होती ही है (कन्या के लिए वर मिलना मुश्किल हो जाता है) परन्तु विचित्रता यह है कि, आपके प्रसन्न होने से भी उनकी हानि होती है। देखिए— सन्तुष्ट होकर आप अपने सम्बन्धियो के यहाँ से रुपये की खीच करते है और रुष्ट होकर, हृदय को, अपने कुटिलाचरण से दुःख देते है।

(२५)

मृगेन्द्रता यल्लभते बलेन
सिंहो वने, तत्तु यथार्थमेव।
कुतस्तदा विप्र! वद त्वमेव
महीसुरेन्द्रत्वमिद त्वयाप्तम्?

जगल में, जंगली जीवो के बीच, सिंह, अपने पराक्रम से मृगेन्द्र कहलाता है—सो तो यथार्थ है; परन्तु विप्रजी! आप यह तो बतलाइए कि, "कान्यकुब्जाद्विजाः श्रेष्ठा" यह जो आप अपने ब्राह्मणेन्द्रत्व का विधायक मन्त्र जपा करते है, वह कहाँ से आया, आप ब्राह्मणो मे श्रेष्ठ किस प्रकार हुए?

(२६)

का नाम सन्ध्या? प्रणवोऽपि सम्यङ्
नोच्चार्यते ते स्वजनैरनेकैः।
महीसुरश्रेष्ठ! बलात्तथापि
स्वश्रेष्ठता त्वं विजहासि नैव॥

सध्या की कौन कहे आपके अनेक वशज प्रणव भी ठीक ठीक नही उच्चारण कर सकते, परन्तु, तिस पर भी, हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ ! आप जबरदस्ती अपनी श्रेष्ठता को नही छोडते !

(२७)

नदस्ति किं त्व कथय द्विजेन्द्र !
मूर्खोऽपि सन्स्थापयसीह येन ।
निजोच्चतामन्यमहीसुरेभ्य
स्वगोत्रजेभ्योपि विवाहकाले ॥

द्विजेन्द्र जी ! आप यह तो वतलाइए कि, वह कौन-सी चीज आपके पास है, जिसके कारण, विवाह-काल में, मूर्ख होकर भी आप अपने ही गोत्र-वाले और ब्राह्मणो से, अपने को उच्च स्थिर करते है ?

(२८)

यश पवित्र निजपूर्वजानाम्
विभाव्यते कि भवता सगर्वम् ?
निवेदय त्व शपथेन तेषा
के के गुणा आत्मनि सगृहीता ॥

क्या आप अपने पूर्वजो के पवित्र यश का विचार करके गर्व से फूल उठते है ? अच्छा, कसम पर कहिए तो सही, उन लोगो के कौन-कौन से गुण आपने ग्रहण किये हैं।

(२९)

त्व नाममात्रग्रहणेन तेषा
श्रीहर्षमिश्रादिमहाजनानाम् ।
समीहसे पूज्यपद ग्रहीतु-
महो विमोहस्य विजृम्भण ते !

हम अमुक घराने के हैं—इस प्रकार केवल नाममात्र का उच्चारण करके, आप, श्रीहर्षमिश्र आदि महात्माओ की पूज्य पदवी को पाने की इच्छा करते है ! शाबाश !! आपका मोह इतना उद्दड !!!

(३०)

आस्ते यथोक्तैव दशा त्वदीया
तथापि केचिद्भुवि कान्यकुब्जा ।

सन्त्येव शुद्धाचरणाञ्च येषा
सन्दर्शनं पुण्यकरं नराणाम् ॥

आपकी दशा तो वैसी ही है जैसी ऊपर वर्णन हो चुकी है; तथापि ऐसे भी कोई कोई शुद्धाचरणवाले कान्यकुब्ज महात्मा पडे है जिनके दर्शन-मात्र से पुण्य होता है ·

(३१)

आस्तामिद तत्तव लीलयाऽलं
पार व्रजेत्क कथनेन तस्या· ?
अतोऽनुना साञ्जलिबन्धमेत-
द्यदुच्यते तच्छृणु भूमुरेन्द्र !

अच्छा अब इसे जाने दीजिए। आपकी लीला का वर्णन हम यही समाप्त करना चाहते है। भला कौन ऐसा पराक्रमी है जो उसका सविस्तर वर्णन करके उसके पार तक पहुँचने में समर्थ हो? हे भूमिदेव! हमारी अब आपसे हाथ जोड कर यह प्रार्थना है कि, जो कुछ हम आगे कहते हैं, उसे कृपा-पूर्वक आप सुन लीजिए।

(३२)

दिनानि ते तानि गतानि, नात
शुष्काभिमानेन सुवंशजेन।
भविष्यति त्वत्कुशलं कदापि
विचिन्तयान्त करणे त्वमेव ॥

कहना यही है कि, आपके वे पहले दिन गये। उच्चकुल में पैदा होने के शुष्क अभिमान को आप अब जाने दीजिए। ऐसा न करने से आप कदापि अपनी कुशल न समझे। आप अपने अन्त करण में विचार करके देखिए, इसी में आपकी भलाई है।

(३३)

त्यजालसं, शीलय विप्र! विद्या
विधेहि दुष्टव्यवहारनाशम्।
उदारता बन्धुषु दर्शय त्वं
कुरुष्व कार्यं सुजनादृता च ॥

विप्र जी ! आप आलस्य छोड़िए, विद्या पढ़िए, बुरे बुरे व्यवहारों की 'इति श्री' कीजिए, अपनी जातिवालों के ऊपर अधिक उदार हूजिए, और भले आदमी जिस काम को अच्छा कहते हैं उसे करना सीखिए।

(३४)

महत्त्वमायाति हि मानवेषु
सुविद्ययैवात्र मनुः प्रमाणम् ।
मन्दादरस्तद्वचने यदि त्वं
तदा न किं हन्त हतः स्वधर्मः ?

भली भाँति विद्याभ्यास करने ही से मनुष्यों को महत्त्व प्राप्त होता है। इसमें प्रत्यक्ष मनु जी प्रमाण हैं। यदि आप उनके भी वचन का निरादर करेंगे तो हाय ! हाय ! हम समझेंगे, हमारा धर्म आज ही रसातल को चला गया !

(३५)

मन्मभूखेऽसौ किल कः पदार्थो
विभावनेयं भवतस्त्व माऽभूत् ।
यदस्ति किञ्चिद्वचने मदीये
ग्राह्यं, गृहाण, त्यज सर्वमन्यत् ॥

"छोटे मुँह बड़ी बात करनेवाला हमारे सम्मुख यह क्या वस्तु है ?" इस प्रकार आपको कभी न कहना चाहिए। जो कुछ हमने आपसे विनय किया उसमें, यदि कुछ भी आपके ग्रहण करने के योग्य है तो, उसे ले लीजिए और शेष सब जाने दीजिए।

(३६)

त्वत्कीर्तिगाने, चरितामृतस्य
पाने, रता विप्र ! पुराविदोऽपि ।
जानन्ति के नो तव सप्रमाणं
यशः पुराणादिषु वर्ण्यमानम् ?

हे विप्रदेवता! आपकी कीर्ति के गाने और आपके चरितरूपी अमृत के पान करने में पुरातन ऋषि भी निमग्न रहे हैं। पुराणादिकों में प्रमाणपूर्वक वर्णन किये गये आपके यश को कौन नहीं जानता ? सभी जानते हैं।

(३७)

न विस्मरातश्चरितं पवित्रं
शाण्डिल्यकात्यायनकाश्यपानाम् ।
अद्यापि विद्याविभवेन येषां
विभूष्यते भारतभूमिखण्ड ॥

अतएव शांडिल्य, कात्यायन, काश्यप आदि अपने पूर्वजो के पवित्र चरित को आप न भूल जाइए। देखिए, न महात्माओ की अप्रतिम विद्या इस भारतवर्ष देश को अब तक आभूषित कर रही है ।

(३८)

किं विस्तरेण बहुनेति हृदि प्रधार्य
हे कान्यकुब्जमहिदेव ! नमस्करोमि ।
स्वस्यैव मामपि कुलस्य करीररूप*
जानीहि सादरमय विनयो मदीय ॥

"बहुत विस्तार करने से क्या लाभ है?" इस प्रकार मन में विचार कर, हे कान्यकुब्ज महराज! हम अब आपको नमस्कार करते है। आदर-पूर्वक आपसे यही एक हमारा विनय है कि, आप हमें भी अपने ही वंश का एक अति छोटा अंकुर समझिए। बिलकुल ही निकाल बाहर न कीजिए।

७—समाचारपत्रसम्पादकस्तवः

(संस्कृतचन्द्रिकाया षष्ठखण्डस्य द्वितीयसंख्यायां प्रकाशित.)

(१)

देशोपकारव्रतधारकाय
नानाकलाकौशलकोविदाय।
नि शेषशास्त्रेषु च दीक्षिताय
सम्पादकाय प्रणतिर्ममाऽस्तु ॥

---

* वंशांकुररूपमित्यर्थ. ।

देशोपकाररूपी व्रत जिसने धारण किया है; नाना प्रकार के कला-कौशल में जो कुशल है; समस्त शास्त्रों में जिसने दीक्षा ग्रहण की है—ऐसे सम्पादक को हमारा नमस्कार है।

(२)

पत्रे स्वकीये जगदेकनेत्रे
शिशुं त्रिपाद त्रिशिरस्त्रिकरञ्च।
सृजस्त्वजस्रं कुतुकेन तेन
सम्पादक! त्वं चतुराननोऽसि॥

सारे संसार के नेत्ररूपी अपने पत्र में तीन पैर, तीन सिर, तीन हाथ के लड़के (इत्यादि) की अपूर्व सृष्टि आप कुतूहल से रचते हैं। अत: हे सम्पादक जी! आप ब्रह्मदेव हैं।

(३)

आकृष्टुमुच्चैर्निजपत्रमूल्य
नर्म प्रहारादिविधैर्विधाने।
समस्तमायाविशिरोमणित्वात्
त्वमेव सम्पादक! माधवोऽसि॥

अपने पत्र का मूल्य वसूल करने के लिए नाना प्रकार के उपहारों का विधि-विधान करने में समस्त मायावी जनों को आप मात करते हैं; इसलिए, हम आपही को (मायामय) विष्णु भगवान् जानते हैं।

(४)

स्वदोषराशिञ्च तृणं विधाय
त्रुटिं समालम्ब्य लघुं परेषाम्।
अलेख्यलेखैः कृतकान्तनाशात्
त्वमीश्वरो भीमभयकरोऽसि॥

अपने दोषों के ढेर को तृणवत् देखकर, दूसरों की अत्यल्प त्रुटि के ऊपर, जिन्हें लिखते लज्जा आती है, ऐसे लेख लिखकर, आप कान्तनाश करते हैं, अतएव आप (कान्त के नाश करनेवाले) शंकर महादेव हैं।

(५)

सम्पादक! त्वत्तनयैव निन्दा
निद्रा सखि त्वत्कलमप्रदाने।

वृत्ताऽऽदृतास्तेऽपि भवन्ति हेयाः
सकोपदृक्कोणकटाक्षपातात् ॥

सम्पादक जी ! आपकी कृपा ही से निंद्य भी लेख (आपके पत्र में) स्थान पाते है, और आपही की कुपित दृष्टि-कटाक्ष से, विद्वानो मे आदर किये गये भी लेख निंद्य हो जाते हैं।

(६)

त्वं लेखनी पाणितले निधाय
विराजसे वीर ! यदाऽऽसने स्वे ।
सुरेन्द्रसिंहासनमप्यचिन्त्य
तदाऽतिगर्वेण तिरस्करोषि ॥

हे वीर ! जिस समय, आप अपने हाथ मे लेखनी को लेकर अपने आसन पर आसीन होते हैं, उस समय इन्द्र के अचिन्त्य सिंहासन को भी गर्वातिशय से आप तुच्छ समझते हैं।

(७)

गृह्णासि सम्पादकता यदैव
तदैव शास्त्राणि सविस्तराणि ।
भाषाः समस्ताः सकला कलाश्च
त्वां त्वद्भयेनेव समाश्रयन्ति ॥

आप ज्यो ही सम्पादकता को ग्रहण करते हैं त्यो ही सारे शास्त्र, सारी भाषा और सारी कला मानो आपके डर से आपका आश्रय लेती है।

(८)

अहो ! विचित्रं तदतीव भाति
सम्पादकत्वेन सहैव यत्ते ।
आयाति शक्तिर्मनसि क्षणेन,
नानानवीनौषधिकल्पनायाः ॥

एक बात यह अति विचित्र जान पडती है कि सम्पादकत्व के साथ ही, क्षणमात्र मे, आपके हृदय में नाना प्रकार की नवीन ओषधियो की कल्पना करने की शक्ति आ जाती है।

(९)

पत्रेषु सम्प्रेषितपुस्तकाना
नामैव गृह्णन् विदधासि मौनम् ।
आलोचनामन्यकृता तथाऽपि
रम्यामपि त्व किल धिक्करोषि ।

भेजी हुई पुस्तको का अपने पत्र में नाम मात्र देकर आप मौन धारण करते है, तथापि और की की हुई अच्छी भी समालोचना आपके मन नही आती ।

(१०)

विज्ञप्तिमेता शृणु मामकीना
वदामि सम्पादक ! ते हिताय ।
परस्य मत्पुस्तकपत्रकेभ्यो
मा, मैव गुप्त विषयान् हर त्वम् ।।

हमारी एक विज्ञप्ति आप अवश्य सुन लीजिए; हम आपके अच्छे के लिए कहते है । सम्पादक जी ! आप छिपे छिपे औरो की पुस्तक और पत्रो से विषय कभी न चुराया कीजिए ।

(११)

टाइम्समुख्यानि जयन्तु तानि
पत्राणि येभ्य परिगृह्य वार्ता ।
त्वमन्यदानोदरपूरकस्य
प्राणान् स्वपत्रस्य सदैव पासि ।।

दूसरो के दान से उदर पूर्ण करनेवाले अपने पत्र के प्राण, जिनसे समाचार चुन चुन कर, आप पालते है, वे टाइम्स इत्यादि पत्र जीते रहे ।

(१२)

नम्रोऽस्मि मूल्यग्रहणे, च मौनी
पत्रोत्तरे, दोषनिदर्शने रुष्ट ।
रुष्ट कुतो नीतिविदो वद त्व
विलक्षणा नीतिरिय गृहीता ?

आप मूल्य लेने में नम्रता दिखाते है; पत्र का उत्तर देने में मौनावलम्बन करते है; और अपने दोष दिखलाये जाने पर रुष्ट होते है । अच्छा कहिए तो सही किस नीतिविशारद से आपने यह विलक्षण नीति सीखी है ?

(१३)

अभद्रभद्रौषधिपुस्तकाना
विक्रेतृवर्गः समवाप्य सम्यक् ।
विज्ञापनद्वारमलभ्यलाभं
प्राप्नोति सम्पादक ! ते प्रसादात् ॥

हे सम्पादक जी ! आप ही के प्रसाद से भली-बुरी ओषधियों और पुस्तकों के बेचनेवाले (आपके पत्र में) विज्ञापन-रूपी द्वार को पाकर अलभ्य लाभ उठाते हैं।

(१४)

इहास्ति साधुत्वमतः परं किम् ?
प्रकाश्य लोकस्य विमानना यत् ।
स्थिते भये पाणियुगं प्रसार्य
'क्षमस्व, हा हेति' च भाषसे त्वम् ॥

इससे अधिक और क्या साधुता हो सकती है कि आप पहले तो अपमान-जनक लेख छाप कर लोगों का अपमान करते हैं (और पश्चात्) भय उप-स्थित होने पर, हाथ जोड़, "क्षमा कीजिए, हम हा-हा खाते हैं" इस प्रकार आप कहते फिरते हैं।

(१५)

गायन्ति सम्पादकतागुणानां
लीलां यथाशक्ति महाजनास्ताम् ।
स्वातन्त्र्यविद्याबलवर्धनानि
सर्वाणि यच्छक्तिविजृम्भणानि ॥

स्वतन्त्रता, विद्या, बल आदि सभी जिसकी शक्ति का प्रताप है, ऐसी सम्पादकता के गुणों की लीला को बड़े बड़े महात्मा भी यथाशक्ति गान करते हैं।

(१६)

अतोऽन्वहं भक्तिभरान्वितोऽहं
कीर्तिं त्वदीयां किल कीर्तयामि ।
ममोपरीदं स्तवनं निशम्य
प्रसीद सम्पादक ! सर्ववंद्य ॥

अतएव, प्रतिदिन, हम भी भक्ति-भावपूर्वक आपकी कीर्ति का कीर्तन करते हैं, इस स्तोत्र को सुनकर हे सर्ववंद्य सम्पादक जी ! आप हम पर प्रसन्न हूजिए।

:—नागरी ! तेरी यह दशा !!

(जून १८९८ की नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित)

(१)

श्रीयुक्त नागरि ! निहारि दशा तिहारी,
होवै विषाद मन मांहि अतीव भारी ।
हा ! हन्त लोग गत भानु तुम्हैं बिसारी,
गेहैं अजान उर्दू उर मांहि धारी ॥

(२)

माता त्वदीय शुचि संस्कृत देववानी,
सर्वांगिनी तव मनोहर रूपखानी ।
अत्यन्त शुद्ध लिपि होति सदैव तेरी,
थोरे प्रयास महँ सिद्धि सधै घनेरी ॥

(३)

अत्यल्प बालकहु मास गये छ, साता,
ह्वै प्रवीण सिखि ताहि छिपी न बाता ।
मूढ़ातिमूढ़ जिन दीख न पाठशाला,
तेऊ पढैं तुहि बिना श्रम सर्वकाला ॥

(४)

एतादृशी सरल, सुन्दर, शुद्ध, सोई,
तू नागरी जननि ! जानत सर्व कोई ।
तौहू तुम्हैं चहहिं जे न जड़त्वपागे,
ते कामधेनु तजि आक दुहैं अभागे ॥

(५)

तेरी समान रुचिरा, सरला, रसाला,
शोभायुता, सुमधुरा, सगुणा, विशाला ।
भाषा न अन्य यहि काल अहो दिखाई,
बोलैं निशंक हम यों स्वभुजा उठाई ॥

(६)

श्रीसूरदास, तुलसी अरु खानखाना,
क्षेमेन्द्र, केशव, कवीन्द्र, कवीश नाना ।
छायो दिगन्त यश जो इनको अपारा,
सो है प्रसाद तव नागरि ! देवि ! सारा ॥

(७)

पद्मावती जिन रची ललिता, ललामा,
विख्यात ते अपर कादिर आदि नामा ।
इस्लाम जाति; तऊ कै तिन मातु तोरी,
आराधना, सुयशराशि घनी बटोरी ॥

(८)

सन्मान्य ग्राउज कलेक्टर सु-प्र ाना,
श्रीमद्ग्रियर्सन समाऽन्य महा महाना ।
सेवा त्वदीय करि मातु लही बड़ाई,
कीर्तिध्वजा धरणि पै अपनी उड़ाई ॥

(९)

अन्यान्य जातिजनहू बनि भक्त तेरे,
गावैं त्वदीय गुण नित्य नये घनेरे ।
तौ जो तिहारि हम सर्व करैं न पूजा,
हा हा ! अनर्थ नहिं या सम अन्य दूजा ॥

(१०)

भ्राता, पिता, सुत, सुता, दयिता सुशीला,
त्यागै मनुष्य कहुँ देखि विपत्तिलीला ।
पै प्राणनाश यदि होहि तऊ न माता,
होवै वियुक्त सुत तें बिलगाय गाता ॥

(११)

मातामहत्व जस वेदपुराण भाखा,
तत्तुल्य है अपर केवल मातृ-भाषा ।
आजन्म जो विमुख, ताहु विपत्ति माहीं,
आवै सदैव मुख में सुइ,-अन्य नाहीं ॥

(१२)

हिन्दी ! स्वजन्म जननी तुव हाय ! नाहीं,
हिन्दू न ? जदि अभाग्य, दोस काही ?
दुर्भाग्य—रूप—धन—बुद्धि—विवेक जाई,
होवै परन्तु दुख देखि कृतघ्नताई ॥

(१३)

न्यायालयादि महँ लोकवृन्द चाही,
हन्त—प्रलम्ब—परिमाण लिखात टाढ़ो ।
देखो, अहो ! कुलिशकर्कश शब्द भागै
मानापमान तव ते मन मैं न जागै ॥

(१४)

"देशोपकार करिबे" मिस बोलि वीरा,
लै, अङ्ग लेक्चर उड़ावत जे प्रवीना ।
स्वग्राम ते सुनत कोसन दूरि भागैं
पत्रादि हू लिखन में तुहि लाजु लागै ॥

(१५)

शाण्डिल्य आदि-मुनि नायक-वंश-धारी,
हृत्कम्प होहि सुनि नागरि ! तोहि टारी ।
हा ! हन्त ! पुत्र कान माहिं धरैं करीमा,
लज्जा न आव तनिको तिनके हिये मां ॥

(१६)

जाके प्रचार बिनु लाखन लोग धाई,
लै लै समन्स बहु ढूँढत गाँव जाई ।
पावैं तऊ न तिन बाचन-हार, भाई !
ताते, भये विमुख तासन, का भलाई ?

(१७)

जाके विना कचहरीघर लोग घेरे,
ताकैं पुकारि मुख जाय बड़े सवेरे ।
न प्रेम तासु जिनके मन माहिं जागै;
हा ! हा ! विलोकि तिन पातकपुंज लागै ॥

(१८)

जाको लिखैं सहज बालक, वृद्ध, नारी,
जामें न भूल इक विन्दु—विसर्ग—वारी।
सद्धर्म जासु परिशीलन में सदाही,
ताकी करै स्तुति कहाँ लगि? शक्ति नाही॥

(१९)

देखो! स्वदेश-नर-रत्न! करी विचारा,
सत्कार नागरिह केर करे उवारा।
हे! हेलना न करि तासु, सुनो पुकारा,
कीन्हे विलम्ब विगरै निज काज सारा॥

(२०)

कल्याणि! नागरि! तो विनती सुनीजै,
माता! दयावति! दया न कमी करीजै।
ह्वै जै अधीर जनि, यद्यपि होति देरी,
सेवा अवश्य करिहैं अब सर्व तेरी॥

(२१)

सप्रेम, जोरि कर, तोहिं मम प्रणामा,
त्वद्भक्त जे कहुँ कहूँ चमकै सुनामा।
मेरो नमोऽस्तु तिनहूँ कहँ वार बारा,
ते धन्य, धन्य कुलदीप कृतोपकारा॥

६—सूर्य्यग्रहणम्

(संस्कृतचन्द्रिकाया षष्ठखण्डस्य तृतीयसंख्याया प्रकाशितम्)

(१)

अत्यन्तभीषणरणो दिशि पश्चिमायाम्;
हृत्कम्पकारि महिकम्पनमेव पूर्वे।
याम्ये तथा मनुजमारकरोगपीडा,
प्रादुर्बभूव नितरा युगपद्यदेव॥

पश्चिम की ओर अत्यन्त भीषण युद्ध; पूर्व की ओर हृदय को कम्प उत्पन्न करनेवाला भूकम्प; तथा दक्षिण की ओर मनुष्यमहारकारिणी महामारी की पीडा—यह सब एक ही साथ जिस वर्ष हुआ।

(२)

वेदेषुवडशशिम्मिचित वैक्रमीय,
सवत्सरे, जनपदेऽत्र तदैव येयम्।
दृष्टा जनैर्भमि सघटनाद्भुता, ताम्,
मित्रानुरोधवशतो ननु वर्णयामि।

विक्रमादित्य के उसी वर्ष अर्थात् १९५४ सवत् मे, यह जो अतीव अद्भुत घटना, आकाश में, यहाँ, लोगो को देख पडी, उसे हम अपने एक मित्र के अनुरोध से वर्णन करते है।

(३)

* शीतर्तुमध्यगतमाघमासे,
मध्येदिनं दिनकरस्यतनुमभावाम्।
अच्छादयिष्यति शशी नियत निजेन,
बिम्बेन तूर्णमिति पूर्णतया निरूप्य॥

शीतकाल मे, माघ महीने की अमावस्या के दिन, मध्याह्न समय, चन्द्रमा अपने बिम्ब मे, अवश्यमेव, झटपट, सूर्य को आच्छादित कर लेगा—इस बात का भली भाँति निरूपण करके—

(४)

तद्दर्शनाय विदुषामवलि समन्ताद्,
द्वीपान्तरादपि चचाल विलघ्य सिन्धून्।
नानाविधानि परिगृह्य सुसंस्तुतानि,
यन्त्राणि सूर्यविधुबिम्बपरीक्षकाणि॥

सूर्य और चन्द्रमा के बिम्ब की परीक्षा करने में उपयुक्त होनेवाले, विद्वज्जनो के द्वारा प्रशंसा किये गये, नाना प्रकार के यन्त्रो को लेकर, अनेक विद्वान्, समुद्रो का उल्लघन करके, द्वीपान्तरो से भी, उस दृश्य के देखने के लिए चले।

---

* २२ जनवरी १८९८।

(५)

विज्ञानशास्त्रकुशला विबुधा अनेका,
उच्चोच्चराजपुरुषा अपि गौरकाया ।
सिद्धिं विधाय रविवीक्षणसाधनानाम्,
तस्थुर्यदा वसनवेश्मनि बक्सरादौ ॥

विज्ञान-शास्त्र के पारदर्शी अनेक विद्वान् तथा उच्च पदाधिकारी अँगरेज़ लोग, सूर्य को अवलोकन करने के साधनों को सिद्ध करके, जिस समय, बक्सर आदि स्थानों में, अपने अपने खीमों के नीचे, ठहरे—

(६)

पूर्णोपरागमथ पङ्कजबान्धवस्य,
ज्ञात्वा तदा भुवि चिरेण भविष्यमाणम् ।
लोकैरकारि कृतभारतवर्षवासै-
र्यत्तद्वदामि तदहं नियतैर्वचोभिः ॥

उस समय, बहुत काल के अनन्तर होनेवाले, खग्रास सूर्यग्रहण का समाचार पाकर, हमारे भारतवर्षवासी लोगों ने जो कुछ कहा अथवा किया उसे हम सक्षेप से वर्णन करते हैं ।

(७)

युद्धं भविष्यति नृपेषु परस्परेषु,
लोकं गमिष्यति यमस्य रुजा प्रजा च ।
धान्यं धनं बहु हरिष्यति चौरवर्ग,
इत्यादि कैश्चिदिह सूरिभिरन्वभाषि ॥

राजा लोगों मे परस्पर युद्ध होगा; रोग से मनुष्य यमपुरी को पधारेंगे; चोर, धन और धान्य दोनो की अतिशय चोरी करेंगे, इस प्रकार किसी किसी प्रसिद्ध पंडित ने भविष्यवाणी कही ।

(८)

तत्तन्निशम्य सहसा मनुजाः सशंक-
मुच्चाङ्कवाचकजनानभिवन्द्य केचित् ।
दैवज्ञराज ! वद राशिफलं मदीय—
मेव विरक्तमनसाऽञ्जलिबन्धमूचुः ॥

जिसे सुन सुन, सशंक होकर, बहुतेरे मनुष्य, पचागगाठी पंडितो को प्रणाम करके, हाथ जोड, विरक्त चित्त होकर इस प्रकार बोले—"ज्योतिषी जी! जरा हमारा राशिफल तो कहिए; हमारे लिए ग्रहण कैसे है?

(९)

अन्नाशुकद्रविणदानवि ानमाशु,
दोपक्षयाय परिपृच्छ्य ुधाँश्च केचित् ।
उद्योगिन समभवन् खलु तत्तदाप्तौ,
नास्त्यालये, तदपि देयमवश्यमेव ॥

ग्रहणजात दोष का परिहार करने के लिए, धन, धान्य और वस्त्रादि के दान की विधि को पडितो से पूछ करके, उन उन वस्तुओ को प्राप्त करने के उद्योग में बहुतेरे लग गये। घर में तो है नहीं, परन्तु देना अवश्य है।

(१०)

दैवज्ञमेव शरण शिरसा नतेन,
केचित् फलानि भयदानि निशम्य जग्मु ।
केनाऽपि पडितपते! परिपाहि नस्त्वम्,
यत्नेन, वाक्यमिति दीनतमं न्यवेदि ॥

" डित जी! अब तो आपही किसी प्रकार हमारी रक्षा कीजिए" इस प्रकार दीनता दिखलाते हुए बहुतेरे मनुष्य, भयकर फलो को श्रवण करके, सिर झुकाय, ज्योतिषी जी की ही शरण मे गये।

(११)

भानूपरागकृतभाविमहर्घतायाः,
सचिन्तनेन विवशा कतिचिद्बभूवु ।
अन्नविनाऽ मदसव कथमीश! हा हा,
स्यास्यन्ति दुर्विलसिता इति न विलप ॥

"हे ईश! यह हमारे पापी प्राण विना अन्न के हा! हा! कैसे रहेंगे? इस कार विलाप करके, सूर्यग्रहण से होनेवाली महँगी का विचार कर, बहुतेरे, अतिशय विवश दशा को प्राप्त हुए।

(१२)

[illegible]
[illegible]

काशीप्रयागमथुराकुरुपुष्करादि-
तीर्थानि चेलुरतिभक्तिभरेण केचित् ॥

उन उन स्थानों के ब्राह्मणों की प्रियतमाओं के घर में अपने दिये हुए धन को झटपट, पहुँचा देने के लिए, बहुतेरे मनुष्य, बड़ी भक्ति के साथ, काशी, प्रयाग, मथुरा, कुरुक्षेत्र, पुष्कर इत्यादि तीर्थों को चले।

(१३)

काश्चित्तथा सुनयना सुरनिम्नगादि-
स्नानच्छलेन युवकैः सह संगमाय।
ईयुर्मनोरथशतं हृदि धारयन्त्यः,
संकेतितस्थलमनङ्गनिपीडिताङ्ग्यः ॥

अनेक कामपीड़ित, सुलोचनी कामिनी, नाना प्रकार के मनोरथों को धारण करती हुई, गंगास्नानादि के बहाने, युवकों से मिलने के लिए, संकेत किये गये स्थलों पर पहुँची।

(१४)

केचिद्वधूवदनचन्द्रविलोकनाय,
केचिद्धनस्य हरणाय परस्य, केचित्—
कूले ययुर्ग्रहणदुष्परिणामदुःख-
नाशाय सन्निकटवर्तिजलाशयस्य ॥

बहुतेरे वधू जनों के मुखचन्द्र को देखने के लिए, बहुतेरे दूसरों के माल मारने के लिए और बहुतेरे ग्रहण के दुष्परिणाम को मिटाने के लिए, समीपवर्ती जलाशय के किनारे उपस्थित हुए।

(१५)

येऽस्मद्विधा विविवशान्न तु किंचिदन्यत्,
शक्ता न कर्तुमथ ते स्वकरे गृहीत्वा।
काचस्य कज्जलितपृष्ठतलस्य खण्ड-
मुच्चस्थले बहुभिरात्मजनैर्विरेजुः ॥

हमारे समान जो लोग और कुछ नहीं कर सके, वे एक ओर काजल से काले किये गये काँच के टुकड़े को हाथ में लेकर, किसी ऊँची जगह पर, अपने आत्मीय जनों के साथ, पहुँचे।

(१६)

यस्मिन् क्षणे चपलतातिशयेन चन्द्र,
उत्प्लुत्य मेघवदथ स्थलतश्चकार।
स्पर्शं प्रपाणितदिने दिवमेशबिम्ब-
स्तस्मिन् बभूव जनलोचनलक्षलक्ष्य ॥

उस दिन, जिस समय, मेघ के समान, नीचे की ओर से, अति चपलता के साथ, एकदम, चन्द्रमा ने सूर्य के बिम्ब को स्पर्श किया, उस समय उसकी ओर मनुष्यों की लाखों आँखें आकर्षित हो गईं।

(१७)

दृश्य विलोक्य तदिद किल कोपि नाद
सश्रूयते स्म भुवि लोककृत समन्तात्।
स्नाने, जपे, हरिहरस्मरणे, च दाने
सर्वेऽभवन् रुचिविचित्रतया निमग्ना ॥

इस सूर्यग्रहण के दृश्य को देख कर चारो ओर से लोगो ने अतिशय कोलाहल करना प्रारम्भ किया और अपनी अपनी रुचि के अनुसार स्नान, जप, हरिहर-स्मरण, दान इत्यादि मे सब लोग निमग्न हो गये।

(१८)

हहो ग्रसत्यरुगमडलमे राहु,
पौराणिकै खलु पुन पुनरित्यभाणि।
वैज्ञानिकैरपरबुद्धिविचक्षणैस्तु,
सर्वैरमानि शशिनङकराऽभियोग ॥

"देखो, राहु सूर्य-मडल का ग्रास कर रहा है" इस प्रकार पौराणिको ने बारम्बार लाप किया, परन्तु विज्ञान-शास्त्र के ज्ञाता तथा अपर बुद्धिमान् जनो ने चन्द्रमा और सूर्य का योगमात्र निश्चित किया।

(१९)

धर्म प्रभो ! कुरु कुरु ग्रहण प्रसक्तम्,
त्व देहि देहि वसनञ्च, धनञ्च, धान्यम्।
इत्यादि दीनवचनानि च याचकानाम्,
केषा न कर्णकुहरे पतितानि तानि ?

आलोक्य कष्टमभितो महता मलीना,
स्वान्ते मदा समधिका मुदमुद्वहन्ति ॥

आकाश में सूर्य का पूरा पूरा लोप हो जाने पर, भूतल मे, अन्धकार ने खूब ही अपना जोर जमाया। ठीक ही है; महात्माओ को विपत्तिग्रस्त देखकर मलीनान्तःकरणवाले दुर्जन अधिक प्रसन्न होते है।

(२४)

मध्याऽऽजगाम सहसा किमु ेत्यकाण्डे,
वामेच्छुक खगकुल वितति ततान।
गावोऽपि गेहगमनोत्सुकता दधाना,
पुच्छ प्रसार्य परितश्चलिता सशब्दम् ॥

"क्या अभी सायकाल हो गया ?" इस प्रकार सशकचित्त होकर अकाल ही मे, अपने अपने घोसलो में जाकर वास करने की इच्छा रखनेवाले पक्षी बोलने लगे; और पशु भी घर जाने के लिए उत्सुक होकर, पूँछ उठा, चारो ओर से शब्द करते हुए चल पडे।

(२५)

खग्रासतामभजतार्क इति प्रदातुम्,
साक्ष्य किमेषु भगवानुशना मनुष्यान्।
तस्मिन् क्षणे समुदियाय नभोऽन्तराले,
यन्त्र विनैव यदयं सकलैर्व्यलोकि ?

सूर्य का खग्रास ग्रहण हो गया—इस बात की मनुष्यों को साक्षी देने के लिए वह क्या शुक्र महाराज उस समय नभमडल में उदय हुए, जो सब लोगों ने उन्हे यन्त्रो की सहायता के बिना ही दिन में देख लिया ?

(२६)

एव गते मयि महाविपदामवस्थाम्,
गर्जन्ति कि जगति सर्वजना नीच।
इत्थ रवि पिहितबिम्बतटाऽभिजान-
ज्योतिश्छटाभिनिकर [illegible] ॥

हुए अपने विम्ब के किनारे मे निकली हुई ज्योतियो की छटारूपी आँखो को धारण किया।

(२७)

देदीप्यमानदहनव्रजभास्करस्य,
साहाय्यमापदि विधातुमहो किमेष ।
वेगेन पश्चिमहरिद्वदनावलम्बी,
वायुः क्षण प्रवहतिस्म तदा रुषेव ॥

प्रचड अग्नि के समूह सूर्य की, आपत्ति के समय, क्या सहायता करने के लिए (अग्नि का मित्र) यह वायु, पश्चिम दिशा की ओर, उस समय, बडे वेग से, मानो क्रोध में आकर, बहने लगा।

(२८)

पूर्णग्रहस्य समये कतिचित्पलानि,
विश्वो विभो कपिशीकृत ईक्ष्यते स्म ।
औदास्य भावमभजन् जनतामुखानि,
स्तब्धा बभूवुरिह सर्वदिशो नितान्तम् ॥

पूर्ण ग्रहण के समय, कुछ क्षण तक, सारा ससार पिंगल वर्ण दिखाई दिया और स्तब्धतापूरित सब दिशाओ में, मनुष्यो के मुख उदासीनता को प्राप्त हुए।

(२९)

चन्द्रस्ततो लघुतया निजया दिनेशात्,
कक्षान्तरेषु गमनेन तदोपरोधम् ।
कालक्रमेण विजहौ, तदनतर स,
सूर्यो जगाम भुवि नेत्रपथ जनानाम् ॥

इसके अनन्तर, सूर्य से छोटा होने और कक्षान्तर में गमन करने के कारण, चन्द्रमा ने क्रम क्रम से सूर्य का रोध छोडा। तब वह भूतल में लोगों को दिखलाई दिया।

(३०)

खग्रासमाप खलु य स दिवाकरोऽयम्,
स्वच्छे नभस्यतितरा महसा चकासे ।

सम्पद्विपद्युगमिद हि नितान्तलोलम्,
कुत्राऽपि नैव भजते स्थिरता चिराय ॥

जिस सूर्य का अभी खग्रास हो गया था वही स्वच्छ आकाश में अब बड़े ते से प्रकाशित हुआ। संपत्ति और विपत्ति का नितान्त चंचल जोडा कहीं भी चिरकाल स्थिर नही रहता।

(३१)

लोकद्वये भवति यावदिद समस्तम्,
विज्ञानशास्त्रपटुभि समुपादितानि ।
तावत्क्रमागतरविग्रहणस्य यन्त्रै-
श्चित्राणि चित्रफलकानि मनोहराणि ॥

आकाश और भूतल में जब तक यह सब होता है तब तक विज्ञान-शास्त्र के पारंगत विद्वानो ने, क्रम क्रम से होनेवाले सूर्यग्रहण के, यन्त्रद्वारा, अनेक मनोहर छायाचित्र सम्पादन किये।

(३२)

आदित्यमोक्षमनुलक्ष्य ततो मनुष्या,
स्नान वि ाय विधिवद्गृहमागता. स्म ॥
एतस्य च ग्रहणवर्णनगुंफितस्य,
काव्यस्य पूर्तिरधुना क्रियते मयाऽपि ॥

सूर्य के मोक्ष को अनुलक्ष्य करके, तदनंतर विधिवत् स्नानपूर्वक, सब लोग घर आये। अत. ग्रहण वर्णनात्माक इस काव्य की हम भी अब पूर्ति करते हैं।

(३३)

एतानि पद्यकुसुमानि मयार्पितानि,
सन्त्येव यद्यपि गुणैरहितानि मित्र* !
भक्तिं विलोक्य मम तावदिमा तथापि
त्वं स्वीकुरुष्व बुधपूजितपाद ! तानि ॥

हे बुधजन पूजित मित्र ! हमारे द्वारा अर्पित किये गये ये पद्यरूपी पुष्प, यद्यपि सब गुणो से रहित है; तथापि हमारी भक्ति को देखकर आप न्हें स्वीकार कीजिए।

---

* "मित्र" इति सम्बोधनेन श्रीमन्माधवराव व्यंकटेश लेले—यस्य सूचनेन द काव्य कृत स तथा च सूर्यस्याप्यर्थो ज्ञेय ।

१०—बालविधवा-विलाप

(७ अक्टूबर, १८९८ के भारतमित्र में प्रकाशित)

(१)

आकाशमध्य रवि अंशु अनन्त धारी,
देखो प्रदीप्त दिन मे तमपुञ्जहारी।
ताराधिनाथ जनमानसमोदकारी,
नक्षत्रयुक्त विलसै रजनीविहारी॥

(२)

विद्युत्प्रकाश अनलोद्भवभास भारी,
नाना नई विमलदीपशिखा सुखारी।
तेजोमयी शुचि महामणिमूर्ति सारी,
रत्नादिराशि महि माहि घनी निहारी॥

(३)

काहे तऊ अहह! मोहि महान्धकारा,
सर्वत्र सम्प्रति दिखाय अहो! अपारा!
मत्प्रश्न हाय! यह, जीवन के अधारा!
पापिष्ठ हृत्पटल फारि करै दरारा!!

(४)

मेरे दिनेश तुमही, तुमही निशेशा,
तारादिहू तुमहि नाथ! रहे अशेषा।
प्राणेश! अस्त तव होतहि, लोक माही,
सारे प्रकाश मम अस्त भये लखाही॥

(५)

गर्भप्रपात कत हा! विधना न कीन्हा?
काहे न जन्मतहि मो कहँ मृत्यु चीन्हा?
रोगादिहू न अवलौ मम जीव लीन्हा?
रे दैव निष्करुण! दुसह दुख दीन्हा!!

(६)

वै व्यजातदुखसम्मुख तीव्र ,आगी,
है क· पदार्थ ? जरु देह ! अरे अभागी ।
हे प्राणनाथ ! नहि सम्भव सोउ हा हा !
जानौ भले विधिविरुद्ध शरीरदाहा ।।

(७)

जो प्राण देहुँ जल मध्य करि प्रवेशा,
पाशादि लाय अथवा करहुँ स्वशेषा ।
तो आत्मघातकृतपातकपुञ्ज जोरी,
हे नाथ ! होहि कुदशा अति और मोरी ।।

(८)

सूझै कछू यहि घरी अब नाहिं मोही,
बूझै न अन्य हतचित्त विहाय तोही ।
जावौं कहाँ ? कह करौं ? किहि धौं पुकारौं ?
हे जीवितेश ! किमि ीरज चित्त धारौं ?

(९)

हे प्राण दुर्ललित ! खोजहु अन्य गेहा,
दुखाग्निदग्ध रहिहै न मदीय देहा ।
अद्यापि न त्यजहु मूढ ! मृषासुखाऽऽशा,
देखौ न काह तुम हा ! मम सर्वनाशा ।।

(१०)

को हौ, कहौ न कत, जीवित पाप पूरे ?
पाषाण पूर्ण तुम हौ अथवा अधूरे ?
देवेन्द्रवज्र अति कर्कश वा ? बतावौ,
जावौ न जो दुख—दवारि दहे, सतावौ ।।

(११)

देखी कहूँ न विटपाश्रयहीन बेली,
प्राचीन होहु अथवा अतिही नवेली ।
मैं मन्दभाग्य तिनतेऽधिक भूमि आई,
आधारहीन जउ जीव तऊ न जाई ।।

(१२)

आलाप दूरि, परिरम्भण दूरि, अंग-
स्पर्शादि दूरि, अरु दूरि निशि-प्रसंग ।
देख्यो न हाय ! मुखहू तव नेत्र लाई,
स्वप्नान साथ तउ नाथ ! गई बिकाई ॥

(१३)

एतादृशी लखि दशा मम दुःखदाई,
हा हा करै निपट नीचहु धाय धाई ।
पै दैव ! तोहि मम नेकु दया न आई,
रे दुष्ट ! रे कुटिल ! रे शठ ! रे कसाई !

(१४)

तद्ग्रन्थिचिह्न पट में अजहूँ दिखाई,
जाके मिसि प्रणयबन्धन कीन आई ।
त्यागा, सु भूलि सब, हाय ! मदीय साथा;
विश्वासघात अस तोहि न योग्य नाथा ॥

(१५)

मद्दुःख देखि विधि ! जो करुणा न आवै,
नैष्ठुर्यनीरनिधि ! मीचु न तू पठावै ।
तौ काह दुष्ट ! मम मातु बिलाप भारी,
छाती न फारि दुई टूक करै तिहारी ॥

(१६)

बीतै निमेष इक कल्प समान मेरो,
छूटै न जीव जिहि छूटतही निवेरो ।
सन्ध्या कटै यदि किहू, न कटै सवेरो,
जावै वियोग अब नाथ ! सहो न तेरो ॥

(१७)

प्राणाधिक ! त्वदनुराग हिए जगाई,
राखौं शरीर यदि दारुण दुःख पाई ।
सारी समाज हठि निर्दयता दिखावै,
हाहा ! मनो क्षत भये पर लोन लावै ॥

(१८)

सौभाग्य जासु मम पूर्व सबै सराहा,
सोई भई अब अमंगलमूल हा हा!
यामेऽपराघ नहिं मोर कछू दिखाई,
मस्तिष्क में न यह नारिन के समाई॥

(१९)

नारी करैं करहिं सो, नरहू अनेका,
देवैं अनाथ अवलान न सौख्य एका।
देखैं विपत्ति जउ नित्य नई हमारी,
होवैं दयार्द्र तउ ते न जड़त्वधारी॥

(२०)

लै साठिवर्षतन स्यन्दन* में पवारी,
व्याहे स्वयं सुभग बारहवर्षवारी।
पै ज्ञानगीत हम काहिं अहो सिखावैं,
कै पक्षपात अस ते न हिए लजावैं॥

(२१)

भावी दशा सुमिरि आपनि जीवितेश!
काँपै हियो अहह! होहि न धैर्यलेश।
देवै जिते नरक पापिन धर्मराजा,
मो को इतैहि मिलि है तिनके समाजा॥

(२२)

अत्यन्धकारमय दुर्गृहगर्भ माही,
होई निवास मम रैनि दिना सदाही।
तत्रस्थ मूस, छिपकी अरु घूस केरी,
हेरी अभद्र बनिहै सखिरूप मेरी॥

(२३)

उच्छिष्ट, रूक्ष, अरु नीरस अन्न खैहौं,
चाण्डालिनीव मुख बाहर मूँदि जैहौं।

---

* पालकी।

गालि-प्रदान निशि-वासर नित्य पैहों,
हा हन्त ! दुखमय जीवन यों वितैहों ॥

(२४)

"रंडे ! तुही अवशि मत्सुत लीन खाई",
त्वन्मातु नाथ ! जब तर्जिहि यों रिसाई ।
ह्वैहै इहै तव मदीय मताऽधिकाई,
पृथ्वी फटै त्वरित जाहुँ तहाँ समाई ॥

(२५)

हे प्राणनाथ ! विनु तोहि हमारि हानी,
जेती भई सकहि नारि समस्त जानी ।
तौहू दुरुक्ति कहि या विधि नीचताई,
देहैं प्रकाश करि हाय ! हया विहाई ॥

(२६)

जो जाहि इष्ट तिहि नाश करै न कोऊ,
अत्यन्त उच्च अथवा अति नीच होऊ ।
होवै प्रविष्ट इनके हतचित्त माही,
सद्भाव हाय ! कत या विधि नाथ ! नाहीं ?

(२७)

ज्योंही कियो तुम हहा ! इतते पयाना,
त्योंही हमैं सबहि पातकमूर्ति माना ।
लोग प्रचण्ड-शनि-दृष्टि समान सौंही,
त्यागैं सदैव शुभ कारज माहि मोहीं ॥

(२८)

ऐसो भयोहु कहहु मो सन कौन पापा ?
जो देहि मोहि सिगरे मिलि तीव्र तापा ।
आपै मरो जु तिहि मारन में उछाहा,
अन्याय हाय ! इहि ते बढि और काहा ?

(२९)

वाणी सुहात नहि मोरि, न दीठि मोरी,
ताने कहैं तिय, तथा शिशु, वृद्ध, छोरी ।

सासु प्रदत्त चरखा तजि और कोई,
रैहै न पास दिन जैहहि रोय रोई ॥

(३०)

धोती मलीन तन, कज्जल हीन नैन,
सिन्दूरविन्द बिन मस्तक, दीन बैन।
एरड दड सम हस्त, जटालु केश,
मद्देशवासि अस कौन मदीय वेश ॥

(३१)

एतेहु पै कतहुँ शिष्टसमाजरत्न,
पावै न मोद, कछु और करै प्रयत्न।
प्राणातिरिक्त जिनकी किय नित्य मेवा,
काटै कदर्य तिन केशनि हाय देवा ॥

(३२)

धिक्कार तोहि हत भारतवर्षदेश!
धिक्कार सभ्यसमुदायहु निर्विशेष!
धिक्कार बुद्धि वल वैभव को हमेश ?
पावै जहाँ निर्बल नारि इतो कलेश ॥

(३३)

ऐसे कछू प्रकट, गुप्त कछू, उचारी,
भारी विलाप करि मस्तक भूमि मारी।
शोकार्त बालविधवा तनताप जारी,
हा! हन्त!! हाय!!! कहि मूर्छि परी विचारी ॥

(३४)

एहो समाजकुलदीप! इती हमारी,
विज्ञप्ति लेहु सुनि, दीनदशा निहारी।
जो पै करो न सधवा विधवान भाई!
दीजो नदीय दुख अन्य अहो! नसाई ॥

११—गर्दभ-काव्य

(२९ अगस्त, १८९८ के हिन्दी बंगवासी में प्रकाशित)

(१)

शिशिर, वसन्त, हिमन्त, एक नहि, ग्रीषम हमको प्यारा है,
तपती भूमि, गाँव के बाहर, वरफिस्तान हमारा है।
सन् सन् सन् सन् चलै लूह जब, आँवाँ अस जग जारा है,
तबहि करैं हम मौज मजे में, सारा मुल्क जारा है॥

(२)

हरी घास खुरखुरी लगै अति, भूसा लगै करारा है,
दाना, भूलि पेट यदि पहुँचै, काटै अस जस आरा है।
लच्छेदार चीथडे, कूडा, जिन्है बुहारि निकारा है,
सोई, सुनौ सुजान शिरोमणि!, मोहनभोग हमारा है॥

(३)

विप्रवर्ग से छठि आठैं है, क्षत्री महा जुझारा है,
वैश्य जाति के यहाँ हमारो घटा भरि न गुजारा है।
योग्य जानि यजमान आपनो हम धोबी स्वीकारा है,
सच्ची कहना ऐसो उज्ज्वल कोई और निहारा है?

(४)

परम प्रसिद्ध राम को वैरी खर सो ससुर हमारा है,
कान कान्ह के खडे कौन जिन धेनुक, सोई सारा है।
नाम धरे जे तऊ हमारो तिन मानहुँ झख मारा है,
जाके असि ऊँचे सम्बन्धी ताको कहै नकारा है?

(५)

वडे वड़े, कवि, पण्डित, ज्ञानी, जग जिनते उजियारा है,
तेऊ लहैं उपाधि हमारी जब तब; अस सत्कारा है।
मलिन, मन्द, अपवित्र, इते पर जिन हम काहिं विचारा है
हियो कपार ऊ में तिनके उपज्यो चक्षुविकारा है॥

(६)

हल नहि छुवैं, छुवै नहि छकडा; जानत सब ससारा है,
जुते देखि घोडे, तन हमरो होवै फूलि नगारा है।
घरते घाट; घाट ते घर को, जावैं हम दुइ वारा है,
सो तो कियो वायुसेवन को मानहुँ अपर प्रकारा है ॥

(७)

कोट, कमीज़, आदि को जवलो मिलै कडी फटकारा है,
तव लौ नदीतीर कुञ्जन मे होहि विहार हमारा है।
पैठि गर्दभीमंडल भीतर कोककला विस्तारा है,
वह रसपान करन कहँ केवल एक हमैं अधिकारा है ॥

(८)

शीतकाल में शीत न व्यापै धरै पोठि पट-भारा है,
गरमी मे गिरि जाय सहजही तासो तन की छारा है।
करि बहुवार कमेटी, उत्तम लददूवृत्ति निकारा है,]
सुधि आये गिट्टीवालेन की पै हिय होति दरारा है ॥

(९)

चपत हमैं चम्पा सम लागैं, घूँसा फूल हजारा है,
लात खात मुख बात न बोलैं, अटल मौन विस्तारा है।
धम् धम् धम् दस पाँच करैं जब गरुई गदा प्रहारा है,
चलै पैग भरि तब कहुँ, ऐसो सहनशील हम धारा है ॥

(१०)

पीर उठै यदि सुनै पियानो, कर्कश लगै सितारा है,
कोकिल कूक हूक उपजावै, अस स्वरज्ञान हमारा है।
दिलवहलाव हेत हम अपने मुख तें दु:ख अपारा है,
मृदुल बोल बोलैं पचम मे कवहुँ कवहुँ बहु वारा है ॥

(११)

खच्चर औ खचरी बहुतेरी आफरीदियन मारा है,
भाई बन्द हमारे यद्यपि, हम नहि आह निकारा है।
गुलछर्रें नित उडै हमारे, सुरपुर रजक दुआरा है,
कोई मरै न सोच होहि कछु—हमैं सुलभ यदि चारा है ॥

(१२)

मिलै पेट भरि भूलि न कबहूँ यद्यपि हमैं अहारा है;
मग ते पग भरि हम नहि खिसकैं पचिपचि सब जगहारा है।
शेर आय यदि सिर पर गरजै, होहि न भय सचारा है;
जहँ के तहाँ डटे हम रहही, अद्भुत शौर्य हमारा है॥

(१३)

रण हित लेन काज जब हम कहँ बाबू एक सिधारा है,
अगद सम पद रोपि दीन हम तिल भरि टरो न टारा है।
लाठी, लात, हजारन हटर, तब उठि बाने भारा है,
सिर हिलाय इक बार फुर्र करि, सो हम सकल बिसारा है॥

(१४)

सीधी राह जाहि, देखैं नहि, कहाँ कूप कहँ नारा है,
निश्चल चित, नीचे सिर राखैं, मन सतोप अपारा है।
लादैं बोझ बराबरि अपनी, मुख ते चूँ न चकारा है;
अस स्वभाव, अस शील हमारो, को जग जाहि न प्यारा है?

(१५)

जब ते रेल देश यहि माही चरण आपने धारा है,
तब ते दुख अनन्त हमैं अति होवै विविध प्रकारा है।
गिटकी, ककर, ढोय नाक लौ पीडित प्राण पधारा है,
है कोउ हमैं बचावै? अस्तु, बस, इक विनय हमारा है॥

आशा

(नागरीप्रचारिणी पत्रिका के तृतीय भाग की तृतीय सख्या में प्रकाशित)

(१)

अहो देवि आशे! प्रशसा तिहारी,
सकै कै यथावत् न जिह्वा हमारी।
महीमडल, व्योम, पाताल माही,
कहाँ शक्ति न व्याप्त तेरी सदाही?

(२)

कलानाथ तेरी कृपा दृष्टि पाई,
कलाहीनहू नित्य देवैं दिखाई ।
ग्रहग्रस्त तेजोनिधी सूर्य, गोई,
प्रकाशै प्रभा को तवाधीन होई ॥

(३)

उतारै न एको घरी जो अहीशा,
धरा धारि राखो किये नम्र शीशा ।
कहौं सत्य सो सर्व तेरो प्रभावा,
यही सो तव स्तोत्र है मोहि भावा ॥

(४)

जिती कल्पना, औ मनोवृत्ति जेती,
तिहारीहि दासी सदा सर्व तेती ।
न मानौं जु पूछौ स्वयं चित्त काही,
विना आश जाै कहूँहू, कि नाहीं ॥

(५)

धनी, निर्धनी हूँ, जराजीर्ण गाता,
वटी, चूर्ण, स्नेहादि पुष्टि-प्रदाता ।
तव प्रेरणा पाय सेवैं सवेरे,
वहावैं वृथा द्रव्य कदर्प-चेरे ॥

(६)

ज्वरी, जन्मरोगी, क्षयी, क्षीण देहा,
वशीभूत तेरे भये, बैठि गेहा ।
नई नित्य विज्ञापना देखि देखी,
ठगावैं, न पै हानि मानै विशेषी ॥

(७)

प्रियाहीनहू लोक में लोग नाना,
लहैं कामिनी कामपत्नी समाना ।
गहैं पाणि केरुह प्रेमवोरे,
सबै सो अहो ! एक तेरे निहोरे ॥

(८)

प्रजावर्ग को कै वशीभूत आशे !
दिखावै घने आपने तू तमाशे।
महाखर्वहू त्वद्दयादृष्टि पाई,
छुवै चन्द्रमा हाथ ऊँचो उठाई ॥

(९)

विना पैर के पगु पाथोधिपारा,
क्षणैकार्द्ध में लाँघि ऊँचे पहारा।
जहाँ जी चहै जाय, नाना प्रकारा,
विलोकै छटा, पाय तेरो सहारा ॥

(१०)

गये गर्भहीं मे ढऊ नैन जाके,
सुनौ, हौ सुनाऊँ, समाचार ताके।]
अहो, सोउ, आशाकृपा पाय ! तारा,
गिनै सर्व आकाश के त्रीस बारा ॥

(११)

महामूकहू जे हिए तोहि धारै,
प्रियापास ते प्रेम-गाथा उचारै।
विना कर्णशक्ति त्वदाकृष्ट नाना,
सुनै बात सौ कोस की साव ना ॥

(१२)

अहै लोग मत्तुल्य जे पादगामी;
तवालम्ब लै जोति जोडी सुनामी।
फिरै नित्य सानन्द सध्या सवेरे,
न गाडी, न घोडा, न साईस नेरे ॥

(१३)

महादुःख मे, शोक में, रोग माही,
विपत्काल में, कालहू में सदाही।
लखै लोग आशे ! सुसत्ता तिहारी,
गत णवत् त्वद्विना प्राणधारी ॥

(१४)

युवा आश के पाश ते बद्धनाना,
करै काम बेदाम जानै जहाना,
विना तोहिं कैसे करै धैर्यधारी,
कई वर्ष लौं कोउ उम्मेदवारी ॥

(१५)

गृहस्थाश्रमी, सयमी, भूमिपाला,
युवा-बाल-वृद्धादि जो जीवजाला।
कहूँ कोटि में एक है वीतपापा,
न तेरो जहाँ जागरूक प्रतापा ॥

(१६)

अपुत्री जियै पाय तेरो सादा,
तिया भर्तृहीना तजै दुर्वि ादा।
पितागेह में कन्यका कामजारी,
रहै व ैवाईस लौंहू कुमारी ॥

(१७)

तुही मोहिनी, तूहि मायाविनी है,
तिहूँ लोक की तूहि सजीवनी है।
रहै तू न जो, विश्व-जात-प्रसारा,
बनै दण्ड में दण्डकारण्य सारा ॥

(१८)

उड़ावै शरन्मेघ को वायु जैसे,
इतै ते उतै को चहूँ ओर तैसे ।
मनोवृत्ति को तु सदैव भ्रमावै,
न विश्राम एक क्षणौं लेन पावै ॥

(१९)

न पृथ्वी, न पाताल न स्वर्गधामा,
बचै एकहू; तू फिरै अष्टयामा ।
असी रेल, सौ तार, विद्युत् हजारा,
भगै साथ तेरे जु, पावै न पारा ॥

(२०)

कछू प्रार्थना है हमारी सुनीजै,
जगद्धात्रि आशे ! कृपाकोर कीजै ।
सबै देन की देवि ! सामर्थ्य तेरी,
यही धारणा है सविस्वास मेरी ॥

(२१)

गुण-ग्राम की आगरी नागरी है,
प्रजा की जु सम्मानसोजागरी है ।
मिलै ताहि राजाश्रय क्षेमकारी,
यही पूरियौ एक आशा हमारी ॥

१३—प्रार्थना

(७ एप्रिल, १८९९ के श्री वेंकटेश्वर-समाचार में प्रकाशित)

(१)

काशी, अयोध्या सम राजराजा,
मानै जिन्हें राजन को समाजा ।
पन्ना तथा क्षत्रपुर प्रधाना,
ओर्छा धराधीश महामहाना ॥

(२)

औरौ जिन्हें देखि दगैं सलामी,
स्वामी मही के महिपाल नामी ।
तथैव अल्पाल्प-धराधिकारी,
अतीव उर्दू जिनको पियारी ॥

(३)

कर द्वऊ जोरि तिन्हैं दुखारी,
हौं प्रार्थना एक करौं पुकारी।
महीप! मोसो सुनि ताहि लीजै,
कृपा इती आप अवश्य कीजै ॥

(४)

न भूमि विश्वा भरि भूमिपाल!
नाही रसाल-द्रुमहूँ विशाल।
न वस्त्र माँगों नयनाभिराम,
न धाम, न ग्राम, न छदाम ॥

(५)

मत्प्रार्थना-जात तव प्रसादा,
विदारि सारो जनदुर्विपादा।
तिहारिही पुण्यकथा बढै है,
यश पताका चहुँधा उडैहैं ॥

(६)

त्वदीय वंशीय महीप नाना,
जे जे भये हर्ष सम प्रधाना।
ते ते जबै मत्स्मृतिपन्थ पावैं,
धारा प्रमोदाश्रुन की बहावैं ॥

(७)

श्रीविक्रमक्ष्मापति, भोज भूपा,
श्रीमानसिंहादि महेन्द्ररूपा।
स्वदेश-भाषा-हित-सिद्धि जेती,
कीन्ही, छि ी आजहुँ नाहि तेती ॥

(८)

न जो इतो सस्कृत-सुप्रकर्षा,
सदैव ही ते करते सहर्षा।
विपन्न होती निज देखि अन्त,
पधारि पातालपुरी तुरन्त ॥

(९)

कहाँ किरातार्ज्जुन की कहानी,
कहाँ नई नै षकार वानी।
होते कहाँ काव्यकलाप सारे,
शकुन्तला आदि कहाँ हमारे॥

(१०)

तथैव जे ज्योतिष, नीति केरे,
साहित्य के, व्याकृति के घनेरे।
लखे परें ग्रन्थ अहो अनेका,
कदापि होते कहुँ नाहिं एका।

(११)

विना स्वराजाश्रय देववानी,
न भूलि होती गुणराशि खानी।
जाने सबै सो तिहुँलोक माहीं,
है सत्य, है सत्य, असत्य नाहीं॥

(१२)

हा! हन्त! हिन्दी सुइ तासु कन्या,
सबै प्रकार व्यवहार न्या।
गली गली आजु मलीन दीना,
मारी फिरै है अवलम्ब-हीना॥

(१३)

त्वत्पूर्व-पृथ्वी-पति-पक्ष पाई,
भई सुसम्मानित जासु माई।
तदात्मजा दुर्दिन देखि हा हा!
कोहै हियो जासु दहै न दाहा?

(१४)

दयावन! क्ष्मापतिवंशदीप!
प्रजाजन-प्राण! अहो महीप!
दया तिहारी कित है सिधाई,
स्वमातृ-भाषा सुधि जो भुलाई॥

(१५)

यदि स्वपूर्वार्य-पदानुरागा,
न देवभाषा सन जो विरागा ।
तौ को तदीय प्रियकन्यकाही,
देवै वहिष्कार विसारि ताही ॥

(१६)

यदि स्वकन्या प्रतिपाल धर्म्म,
यदि स्वसा* त्यागन में अधर्म्म ।
अहै वहिष्कार अनीत-जात,
तौ नागरी को, यह सत्य वात ॥

(१७)

सिंहासनारूढ जहाँहि माता,
रही, तहाँ धूलि भरो स्वगाता ।
विलोकि, आत्मा अपघात नारी,
करै ऽनमानार्दित जीव-जारी ॥

(१८)

कुलीन कन्या सम धर्म्मधीरा,
न नागरी, किन्तु, तज्यौ शरीरा ।
तथापि जीर्णाऽखिल-गात वाला,
मनावती आपन मृत्युकाला !

(१९)

भुजावलम्ब क्षितिपालरत्न,
अवश्य दै ताहि करो प्रयत्न ।
न होहि जासो अपमृत्यु ताकी,
सहायता माँगहुँ और काको ?

(२०)

न जो कदाचित् विनती हमारी,
प्रवेश पैहै वुधि में तिहारी ।

* स्वसा—भगिनी ।

जनापवाद-व्यथमान ह्वै हौ,
अन्त स्वय सर्व यथेष्ट देहौ ॥

(२१)

सदोष उर्दू, पुनि अन्य देशी,
हिन्दी गुणग्राम-भरी, स्वदेशी।
तुम्हैं तथापि प्रथमा पियारी,
हा! हा! द्वितीया घर ते निकारी ॥

(२२)

निकारि नारी निज, तोष मानै,
बीबी विदेशी यदि कोउ आनै।
विलोकि ताको, सिर भूमि मारै,
"अन्याय अन्याय" न को पुकारै ?

(२३)

लखे परैं केतिक ते नरेश,
हस्ताक्षरी उर्दुहि में हमेश।
करैं, अहो! जे सुखसो विशे ,
आनैं हिए मे न विचारलेश ॥

(२४)

ऐसी दशा देशहि में निहारी,
स्रग्धारा दृगश्रु ढारी।
अधोगतिप्राप्त महादुखारी,
हिन्दी हहा! जाय कहाँ बिचारी ?

(२५)

कियो परित्याग यदि क्षितीश !
न और हिन्दी कर कोउ ईश।
विचारियो भूपति ! चित्त माँहीं,
तुम्हैं बिना तद्गति अन्य नाहीं ॥

(२६)

नृहेलना भूलि सबै स्वकीया,
महीप ! माँगै शरण त्वदीया।

अवश्य ताको अपनाय लीजै,
हिन्दी हियो शीतल आजु कीजै ॥

(९२)

अज्ञात, वा ज्ञात, जुर्पेऽपराधा,
हिन्दीकृत क्षमापति ! एक आधा।
भयो, तऊ ताहि विसारि देहू,
क्षमा क्षमा बोलत धाय लेहू ॥

(२८)

मत्प्रार्थना एक इती भुवाल,
सुपूर्ति ताकी करियो कृपाल !
राज्य प्रजा आयु बढै तिहारी,
अखण्ड आशीश है हमारी ॥

१४—मेघमालां प्रति चन्द्रिकोक्तिः ।

(हिन्दीप्रदीप की २३वी जिल्द की चतुर्थ, पचम और षष्ठ सख्या में प्रकाशित)

(१)

स्वदोषराशिञ्च तृणाय मत्वा
ममोपरि त्व यदकारणञ्च ।
करोषि कृष्णे ! करकानिपात-
माश्चर्यमेतन्ननु मेघमाले !

हे कृष्णे ! (काले रगवाली) मेघमाले ! अपनी दोषराशि को तृणवत् समझकर, मेरे ऊपर, अकारण ही तू जो ओले बरसा रही है, वह बडे आश्चर्य की बात है।

(२)

रत्नाकरो यस्य पिता, च लक्ष्मी
स्वसा स्वय सा जगतोऽस्य माता।

नारायणो यद्भगिनीपतिश्च
स विश्रुत. किं तव नो सुधाशु. ?

जिसका पिता रत्नाकर (रत्नो की खान—समुद्र); जिसकी बहन स सारे ससार की माता, साक्षात् लक्ष्मी; जिसका भगिनी-पति (बहनोई) स्वय नारायण—उस सुधाशु (चन्द्रमा) का क्या तूने नाम भी कभी नही सुना ?

(३)

इन्दु सदा य शशिशेखरस्य
महात्मन सर्वसुखाकरस्य ।
विराजते विस्तृतभालदेशे
तस्यागजामेव हि मामवेहि ॥

सब सुखो के आकर (खानि) महात्मा महादेवजी के विशाल भाल-प्रदेश में सदैव जो शोभायमान है, उसी चन्द्रमा के अग से मैं उत्पन्न हुई हूँ, समझो।

(४)

तामेव मा व्योम्नि वृथावृणोपि
पुन पुन कृष्णमुखि ! त्वमेवम् ।
कुबुद्धिशीले ! त्रपसे कथ न
विशालवर्पोपलवर्षणेन ?

हे कृष्णमुखि ! (काले मुखवाली) उसी मुझको, इस प्रकार आकाश मे तू बारबार वृथा घेरती है। हे कुबुद्धिशीले ! यह बडे बडे पत्थर बरसाते तुझे लज्जा भी नही आती !

(५)

नूनं विजानासि न मेघमाले
यदेतदन्याय्यमिह प्रदर्श्य ।
श्रीश्रीपतिं त्र्यम्बकमिन्दुमब्धि
सर्वांश्च कोपाकुलितान् करोषि ॥

हे मेघमाले ! जान पड़ता है तुझे इस बात की खबर नही है, कि इस अन्याय के कारण, तू, मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले श्री-श्रीपति-त्र्यम्बक-इन्दु-अब्धि-इत्यादि इन सब देवताओ के क्रोध को बढा रही है।

(६)

सुश्लाघते यामनिशं त्रिलोकी
तां निन्दयन्ती प्रतिभासि मे त्वम्।
उन्मादयुक्ता, किमु सन्निपात-
ग्रस्ता, पिशाचस्य करे गता वा?

जिस मुझे तीनों लोक अहर्निश साधुवाद से प्रसन्न करते है, उसी की तू निन्दा करती है! मुझको जान पड़ता है, तुझे उन्माद हुआ है; अथवा उन्माद नहीं तो सन्निपात हुआ है; अथवा सन्निपात नहीं तो तेरे ऊपर कोई पिशाच सवार है।

(७)

"अहं जगज्जीवनहेतुभूता'
यदेवमेव बहुशो विकत्थ्य।
इतस्ततस्ताण्डवमातनोऽपि
जानामि तत्सर्वमहं यथार्थम्॥

"मैं ही सब जीवों के जीवन का कारण हूँ", इस प्रकार पुन पुन. प्रलाप करके चारों ओर, जो तू अपना नाच-कूद दिखला रही है, उसका मर्म मैं भली भाँति जानती हूँ।

(८)

स्वस्यैव दोषञ्च गुणञ्च सम्यक
नेत्रद्वयं पश्यति न स्वकीयम्।
तत्त्वं मुखान्मे शृणु तत्त्वमद्य
यद्यस्ति वाञ्छा श्रवणे त्वदीया॥

अपने ही दोष अथवा अपने ही गुण को, अपने ही नेत्र, अच्छे प्रकार से नहीं देख सकते। अतः यदि तेरी इच्छा सुनने की हो, तो तू आज मेरे मुख से अपनी यथार्थ लीला सुन।

(९)

विभाव्यते चण्डि! मयेति नूनं
समस्तदेशार्दनतत्परस्य।
अवर्षणस्याद्य न तस्य कोऽपि
स्मृतिं विसस्मार विकम्पदात्रीम्॥

हे चण्डि ! (लडाकी) मै समझती हूँ, समस्त देश को पीडित करनेवाले, उस अकाल की, कम्पोत्पादक सुधि, अभी तक किसी को नही भूली।

(१०)

भिक्षारतासख्यमनुष्यजाति-
रहो प्रसादेन तवैव पश्य ।
विना जल वृष्टिभव विनान्नं
कीनाशदेशातिथितामवाप ॥

देख, उस समय, तेरे ही प्रसाद से, विना पानी और विना अन्न के असख्य मनुष्य, क्षुधार्त्त हो होकर, यमपुरी को चले गये।

(११)

वध्वश्च बाला विधवात्वमापु-
र्नरा पितृभ्रातृवियुक्तताञ्च ।
विचिन्त्य तत्तत् हृदय जनाना
हा ! हन्त !! हा हा !!! शतधा प्रयाति ॥

नवीन विवाहिता स्त्रियाँ वि वा हो गईं, मनुष्य विना भाई और विना बाप के हो गये। हाय! हाय! उन बातो का स्मरण होते ही कलेजे के सौ टुकडे हो जाते है!

(१२)

त्व* सैव पापे! खल वत्सरेऽस्मि-
न्देशानहो मालवगुर्जरादीन् ।
पुनश्च निर्मानुशता विनेतु-
मवर्पणेनैव समुद्यताऽसि ॥

हे पापिनी ! वही तू, फिर भी, इस साल, पानी न बरसा कर, गुजरात, मालवा इत्यादि देशो को मनुष्यहीन करने पर उद्यत हुई है !

(१३)

विकत्थसे दुर्मुखि! जीवदान-
कथा मुहुस्त्व कथयन तथापि।

---

* यह पद्य फरवरी, १९०० मे लिखा गया है।

विधाय कर्म्मेदृशमप्यनर्ह,
न लज्जसे ? धिक् तव साहसित्वम् ॥

हे दुर्मुखि ! (बुरे मुखवाली) तिस पर भी तू, पानी बरसा कर लोगो को जीवदान देने की कथा, वारवार इधर उधर कहती फिरती है। स प्रकार का अनार्य कर्म करके भी तुझे लज्जा नही आती ! तेरे साहस को धिक् ! !

(१४)

विहारदेश सहसा बभूव
प्रायो विनष्ट सलिलाप्लवेन।
दिनानि जातानि बहूनि नैव
न विश्रुत तत्किमु मेघमाले ?

हे मेघमाले ! अभी बहुत दिन नही हुए, बूडा आने से प्राय सारा विहार-प्रान्त सहसा जल-मग्न हो गया। क्या यह भी तूने नही सुना ?

(१५)

मृता मनुष्या पशवो हताश्च
गता जले ग्रामगणा अनेके।
पिनाकपाणिर्मम विद्यतेऽस्मिन्
साक्षी, त्वदीयोऽपि च वज्रपाणि ॥

अनेक मनुष्य मर गये, अनेक पशु मर गये, अनेक ग्राम रसातल चले गये। मै क्या झूठ कहती हूँ। कदापि नही। इस विषय में मेरे शकर साक्षी हैं, तेरे भी साक्षी इन्द्र है। उनसे पूछ।

(१६)

अय प्रसादोऽपि तवेति लोके
विलक्षण वेत्ति मनुष्यवर्ग ।
दत्ते च तुभ्य बहु धन्यवाद
त्वया गृहीत स न वा, न जाने ॥

यह भी सब तेरा ही प्रसाद है। इस बात को सब लोग विलक्षण प्रकार से जानते है। जानते ही नही किन्तु तुझे धन्यवाद भी देते है ! मै नही जानती, उनका धन्यवाद तूने ग्रहण किया अथवा नही ! !

(१७)

नृशसताभ्यासपराऽिमा स्वा
कृतिञ्च विस्मृत्य तथापि कृष्णे!
चराचरप्राणवनप्रदान-
भेरी भृश वादयसीति चित्रम्॥

हे कृष्णे! तिस पर भी, तू, अपनी एतादृशी मनुष्यसहारकारिणी कृति को भूलकर, चराचर को प्राण-दान देने की दुन्दुभी बजाती फिरती है। यह महा आश्चर्य की बात है!

(१८)

धन्या त्वदीया किल सत्यताया
प्रीतिश्च, धन्यस्तव, युक्तिवादः।
धन्यञ्च धाष्टर्यं ननु मेघमाले!
त्वञ्चापि धन्या स्वयमेव बाले!

मेघमाले! धन्य तेरी सत्य प्रीति! धन्य तेरी बातचीत करने की युक्ति! धन्य तेरी धृष्टता! धन्य तू स्वय भी!

(१९)

गृह्णासि पाथोऽधिपतेश्च यस्मात्
पाथ सदा पाणियुग प्रसार्य।
करोषि तस्मिन्नपि वज्रपातं;
हा हा विवेकस्तव कीदृशोऽयम्॥

जिस समुद्र से सदैव हाथ जोड जोड तू पानी लेती है, उस पर भी तू वज्रपात करने से नही चूकती। हाय! हाय! तेरा यह अविवेक कैसा?

(२०)

जानासि किं त्वन्न तवैव योग
प्राप्य प्रिया' प्रेमपरा निशायाम्।
केलिस्थलं सत्वरमेव गत्वा
कुर्वन्ति पाप व्यभिचारजातम्॥

क्या तू नहीं जानती कि रात में, तेरे योग से अधिक अन्धकार देख,

कामान्ध स्त्रियाँ, संकेतस्थान को जाकर, व्यभिचारजात घोर पातक करती हैं।

(२१)

त्वैव योगेन निशि प्रहृष्टा-
श्चौरा धनं धान्यमहो हरन्ति।
दशन्ति सर्पा अपि घोररूपा
यदासि गात्री गगने त्वमेव॥

तेरे ही योग को पाकर, प्रसन्नतापूर्वक, रात्रि में, चोर लोग धन-धान्य सभी हरा करते हैं। यही नहीं, किन्तु, रात्रि में जब तू आकाश आच्छादित कर लेती है तभी बड़े बड़े घोर सर्प भी लोगों को दंश करते हैं।

(२२)

हे धूम्रवर्णे! जलबाष्पदेहे!
कृष्णे! न चाहङ्कृतिमुद्वहस्व।
स्वल्पां स्थितिं स्वामनुलक्ष्य तिष्ठ
वातोऽपि ते घातकरो समर्थः॥

हे धूम्रवर्णे! हे जल-बाष्पदेहे! हे कृष्णे! बहुत घमंड मत कर। तेरी स्थिति दो ही चार घड़ी की होती है। उसे न भूल। चुपचाप बैठी रह। और की तो बात ही नहीं, यदि कदाचित् एक छोटा-सा वायु का झकोरा भी तुझे समूल उड़ा ले जाने के लिए बस है।

(२३)

दुर्वर्षिणि! क्वापि भविष्यसि त्वं
प्रहर्षिणी मे न वदामि सत्यम्।
पर्जन्यपूर्तिं मदमित्रनेत्र-
धाराः करिष्यन्ति सदा यथेच्छम्॥

हे दुर्वर्षिणी! तू मेरे लिए कभी भी प्रहर्षिणी (आनन्द देनेवाली) नहीं हो सकती। यह मैं सत्य कहता हूँ। तेरे बिना मेरा काम न चलेगा—यह तू मत समझ। मुझको, मेरे शत्रुओं के नेत्रों से निकली हुई अश्रुधारायें, वृष्टि का काम देने के लिए सदा अलं होंगी।

---

(४)

वेदास्त्वदीयवचसा यदय विलासो
जानाम्यह तदपि, तान् हृदि धारयामि।
केनास्तु नाम मम नास्तिक ? इत्यवैषि
त्वञ्चेद्दया न ! दयालुतयाऽभिधेहि॥

चारो वेद आपकी वाणी का विलास ह अर्थात् आपही के मुख से निकले हुए है, इसे भी हम जानते है, जानते ही नही किन्तु वेदो को हृदय मे मानते भी है। फिर हमारा नाम, "नास्तिक" क्योकर ो सकता ? हे दया न ! यदि इसका भेद आप जानते हो तो, दया करके आपही हमें बतला ए।

(५)

लोकैकदीपकमणौ द्युमणौ त्वदीय
सत्त्व चकास्ति खलु यत्तिमिरापहारि
तस्यैव कोऽपि भुवनाधिपते ! सदशो
रथ्यारज. कणगणेषु विराजतेऽयम् ॥

हे भुवनाधिपते ! त्रैलोक्यदीपक सूर्य में, अन्धकारनाशक आपका जो सत्व चमक रहा है, उसी का कोई क्षुद्र अश गलियो में पडे हुए रज-कणो में भी विराजमान है।

(६)

जानाति तत्त्वमिदमेव सदा जनो यो
ब्रूहि त्वमेव भगवन् ! किनु नास्तिक स ?
एव भवेद्यदि तदा जगतीतलेऽस्मिन्
मन्ये ह्यभावमहमीश ! सदास्तिकानाम् ॥

हे भगवान् ! जो मनुष्य इस तत्व को जानता है, आपही कहिए, क्या वह नास्तिक है ? हे ईश ! यदि यह बात सम्भव है, तो इस महीतल में, हमारी समझ में, कोई आस्तिक ही नहीं, सभी नास्तिक है।

(७)

मूर्तिन्नु नौमि निखिलेष्वम[illegible]
नाह, न, देव ! [illegible]

सत्ता त्रिलोक्य सकले जगति त्वदीया
प्रीतिस्तथाप्यतिशया प्रतिमासु नो मे ॥

हे देव! जितने देव-मन्दिर है, उनमें स्थापन की गई मूर्तियों को हम नमस्कार नही करते, ऐसा नही, हम नमस्कार करते है। हमारे इस कथन को आप सत्य समझिए। तथापि, आपकी सत्ता को, इस सारे जगत् मे विद्यमान देख, केवल प्रतिमाओं मे ही हमारा अतिशय प्रेम नही।

(८)

आश्चर्यमेतदखिलेश! न ते प्रभूता
शक्ति विलोकयत एव चराचरे मे।
सर्वत्र पश्यति तव प्रभुता प्रभो! य
स त्वेकवस्तुनि कथं विदधातु भक्तिम्?

हे अखिलेश! आपकी महती शक्ति को, चराचर में देखनेवाले हमारे लिए, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। हे प्रभो! आपकी प्रभुता को जो, सर्वत्र, सारी वस्तुओ में, देख रहा है, वह एक ही वस्तु की भक्ति में, किस प्रकार लीन हो सकता है?

(९)

एतादृश जनमथो खलु ये विमूढा
आस्तिक्यतत्त्वरहित प्रवदन्ति, ते तु।
मैरेयनाशितधिय किमुत त्रिदोष-
पाशैकतानहृदया किमु नेत्रहीना?

ऐसे मनुष्य को, जो मूढ नास्तिक कहते है, वे हमारी बुद्धि में मद्य-प्राशन करके मतवाले हो रहे हैं, अथवा सन्निपात की पाश में फँसे है, अथवा आँखो के अन्धे है।

(१०)

द्रष्टुं वधूजनमुखानि सुरालयेषु
सायं प्रभात इह यत्क्रियते प्रयाणम्।
लोका स्तुवन्तु यदि नाथ! तदेव नूनं
हा हा! हन्त!! जगदधीश! तदाऽऽस्तिकत्वम् ॥

हे जगदधीश! जो लोग मृगनयनी कामिनी जनो की ओर घूरने

ही के हेतु, देवालयो को, सवेरे और सायकाल, जाते हैं उन्ही की सब कोई यदि प्रशसा करे, तो, हाय! हाय! आस्तिकता अस्त हो गई समझनी चाहिए!

(११)

हस्त निवाय जगदीश! पटान्तरेषु
प्रातस्त्वनेकवि मन्त्रजपच्छलेन।।
कुर्वन्ति येऽन्यजनपीडनचिन्तनानि
तेभ्यो मदीयनमनानि लसन्तु दूरात ।।

हे जगदीश! तिदिन, प्रात काल, हाथ को कपडे में छिपा कर अनेक प्रकार के मत्र जप करने के मिष, जो लोग, दूसरो को पीडा पहुँचाने ही का चिन्तन करते है, उनको हमारा दूर ही से नमस्कार है!

(१२)

एवविधैव भुवि धार्मिकता जनेषु
तोप तनोति यदि देव! तनोतु कामम्।
प्राणात्ययेऽपि ननु नाभिलषाम्यह ता
स्वैर जनाभिहितनास्तिकता ममास्तु ।।

हे देव! यदि इसी प्रकार की धार्मिकता से लोगो को सन्तो होता हो तो, वहुत अच्छी बात है, वह भली भाँति सन्तुष्ट होवैं। परन्तु हम तो प्राण जाने तक भी उस प्रकार की धार्मिकता की अभिलाषा नही रखते। लोग हमको भले ही नास्तिक कहा करैं।

(१३)

कृत्य विधाय जगतीह मलीमस ये
भाले दधत्यमलचन्दनपंकलेपम्।
तेषा निशम्य गणनामतिधार्म्मिकेषु
हास्य जहाति जगदीश्वर! नो मदास्यम्।।

हे जगदीश्वर! इस ससार में काले से भी काले कर्म करके, जो लोग ललाट पर चन्दन का सफेद लेप लीपते है, उनकी भी गणना जब हम वडे वडे धार्मिको मे सुनते हैं, तव हमारे मुख में, हँसी किसी कार नही रुकती।

(१४)

ये सन्ति धर्म्मनिचया धरणीतले ऽस्मि-
न्नेका दयैव सकलेषु च सारभूता।
जानन्ति तत्त्वमिदमीश्वर! बालवृद्धाः
श्रद्धास्तु, नास्तु, रुचिभेदवशेन तस्मिन्॥

हे ईश्वर! इस भूतल में जितने धर्म हैं, सबमें एक मात्र दया ही सार है। छोटे-बड़े सभी, इस सिद्धान्त को मानते हैं। फिर चाहे रुचि-वैचित्र्य के कारण उसमें उनकी श्रद्धा हो अथवा न हो।

(१५)

सद्धर्म्मसारमनुमाय यथामतीद
शोकार्त्तबालविधवासु दया दधेऽहम्।
तेनैव नास्तिकनरः किमह भवेयम्?
पश्य त्वमीश! जडता जगतोऽस्य केयम्?

हे ईश! इस प्रकार, यथामति, सब सद्धर्मों का सार समझकर, शोकार्त्त बाल-विधवाओं के ऊपर हमको दया आती है। तो क्या इससे हम नास्तिक हो गये? देखिए तो सही; संसार की इस जडता का कहीं ठिकाना है?

(१६)

धर्म्मस्य मूलमिह देव! यदि प्रकृष्ट
आचार एव सुविचारकलोकदृष्ट्या।
तर्हि प्रयान्तु विलय श्रुतयस्त्वदीया
अब्धौ पतन्तु तरसा स्मृतयोऽस्मदीयाः॥

हे देव! सुविचारक जनों की दृष्टि में, उत्कृष्ट आचार ही यदि धर्म का मूल हो तो, आपकी श्रुतियाँ विलय को प्राप्त हो जावें और हमारे पूर्वजों की स्मृतियाँ भी समुद्र मे डूब मरें? उनकी आवश्यकता ही फिर क्या रह गई?

(१७)

ईश! श्रुतिस्मृतिपथ प्रतिवासरञ्च
के न त्यजन्ति बहुवारमिहैव नूनम्?
एते तु धार्म्मिकशिरोमणयस्तथापि
ग्लानिं भजन्ति भुवनेश्वर! नो कदापि!

हे ईश! श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित मार्ग का—एक वार नही अनेक वार—कौन नही उल्लघन करता ? तथापि हमारे धार्मिक-शिरोमणि, ऐसा करके भी, मन में किञ्चिन्मात्र भी ग्लानि नही लाते !

(१८)

रूढि विहातुमथ यो यतते परन्तु
त, दुर्बलहरिण किल केसरीव।
विश्वेश ! पश्यति रुषारुणनेत्रलोको
हा हा ! विवेकविषये किमियत्युपेक्षा !!

परन्तु, हे विश्वेश ! रूढि से बाहर होने की जो मनुष्य जरा भी इच्छा करता है, उसको—दुर्बल हरिण की ओर शेर के समान—लोग क्रोध से नेत्रो को लाल लाल करके देखते है। हा विवेक-ग्रहण में इतनी उपेक्षा !!!

(१९)

आचारमात्रपरिपालनलीन एव
लोके किलास्तिकनरप्रवरो; जनोऽन्य।
घोरो हि नास्तिक—इति ब्रुवता नराणा
स्वल्पापि देव ! समुदेति कथ न लज्जा ?

हे देव ! "आचारमात्र के परिपालन मे जो लीन हो रहे हैं, वही आस्तिको में श्रेष्ठ है; शेष सब मनुष्य घोर नास्तिक हैं" इस प्रकार प्रलाप करनेवालो को जरा भी लज्जा नही आती।

(२०)

यत्ते स्वय जगदिद परिवृत्तिशील,
देवाधिदेव ! तदहो ! ननु को न वेत्ति ?
आचार एव भजतु स्थिरतां कथ त-
न्नैसर्गिक नियममीश ! विहाय भूमौ ॥

हे देवाधिदेव ! आपका बनाया हुआ स्वय यह जगत् ही परिवर्तनशील है—कुछ न कुछ फेरफार इसमें हुआ ही करता है, इस बात को कौन नहीं जानता ? हे ईश ! फिर इस नैसर्गिक नियम को छोडकर, अकेला आचार ही किस प्रकार एक ही दशा में स्थिर रह सकता है ?

(२१)

कि भूयसाऽस्ति ! भगवन् ! न बिभेमि नूनं
लोका ब्रुवन्तु नितरामिह नास्तिक माम् ।
विश्व विलोकयति नेत्रयुगञ्च याव-
त्तावद्भवामि भुवनेश ! न तादृशोऽहम ॥

हे भगवन् ! और अधिक कहना-सुनना व्यर्थ है। हमको सब लोग यथेच्छ नास्तिक कहें; हम डरते नही। हे भुवनेश ! जब तक हमारे दोनो नेत्र, आपके निर्मित इस संसार-चक्र को देख रहे हैं, तब तक तो हम, किसी प्रकार, नास्तिक नही हो सकते।

(२२)

हस्त कदापि कलितो न हि गोमुखीषु
सन्ध्यापि देव ! समये समुपासिता न।
जानासि सर्वमिदमेव वदाम्यहं किम् ?
स्वान्ते सदैव यत ईश ! विराजसे त्वम् ॥

हे देव ! हमने भूल से भी कभी, गोमुखी में हाथ नही डाला, यही नहीं, किन्तु यथा-समय सन्ध्योपासन भी नही किया। हे ईश ! यह सब आप स्वयं जानते ही है, हमारे कहने की क्या आवश्यकता ? क्योकि आप तो सदैव सबके हृदयारविन्द में विराजमान है।

(२३)

नित्यं जपामि यदहं शुचिसत्यसूत्रं
लोके तदस्तु मम मन्त्रजपः पवित्र.।
या सज्जनेषु भगवन् ! मम भक्तिरेषा
सैव प्रभो ! भवतु देवगणस्य पूजा ॥

हे भगवन् ! पवित्र सत्य का जो हम सदैव जप किया करते है, उसी को आप हमारा मन्त्र-जप समझिए; और सत्पुरुषों मे जो हमारी भक्ति है, उसी को, हे प्रभो ! हमारी देवपूजा मानिए।

(२४)

सर्वेषु जीवनिचयेषु दयाव्रतं मे
श्रेयो ददातु नियत निखिलव्रतानाम् ।

अच्छाच्छचन्दनरसादपि शीतलो मा-
मानन्दयत्वनिशमीश ! परोपकार' ॥

हे ईश ! जीवमात्र के वि य में हमने जो दयाव्रत धारण किया है, वही, हमारे लिए, प्रदोपादि सारे व्रतो के फल का दाता होवै; और उत्तमोत्तम चन्दन से भी अधिक शीतलता को धारण करनेवाला परोपकार, सदैव, हमको आनन्द देता रहे ।

(२५)

अन्यद्ब्रवीमि किमह ? जगदेकबन्धो !
बन्धुर्न कोऽपि मम देव ! सुतोऽपि नास्ति ।
तन्नास्तिकस्य भगवन्नथवाऽस्तिकस्य
हस्ते तवैव करुणाम्बुनिधे ! गतिर्मे ॥

हे देव ! और अधिक हम क्या कहे ? आप स जगत् के एकमात्र बन्धु है; परन्तु ससार में हमारे कोई बन्धु नही; पुत्र भी कोई नही है। अतएव, हे करुणा-सागर ! हे भगवन् ! इस नास्तिक अथवा आस्तिक की गति केवल आप ही के हाथ मे है।

१६—नागरी का विनय-पत्र

(१५ मई, १८९९ के भारत-जीवन मे प्रकाशित)

(१)

मेरे प्रचार हित यत्न भये अनेका;
पै हा ! अभाग्यवश सिद्ध भयो न एका।
न्यायालयादि महँ होय न मत्प्रवेश;
कासो कहौं अपनि दीनदशा महेश ! ॥

(२)

मेरे सुयोग्य सुत जे, तिन धैर्य्य धारी,
कीन्हे उपाय बहु, देखि दशा हमारी।
काहू सुनी न अबलौ मम दु खगाथा;
आवै हिए मरहुँ आपन फोरि माथा॥

(३)

स्वीकार हाय! सरकार करै न मेरो,
धिक्कार मोहिं, कित जाय करो बसेरो?
घोरान्धकार अब मोहिं चहूँ दिखाई,
खाई न जाय अहिफेन तऊ डुराई॥

(४)

आत्मापघात करते करते बनै ना,
भारी बहाय जलधार थकै न नैना।
है एकमात्र अवशेष उपाय ईश!
कै ताहि कर्म्म कहूँ नावब नाट शीश॥

(५)

राजाधिराज-गण पूजित राजरानी,
विश्वोपकार-रतदान-दयादि-खानी।
विक्टोरिया नगर लण्डन मे विराजै,
जासु प्रताप लखि दिव्य दिनेश लाजै॥

(६)

ताके सुराज्य महँ निर्बल जाति नारी;
सम्मान पाय विहरै सुखयुक्त सारी।
हुकार मात्र जिनकी सुनतैऽधिकारी;
धावै तुरन्त सिगरे करि कोप भारी॥

(७)

ताही महामहिमरानि-निदेश धारी,
सर्वोच्च तत्प्रतिनिधि-प्रतिमानुकारी।
है जो प्रयाग महँ धर्म-धुरीण लाट,
तद्द्वार ओर गत ह्वैहहुँ आजु वाट॥

(८)

कै कै कठोर हिय धीरजहू दृढाई;
लज्जा विहाय बहु बार नम सुनाई।
आज स्वय विनयपत्रक हौं लिखे हौं,
स्वप्रान्त-लाट-मुख-सम्मुख यों सुनैहौं॥

(९)

न्यायी! दयाघन! महाप्रभु! दीनबन्धो!
नारी पुकार सुनियो करुणैकसिन्धो!
आवौ स्वकीय गृह बाहर नाथ! आवौ;
आवौ, न वेर अब आज अहो लगावौ ॥

(१०)

एतत्प्रदेश-नगरी-पुर-खेर-वासी;
आबाल, वृद्ध, वनिताजन, दास, दासी।
माता समान सब मोहिं चहैं सदाही,
तो सो छिपी तनिकहू यह बात नाही ॥

(११)

मैं हूँ अतीव रुचिराकृत धारि रूपा;
सेवौ सबैहि सम जानि भिखारि भूपा।
विख्यात विश्व विच अद्भुत शुद्धि मेरी;
शंका अलीक यह—होहि मदर्थ देरी ॥

(१२)

चाहै लिखै निपट अल्प वयस्क बाल;
सो अन्यथा न कहुँ कोउ पढ़ै त्रिकाल।
सत्यानुराग मम ईदृश चित लाई;
वैठे विपक्षि—जनहू सहमा लजाई ॥

(१३)

तो हे कृष्ण-कुल-पते! गत-पक्षपात!
काहेऽधिकार मम मोहि न देहु तात?
न्यायाधिदेवहि यदि प्रभु! सत्य बात;
त्यागै, सदा हठि हताऽस्मि विशीर्ण-गात ॥

(१४)

द्वै चारि चारुमति जे विपरीत भाखैं;
स्वार्थान्ध ह्वै तजि मिता शुचि, राग राखैं।
सो मैं करैं जु दस पांच विपक्ष-रूप;
यो बुद्धिशील सुनिहैं निज को प्रमाण ॥

(१५)

जो सत्य मैं गुणवती, नृपवर्म सत्य,
प्राय प्रजा सब चहै यदि मोहिँ सत्य ।
तौ सत्यशोल ! तुम कारण तौ बतावौ;
जा सो मदीय बिनती मन मे न लावौ ॥

(१६)

सत्यानुयायि सुकरात महादुरन्त;
प्राणापहारि विष पान कियो तुरन्त ।
गैलीलियोहु भुव मध्य भयो महाना,
सत्यानुरोध सिगरो जग जासु जाना ॥

(१७)

लै सत्य पक्ष, तजि जीव, यश प्रसारा;
क्राइस्ट कीन्ह चहुँ जानत विश्व सारा ।
तौ सत्य जीति करिहौ तुम जो न हा हा !
हे नाथ ! तोहिं कहिहैं सव लोग काहा ?॥

(१८)

जेती प्रजा सकल सन्तति तुल्य मेरी,
मत्प्रीति रीति तिनमें अति ही घनेरी ।
तौ लौं सको न करि तासु तथापि मेवा,
जौं लौ सहाय तव मोहि मिलै न देवा !

(१९)

नीके निकारि तव इंग्लिश वर्ण शाखा,
इँग्लैण्ड माहिँ हिवरू यदि होहि भा ा ।
तो मद्विपत्ति सव नाथ ! घरी मँझारा,
होवै त्वदीय हृदयस्थ भले प्रकारा ॥

(२०)

तेरी दया वह कहाँ भगवन्! सिवारी ?
मेरी विहार महँ जै विपदा विदारी ।
सोऊ त्वदीय करुणा क्व ? ।अकाल जारे;
लाखौं मनुष्य जिहि अर्द्धमरे उबारे ॥

(२१)

कीन्हे प्रजा दुख-विनाशक-काज नाना;
दीन्हे अनेक अवलौं अभय प्रदाना।
भ्रूभग मात्र महँ होहि भलो हमारो;
कार्पण्य तद्गत न युक्त अहो तिहारो॥

(२२)

श्रेय क्रिया जितिक, विघ्न विना न होही;
जानौ स्वय तउ करौ न कृतार्थ मोहीं।
देव! त्वदीय नहिं दोष, अभाग्य मेरो;
पावौं न मेरु सन जो कण हेम केरो॥

(२३)

विद्वद्धुरीण तव केतिक देश वारे;
सानन्द नित्य गुणगान करैं हमारे।
इस्लामजाति-नरपुगवहू कितेक;
सत्साधुवाद मम हेत कहैं अनेक॥

(२४)

तौहू अहो प्रभुवर! प्रभुता बिसारी;
अत्यल्प-विघ्न-भय-सम्भ्रम-चित्त धारी।
मान्यौ न नाथ! अवलौं विनती हमारी;
आश्चर्यकारि यह नीति नई तिहारी॥

(२५)

जाके सुराज्य महँ नाग सती न पावै;
होतै सुता न यमराज पुरी सिधावै।
उद्दण्डदाप पति की लहि अल्पबाला;
प्राणान्त दु ख सहती न कदापि काला॥

(२६)

ताही प्रभो! वृटिश-वश विशाल माही,
त्वज्जन्म,—याहि बिसरौ निमिषार्द्ध नाही।
आगे कहौं कह? कढै मुख ते न बानी;
दु खातिरेक-वश बात सबै भुलानी॥

(२७)

माता जुपै सुत सुता सन छूटि जाही;
होवै कितो दुख परस्पर देहदाही।
लेडी स्वकीय सन या विधि पूछि, नाथ !
कीजै यथा उचित; नावहुँ तोहिं माथ ॥

(२८)

मैं नारि जाति, अबला, शिथिलांग, दीना;
द्रव्यादि कार्यकर सर्व सहाय हीना ।
श्रीमल्ललाम म्यकडानल धाम जाई,
मध्यस्थ छोडि विनती मम को सुनाई ॥

(२९)

तातें महान् मदनमोहन मालवीय !
दीजो पठाय यह पत्रक मद्द्वितीय ।
विज्ञप्ति एक इतनी सुनियो मदीय
होवो चिराय, यश नित्य बढ़ै त्वदीय ॥

७—सुतपंचाशिका

(८ जनवरी, १९०० के भारतमित्र में प्रकाशित)

(१)

दिन विगत भये पर एक वार, सदवंश-जात अति ही उदार।
चिरमित्र एक मम गेह आय, बोलेउ, यहि विधि मो सन सुनाय ॥

(२)

करि राजकाज सब, आजु, मित्र ! घर आय एक लीला विचित्र।
देखी तिहि विषयक सर्व बात, हौं तोहिं सुनावहुँ सुनिय तात ॥

(३)

पद धारि गेह, पुनि पट उतारि, जहँ के तँह सारे धरि सँवारि।
अन्त: प्रवेश करि, दृश्य एक, लखि मोहिं भये संशय अनेक ॥

(४)

माता सदोष चित्रस्थ गात, कर मे कपोल करि, सीस नाय ।
दृग दोउन ते अँसुआ बहाय, बैठी, जनु निज सर्वसु गँवाय ।।

(५)

मुख पै लट लटकत तीनि चारि, अवलोकत होवहिं कप भारि ।
धोती मलीन उर अंग धारि, कछु सोचति-सी सुधि बुधि बिसारि ।।

(६)

यह देखि भयो मम विकल चित्त, पत्नी तन हेरन के निमित्त ।
गृहकोण माहिँ लोचन चलाय, जो दशा दीख सो कहि न जाय ।।

(७)

मुख ऊपर घूँघुट-घटा तानि, रहि रहि मह सिसकी रुदन ठानि ।
तन वसन सबै महँ धूरि सानि, फुफकरति मनहु नागिनि रिसानि ।।

(८)

वनगमन-नाहि, वरु वज्रपात, सुनि इतो न दुख किय राम मात ।
पतिनिधन जानि घननादनारि, पाई न विकलता इती भारि ।।

(९)

सहधर्मचारिणी - नयन-धार, लखि समरथ फोरन मे पहार ।
अनुमान अमित किय हिये माहिँ, दुख हेतु सके हम जानि नाहिँ ।।

(१०)

भयभीत पीतमुख विकलगात, करकपत हियरो थरथरात ।
तब जाय मातु पहँ, डरत जात, जिमि तिमि, हम या विधि कही बात ।।

(११)

हे अम्ब ! कहहु किन, भयो काह ? किहि कारण है यह दुख अथाह ।
सुनि सुनि यह मातु ! तिहारि आह हौ पावहुँ दुस्तर देहदाह ।।

(१२)

यदि कीन कोउ अपमान आय, कलिही तिहि ऊपर 'समन' जाय ।
यदि मैंहि मातु ! अपराध-सद्म, मम माथ तिहारे पादपद्म ।।

(१३)

हे अम्ब ! धैर्य अवलम्ब लेहु, इतनो वर माँगे मोहिँ देहु ।
कहिये, कहिये, कहिये, बुझाय, किहि हेतु मची यह हाय हाय ?

(१४)

सुनि या विधि मद्विनती विनीत, अनुमानि मोहिँ अतिमात्र भीत।
जननी दुखपावकदग्ध मीत! आरम्भ कीन इमि बातचीत॥

(१५)

पूछहु कह मोसन बार बार, अनजान बने तुम हे कुमार!
सुधि लेत नहीं मम इष्ट देव, कछु जानि परै न अदृष्टभेव॥

(१६)

मैं और बहू व्रत किय अनेक, उपवास न जानहुँ धौं कितेक।
सुर ध्यान रो, बहु करो दान; सनमाने भूसुर, बुध, महान॥

(१७)

बरसो सन्तान-गोपाल मन्त्र-जप भयो, बँधाये विविध यन्त्र।
हरिवंश पुराणहु बार सात, उन सुन्यो; न तउ कछु कहुँ दिखात॥

(१८)

सुनि मन्त्र तथैव पुराण बानि, भय भयो न्यून मम, मर्म्म जानि।
सुव्यर्थ सर्व यह घटाटोप, लखि उपज्यो मन महँ कछुक कोप॥

(१९)

तउ मान्यमातु कर राखि मान्य हठि बीचहि मे हम कछु कहा न।
उन सोइ पूर्ववत अपनि गाथ, गाई इमि मन्द, नवाय माथ॥

(२०)

तुलसी अरु पीपल ेड केरि, दस लाख प्रदक्षिण कीन घेरि।
जल जड में इनकी डारि डारि, कितनेक कूप हम किय उघारि॥

(२१)

व्रत बचे कौन जो हम न कीन? ग्रहदान कौन जो हम न दीन।
उपदेश कौन जो हम न लीन? हा हन्त! तऊ मुत सुत-विहीन॥

(२२)

गुरुचरणन में करि नित्य लीन, प्रतिमास दीन ओपधि नवीन।
कीन्हे बहु यद्यपि मैं उपाय, मम इष्टसिद्धि तउ भै न हाय!

(२३)

यह तनो धन, अरु, धरा धाम, वन, उपवन बाग-विभाग, गाम।
हे पुत्र! कौन लैहहि समस्त? जिय विकल होत गुनि वंश-अस्त॥

(२४)

बिन पुत्र रही किहि विधि निशान, को दैहहि हाहा! पिण्डदान?
ये राशि राशि पोथी पुरान, कित जैहहिँ तजि तव वास-स्थान?

(२५)

छल छाँडि करहु जउ शुद्ध प्रेम, स्वप्राणहु दै जउ चहहु क्षेम।
तउ अपनि होहिँ नहिँ जे परारि, हे पुत्र! सत्य वच ये हमारि॥

(२६)

यह सोचि, मोचि दिन रैनि धार, निज नैननि ते सुत! वार वार।
मै पावहुँ हा हा! दुख अपार, प्रविशो जु होहि महि में दरार॥

(२७)

धिक मोहि, हाय मै महा नीच; धिक भाग्य मोहि आवै न मीच।
धिक धिक धिक मै पापिनि महान जिहि हियो न सुत-सुत लै जुड़ान॥

(२८)

यहि भाँति विविध विधि करि विलाप; सिर धुनि धुनि अति उपजाय ताप।
तन वसन केरि सुधि-बुधि विसारि, जब थाकी छाती मारि मारि॥

(२९)

निज जननी सम्मुख हाथ जोरि, बहु वार विनय करि अरु निहोरि।
तव बोले हम यो समय पाय, वाणी अवसरही पै सुहाय॥

(३०)

हे मातु! वृथा कत करहु शोक? सुनि कैहहिँ कह बुधिवन्त लोक?
जामे न कछू अपनी बसाय, खेदित तदर्थ को होहि माय?

(३१)

सुत-वदन-भूरि धरि भूरि लोक, दुखहू महँ होवहिँ विगत शोक।
यह सर्व सत्य; पै सुनहु तत्व, कर अपने में नहिँ ईश्वरत्व॥

(३२)

सब होहिँ न जग मे पुत्रवान, न तथा निगरे धन-धान्यवान।
बुधि, विद्या, आदिक सर्व माहिँ, समता सदैव कहुँ होति नाहिँ॥

(३३)

जाकी दशा जु, तिहि मे सुकर्म, करि तोर युक्त रहिबो हि धर्म।
इक पुत्र मात्र सब सौख्य-मूल; अस कहिबो भारो मातु! भूल॥

(३४)

हे अम्ब! कहहुँ तोसो त्रिवार, सुत मे सुखसोऽधिक दुखभार।
यह केवल कल्पित कथासार, न करो तुम कबहूँ अस विचार॥

(३५)

हमरे सुत हाहा! होत नाहि, अस गुनि, निमग्न दुख-सिन्धु माहिँ।
जब होत, तासु रोगादि काहिँ लखि, पुनि दुखसागर मे समाहिँ॥

(३६)

यदि दुष्ट, मूर्ख, व्यभिचारि, चोर, नर पावहिँ निशिदिन दुख घोर।
यदि गुणी, तासु दीर्घायु हेत, पितु मातु, बनै चिन्ता-निकेत॥

(३७)

गुणवान मरै यदि पुत्र हाय! तब तो दुख सीमा नहिँ दिखाय।
अति अगम शोक उर छाय छाय, लै जात तहँ जहँ पुत्र जाय॥

(३८)

शत सहस माहिँ कहुँ इक सपूत, लखि परै, शेष सारे कपूत।
निज नैननि सो स्वयमेव नित्य, जननी! तुम देखहु सत्य सत्य॥

(३९)

सुविचारि, यथा-विधि, सर्व बात, नहिँ मोहिँ खेद कारण दिखात।
यदि होहि तनय दुर्गुण निधान, सुख दूरि दुख पावहु महान॥

(४०)

यदि निर्गुण अथवा सगुण जात,* निश्चय नहिँ पहिले होहि मात।
तो सुत-विहीन रहिबो हि इष्ट, इक हेत अर्द्ध को तजहि शिष्ट॥

(४१)

लखि मातु, पिता, सुतसुता हाल घर घर में सबके अति कराल।
हम भाग्य आपनो धन्य मानि, सुखसो नित सोवहिं वस्त्र तानि॥

(४२)

तुम हौ जब लौं तब लौ, तिहारि, आदेश हस्त करिहैं हमारि।
पीछे त्वदीय कथनानुसार, ह्वै है समस्त अन्त-प्रकार॥

(४३)

धन, धाम देखि मोको न शोक, यदि होत हाथ मेरे त्रिलोक,
सब दै, शरदिन्दु-मयूख-भास, हम लूटित यश बिनही प्रयास॥

---

* जात = पुत्र

(४४)

दुर्दैव जो न अस करन दीन, पत्नी प्रयाण पहिलेहि कीन।
तो, जो यह भारतवर्ष राज, सभारन सबके देखि काज॥

(४५)

सोई मदीय अत्यल्प धाम, पट, पुस्तक, पृथ्वी और दाम।
लै, यथायोग्य करि तदुपयोग, सकिहैं न, कहौ अस कौन लोग ?

(४६)

वहु पुत्रवान, जनके निशान, मिट गये, न कोऊ कतहुँ जान।
पै सुयशवान, जउ पुत्रहीन, भे अमर विश्व विच नाम कीन॥

(४७)

सुतही सुमुक्ति-दाता प्रवीन, अस बोलहि केवल बुद्धिहीन।
जिहि जाति माहि नाहि पिण्डदान, सब जावैं नरकहि ! कह प्रमान ?

(४८)

सत्कर्म, धर्म अरु दयाभाव, उपकार, सदा सरल स्वभाव।
सन्मुक्ति हेत येही समर्थ, आडम्बर और विशेष व्यर्थ॥

(४९)

मरणोत्तर चाहै मम शरीर, सुरसरित जाय वा ताल-तीर।
क्षिति, नभ, जल, पावक, पवन-जाल, जहँ के तहँ जैहहि अन्तकाल॥

(५०)

मम बन्धु विश्व, तौ जे विशेष, मत्प्रीतिपात्र तिनमें अशेष।
अवलोकि आजु मेरोऽवलम्ब, मन मे जनि अचरज करहु अम्ब॥

(५१)

हौ सम्प्रति मैं जिन पैऽनुकूल, ते ह्वै करै जउ तउ न शूल।
मन समुझव अस, तिन कृपा कीन गत जन्म, तासु हम फेर दीन॥

(५२)

आद्यन्त मातु ! तातें विचारि, तुम धरहु धीर, सब दुख बिसारि।
परितोष वाक्य मैं यो उचारि, आयहुँ इत; सम्मति कह तिहारि ?

(५३)

सुहृद कथित वानी सत्यतासारपूरी, श्रुतिपथ मि आनी, वाह वा भाषि भूरी।
निज मत कहि तासो, वायुसेवा निमित्त, हम उपवन आये दोउ विश्वस्तचित्त॥

(४ दिसम्बर १८९९ के भारतमित्र मे प्रकाशित)

कविवर लक्ष्मणसिंह भूप को आत्मरूप अविनाशी
नगर आगरा ते चलि पहुँचो जब सुरपुर सुखराशी।
दरश निमित्त चित्त उत्कण्ठित हिये बढाय हुलास,
गयो, प्रथमही, और छोडि सब, कालिदास के पास॥

(२)

मासहीन मानुस की ठठरी ठठ्ठ समान शरीरा,
पुतो मनहुँ मुख ऊपर कारो कज्जल जल गम्भीरा।
रोष-शोक-सन्ताप-जर्जरित अस कविकुल-गुरु-रूप,
लखि सशक भयभीत भये अति मन मे लक्ष्मण भूप॥

(३)

क्रमश परिचय पाय कवीश्वर डगमग पग सम्भारी,
उठे मिलन हित अश्रु बहावत, दोऊ भुजा पसारी।
सकुचे लक्ष्मणसिंह प्रथम, कहुँ हाड न हिय गडि जाहिँ,
सोचि समुझि पै लयो लगाई निज हृदय-स्थल माहिँ॥

(४)

कछुक काल इकएक परस्पर देखत रहे दुखारे,
मुख ते कढै न बात, यत्न बहु दोऊ करि करि हारे।
क्षत्रिवश अवतश क्षणिक महँ धीरज हिये दृढाय,
बोले,—कालिदास जी! कहिए अपनी दशा बुझाय॥

(५)

यश दिगन्तगामी तव, मुख पै कत मलीनता छाई?
किहि कारण अति कृशित भयो तनु? दृगजल कत अधिकाई?
सुनि अस प्रश्न और दुख दारुण मानहुँ तोरि कपाट,
निकरि परो लोचन-जल मिस ते गहि मनमानी बाट॥

(६)

गद्‌गद-कण्ठ विकल, विह्वल वह रहे दण्ड इक भारी,
कविवर लक्ष्मणसिंह सान्त्वना विविध भाँति उच्चारी।
अश्रु पोंछि वहु वार वस्त्र सों लै लम्बी निश्वास,
जिमि तिमि दशा सँभारि आपनी, वोले कालीदास ॥

(७)

इत आये भे दिवस मोहिं वहु, कवितावधू हमारी,
रही उतैंहि भग्त भूमी महं मम प्राणन ते प्यारी।
यदपि वियोग होत ही मेरो भइ वह निपट अनाथ,
पटकि पटकि सिर मित्र! आपनो फोरा वाने माथ ॥

(८)

छाया यदपि पाणिपल्लव की पाय पवित्र तिहारी,
रण्डा-दशा-जनित दुख ससृति वाने कछुक विसारी।
हाय ताहि तुमहूँ तजि आये उर कठोरता धारि,
मित्र! मरी अव विना मीचु वह हाहा! प्रिया हमारि ॥

(९)

प्राणिमात्र कहँ नारि पियारी, जानत सव ससारा,
कवितावधू परम रसिका मम हती प्राण आवारा।
तासु दुर्दशा देखि हिये के होवहिं खड हजार,
रौरव नरक समान स्वर्ग यह देवै दुख अपार ॥

(१०)

विक्रम, भोज आदि भूपालन जाहि महा सनमानी,
छोड़ि ताहि, तोता मैना की नृप अव सुनै कहानी।
दुख तुम्हे प्रियतमे! प्रिये! हा प्राणाधिके! अथाह;
सोचि सुखानो तनु मम; मुख ते निकरत निशि दिन 'आह' ॥

(११)

लखि कामिनि कमनीय अरक्षित, विवि लोग, जग माही,
चाहहिं करन आपनी ताको यदपि योग्यता नाही।
तद्वत कविता प्रिया हमारी इत-उत ऐंची जात;
हे त्रिशूलपाणे! त्रिपुरान्तक! धावहु विगरति वात ॥

(१२)

रस के रुचिर भेद नहिँ जानत तद्यपि बाहु पसारी,
वा रसिका सो चहहिँ, मोहवश, आलिंगन, बलिहारी।
भागै दूरि घृणा करि जउ वह, सरै न एको काज;
तऊ बलात्कार में नेको आवै तनिक न लाज॥

(१३)

रसिकशिरोमणि कालिदास बिनु, अन्य पुरुष रस भाषी,
ताहि लखाहिँ हीन, पौरुष बिन, अहहिँ चित्रु मम साखी।
पति अब वाहि और नहिँ भावै विधवा वर्ष करोरि,
चाहै रहै सहै दुख दारुण मित्र! बहोरि बहोरि॥

(१४)

माता सम अथवा भगिनी सम जानि, ताहि घर आनी,
सेवै जो सनेह युत, ताकी करै सदा मनमानी।
तुम औ नासिकस्थ 'लेले' हू है प्रत्यक्ष प्रमान,
दिग्गामिनी कीर्ति दोउन की, जानत सबै जहान॥

(१५)

अनुचित भाव धारि, हठ ठानी, नर, असमर्थ घनेरे,
व्यर्थ वशी करिबे कहँ ताको, करैं यत्न बहुतेरे।
महा सरस रमणीया रमणी विरस होति यहि भाँति,
जिमि हंसी लखि ताल तीर पै उजरी बगुलन पाँति॥

(१६)

सहृदय-लक्षण-हीन सकैं नहिँ वाको जब अपनाई,
चित्र-विचित्र वस्त्र छल-बल करि देहिँ ताहि पहिराई।
आडम्बर अस घृणित देखि वह औरहु दूरि पराय,
हा हा प्रिये! तिहारी या विधि, दुर्गति देखि न जाय॥

(१७)

जरमन मे कोऊ पक्षी-पर-खचित टोप उपजाई,
फ्रांस देश पेरिस में कोऊ चोली चारु सिलाई।
गौन बनाय पाय लौं कोऊ लंदनवासी वीर,
करन चहहिँ अनुकूल ताहि हठि हाय! होय सुनि पीर॥

(१८)

पूना-नागपूर-मदरासी धोती रंग रँगीली,
लोगन पकरि पकरि पहिराई काली, लाली, पीली।
कहुँ बनारसी कहुँ कलकतिया कहुँ बम्बई जात,
सारी लाय लाय लिपटाई कविता-कामिनि-गात॥

(१९)

घेरदार घाघरो अवध को कोऊ बुरो बनाई,
ग्राम वधूटिनहू की, जिहि लगि, उठै आँग अधिकाई।
बरबस पकरि प्रिया की चोटी तन महँ दीन ढकेलि,
हाहाकार सुने नहिं नेकहु वाके जानि अकेलि।

(२०)

असि अनर्थ निज नैननि सो तुम दीख मित्र! बहुतेरे,
पूँछहु तऊ भये किहि कारण अग दूबरे मेरे।
लखि निज तिय अपमान जासु मुख मषीवर्ण नहिं होय,
रोष-वेग वश सत्य कहहि हम, जानहु मनुज न सोय॥

(२१)

इतनीहूँ करि रसिक-शिरोमणि ये न रहहिं अरगाई;
आगे करै जु ताहि देखि हिय टूक टूक ह्वै जाई।
वशीभूत जब होति न वह तब तत्प्रतिबिम्ब बनाय,
राखन चहहिं गेह अपने महँ, हा! हा! हा अन्याय॥

(२२)

चित्र-कला-कौशल्य सिखे बिनु हस्त लेखनी धारी,
बैठहि तत्प्रतिरूप उतारन करि अभिलाषा भारी।
चित्र दुर्दशा देखि उडै सब मेरे होश-हवास,
उमगैं एक बारही तीनो क्रोध, शोक, उपहास॥

(२३)

प्रतिकृति-लेख-परिश्रम सो जनु पाय प्यास अधिकाई,
लावण्योदक प्रथमहिं क्रमश घट घट जाहिं चढाई।
कोमलता तन की, प्रसन्नता मुख की, बहुरि बहाय;
ये कृतार्थ होवहिं रविवर्मा के प्रतिपक्षी हाय!

(२४)

मुग्ध रूप मोहक कविता को क्रम क्रम सवै नसाई;
जरठा साठि वर्ष की लिखि कै मारहिं वृथा वडाई।
हाट-वाट सब माहिं दिखावहिं; फूले उर न समात;
हे हे विषम-विलोचन! अनरथ नहिं अस देखो जात॥

(२५)

महा महाकवि कोउ दिखावत अतिशय हाथ सफाई;
अंग अंग कविता की दुर्गति करैं नित्य अधिकाई।
यदि कटि लिखैं, न कुच, यदि सीधो कर, मुख वक्र वनाय;
एक पैर काटैं, इक राखैं, त्रिनयन! होहु सहाय॥

(२६)

श्रीभवभूति आदि औरहु कवि रसिक-शिरोमणि सारे,
वसि स्वर्गहु में सहत याहि विधि कष्ट नरक सम भारे।
निज निज प्रिय-कविता-वनिता की देखि दुर्दशा भूरि;
धुनो करैं सिर, अकविवृन्द को साहस निंद्य विसूरि॥

(२७)

कविता-कुलकामिनि कलाप की दुर्गति कहि नहिं जाती;
को अस सहृदय विश्व वीच, सुनि जाकी फटै न छाती?
इतनो स्वप्न देखि हम, इक निशि, जागे प्रात काल;
कालिदास नहिं, कहुँ, तथैव नहिं लक्ष्मणसिंह भुवाल॥

१६—मेघोपालम्भ

(नवम्बर, १९८९ के हिन्दी-वंगवासी मे प्रकाशित)

(१)

मेघ! त्वदीय अनिरीति सही न जाई;
कहूँ न बूँद, कहुँ दीन नदी वहाई।
नावौ धराधरनि ऊपर वारिधारा,
अत्यन्त घोर अविचार अहो तिहारा॥

(२)

नीकी यथासमय वृष्टि भये बिनाही,
बोयो न बीज जिन लोगन भूमि माही,
तन्मर्म्मकृन्तक कथा सुनि हाय ! हाय !
होवै न को विकल दुसह दुख पाय ?

(३)

देखै कहूँ कहुँ जु शस्यलता-वितान;
ज्वारी, तिली, मृदुल मुद्गल, मोठ, धान ।
ज्यो ज्यो सुर्वाहि नित ते, दुखिया किसान,
त्यो त्यो करै रुदन, सूखत जात प्रान ॥

(४)

सप्ताह, पक्ष, दिन, रैनि, घरी प्रमान,
त्वन्मार्ग दीख हम सर्व्व सदा समान ।
बीते द्विमास नहिं वारिद ! वारिदान;
ठानी कहा ? कत करो विनती न कान ?

(५)

"आर्द्रान्तरात्म बहुश करुणार्द्र होही",
भूली तदुक्ति कवि की कह आजु तोही ?
देखौ, सुनौ, जलद ! चित्त करौ विचार;
हाहामयी सकल ओर उठी पुकार ॥

(६)

तेरे विना गगनमडल नाहिं सोहै,
कोऽन्य त्वदीय चपला विनु चित्त मोहै ?
हे मेघराज ! तुम आज कहाँ सिधारे ?
हारे पुकारि हम भूतल लोग सारे ।

(७)

एहो घन ! प्रथम आय महा अपार,
हाहा बहाय जिन दीन पय प्रवाह ।
देवौ न बूँद कहूँ, तुम नीर नाई !
लज्जाहु, दीन दुख देखि, तुम्हैं न आई ॥

(८)

चारा नहीं; चरहिं काह पशू विचारे ?
सूखीहु घास मिलती नहिं, खोजि हारे।
जो लोग-कष्ट लखि तोहिं दया न आवैं;
तो काह मूक पशु-दु:खहुँ ना दुखावैं ॥

(९)

वापी, तड़ाग, अरु कूप सुखान लागे;
पक्षी, पशू अबहि तें बिललान लागे।
रोग प्रजाविपिन-तीक्ष्ण-कुठार जागे,
पानी विना न बचिहैं इकहू अभागे ॥

(१०)

श्रीकृष्ण-वर्ण करुणाकर केर पाई,
सीखी कहाँ इतिक मेघ ! कठोरताई ?
प्राणातिरिक्त हरि की प्रिय धेनु सारी,
देखौ, उठाय सिर, काह कहैं दुखारी ?

(११)

अन्नाम्बुदान जिन जीवन को हमेश,
दै प्राणरक्षण कियो तुम निर्विशेष।
कारुण्यपात्र तिनही कर आजु काहा,
हत्याप्रकाण्ड करिहौ घन ! घोर हाहा ?

(१२)

तातें अहो जलदराज ! हिए विचारी,
आऔ अवश्य जनदीन दशा निहारी।
नावौ यथा-उचित वारि मही-मझारी,
भारी विपत्ति, यहि भाँति, हरौ हमारी ॥

२०—शरत्सायङ्का

(१३ नवम्बर, १८९९ के भारतमित्र में 'काशित

(१)

जाके पूर्व, प्रतिपद, घने केतकी-कुञ्ज, बाग,
झांसी में है विमल जल सो पूर्ण "लक्ष्मीतडाग"।
एक प्यारो सुहृद सँग लै, जाय तत्तीर देश,
सायंशोभा शरदऋतु की देखि जो जो विशेष ॥

(२)

सो सो सारी गुनि निज हिये नित्य ही बारबारा,
मोदोद्रेकद्रवित सिगरो देह होवै हमारा।
कोकाबेली, पवन सियरी, वारि की चारुताई,
को है ऐसो, कर्गाहे नहि ये जासु तल्लीनताई ?

(३)

नाना पक्षी अरुण पियरे पाद औ चंचुवारे,
चन्द्र-ज्योत्स्ना-सम-सित घने पक्षतिद्वन्द्व वारे।
धीरे धीरे विरुत मिस ते सर्व साथी बुलाई,
ऊँची ग्रीवा करि करि उड़े पंक्ति सो पंक्ति लाई॥

(४)

थोरी वेला कलकल भयो पक्षिसम्भूत भारी;
मानो बालाशिशुगण तहाँ वेदवाणी उचारी।
पश्चात भृङ्गाऽरव तजि, चहूँ पूर्णत शान्ति छाई;
तत्कालीन प्रियवर! कही जाय ना रम्यताई॥

(५)

चेती हारी सुभगनवलानारिवक्षोजरूपा,
ऊँची ऊँची कुमुदकलिका स्वच्छ अच्छी अनूपा।
बारंबार स्परशि सलिल स्निग्धता संग लाई;
गन्धोद्वाही अनिल अखिल श्रान्ति देवै नसाई॥

(६)

शाली-पंक्ति-प्रचुर-रचना शोभती जासु तीरा,
अम्भोजाऽऽली-दल सन छिपो मध्य में जासु नीरा।
छोटी छोटी चपल शफरी खेलती जासु माही;
शोभाशाली अस सर करै काहि सतुष्ट नाही ? ॥

(७)

येही भृङ्ग भ्रमि दिवस में पद्मिनीसद्म माही,
आये धाई शठ अब तै, नेकहू लाज नाही।
मानो योही कुमुद वनिता षट्पदव्रात काही,
वाताघातच्छल सन शिर कम्प कै कै रिसाही ॥

(८)

ज्योंही सायसमय सविता रक्तिमा धारि भारी;
अस्त प्राय भयहु गगनश्यामलीला निवारी।
त्योंही काष्ठानल महँ जरी व्योमलक्ष्मी दुखारी,
तारारू ी प्रकटित करी आपनी अस्थि सारी ॥

(९)

ज्योंही चण्डद्युति दुरि गयो, चन्द्रमा त्योंहि आई,
व्यक्त व्योमाङ्गण महँ भयो हर्ष नि सीम पाई।
होवैं एक प्रमुदित, पर त्रस्त तत्काल लोग;
हा हा देखौ विषम विधि के पूर्व्वकर्म्मानुयोग !

(१०)

जैसे जैसे विशदशशि की भासपीयू राशी,
आकण्ठाग्र द्रुततर करी पान, लै लै उसासी।
तैसे तैसे विकसनगति व्याज ते एक एका,
देखादेखी कुमुद उदरस्फोट पावैं अनेका ॥

(११)

ऊँची ऊँची चपललहरीमध्य देखो निशेष-
च्छाया काँपै मनहुँ भय सो भानु के निर्विशेष।
जौहू लोकत्रय यशकथाकौमुदोकीर्ण होवै,
तौहू को न प्रवल-रिपुज-त्रास सो धैर्य खोवै ? ॥

(१२)

नेत्रानन्दप्रद शरद की चन्द्रिका चारुताई;
मन्द स्निग्ध-श्वसन-सुखमा, नीरलीला निकाई।
होवै चित्तस्थित जब, रहै मोद मर्य्याद नाही।
आधि, व्याधि, क्षण भरि, जिती सर्व बाधा बिलाही ॥

२१—श्रीधरसप्तक

(२५ दिसम्बर, १८९९ के भारतमित्र में प्रकाशित)

(१)

बाला-वधू-अधर-अद्भुत स्वादुताई,
द्राक्षाहु की मधुरिमा, मधु की मिठाई।
एकत्र जो चहहु पेखन प्रेम-पागी,
तो श्रीधरोक्त-कविता पढियेऽनुरागी ॥

(२)

पीयूष है यदि पदार्थ, यथार्थ कोऊ,
काहे न ताहि करि पान प्रसन्न होऊ?
प्रत्येक पद्य, प्रति पक्तिहु में सदाही,
सो विद्यमान कवि-श्रीधर-काव्य गाही ॥

(३)

जाकी कवित्व-पद-कोमलताऽधिकाई,
आबाल-वृद्ध-जन चित्त लयो चुराई।
सोई कवीन्द्र विजयी जयदेव आई,
लीन्ह्योऽवतार कह श्रीधर-देह पाई?

(४)

माधुर्य्यमन्त्र, रसरञ्जन-सिद्धि ारी,
अत्यन्त-कोमल-कवित्व-कलाप-कारी,
जाके कहे सुयशगीत सुनै सुरेश,
आयौ सु अर्गलपुरी कह किन्नरेश?

(५)

कोऊ कहूँ मृदुल पद्य सकै बनाई,
स्वारस्य-युक्त कहुँ कोउ सुअर्थ लाई।
लालित्य-लास्य, रसराशि, सदर्थ गाथा,
सोहैं सदैव सब श्रीधर-काव्य साथा॥

(६)

बानी बसै सुकवि-आनन में सयानी,
मानी जू जाय यह बात सुनी पुरानी।
तो सत्य सत्य कविता कविरत्न तेरी,
वाही त्रिलोक-परिपूजित-देवि प्रेरी॥

(७)

'तासों कहौं कछु कवे! मम ओर जोवौ,
हिन्दी-दरिद्र हरि तासु कलंक धोवौ।
होवौ शतायु; सुख सो रहि, दुःख खोवौ,
फैलै त्वदीय यश, सर्व-व्यथा विगोवौ॥

२२—प्लेगस्तवराज

(१९ मार्च, १९०० के भारतमित्र मे प्रकाशित)

ॐ अस्य श्री प्लेगस्तवराज-महामन्त्रस्य डाक्तर यमराजाचार्य डबल एम०, डबल डी०, ऋषि, पटापटश्छन्द, श्रीप्लेगदेवता, ह्रींशक्ति; श्रीं कीलकम्, बदत्रीजम, सर्व—स्वाहाकरणार्थ जपे विनियोग।

ॐ ह्रीं श्रीं मारय मारय मारय—इति मंत्र। अथ करन्यास—चूहा-वाहनाय अंगुष्ठाभ्यां नम। होशहारिणे तर्जनीभ्यां नम.। महाक्लेशकारिणे मध्यमाभ्यां नम कालस्वरूपिणे अनामिकाभ्यां नम। प्रचण्डशक्तिधारिणे कनिष्ठकाभ्यां नम। प्राणसंहारिणे करतलकरपृष्ठाभ्यां नम.। अथ अंगन्यास। महाशूलोत्पादकाय हृदयाय नम। पकड़ कर प्लेग अस्पताल नेत्रे शिरसे स्वाहा। अंग प्रत्यंगदारुणपीडादात्रे कवचाय हुम्। अत्युग्रसन्निपातकर्त्रे नेत्राभ्यां वौषट्। गृहद्वारपुत्रकलत्रबन्धनविनाशिने अस्त्रत्रयाय फट्। अथ ध्यानम्—

ध्याये सदैव मनुजक्षयहेतुभूतम् ,
दंष्ट्राकरालवदनं किल कालरूपम् ।
प्राणापहारकरणे निपुणं नितान्तम् ,
प्लेग विशालवदकारणमादिदेवम् ॥

२—अथ पूजापद्धति । इस पूजा में प्लेग की आराधना करनेवाले की अश्रुधारा पाद्य है। उसके कुटुम्बियों की आँखें अर्घा हैं और उनसे गिरनेवाले जल अर्घ है। दांत पीसना अक्षत है। हाय हाय करते हुए ऊर्ध्व श्वास लेना धूप है। निराशा दीप है। दवाइयाँ पुष्प है। सन्निपातनाशक लेप चन्दन है। वरांना मधुपर्क है। घर की अथवा अस्पताल की चारपाई यूप (खूँटा) है। उसी यूप मे, बलिदान के निमित्त, आशारूपी रज्जु मे प्राणपशु बँधा है। औषधोपचार खड्ग है। डाक्टर हाफकिन पुरोहित है।

३—अथ स्तवराज। हे प्लेग! हे प्लेगराज! हे भारकासुर! आपको हम किस नाम से पुकारें? विष्णुसहस्रनाम के समान यदि एक प्लेग सहस्र-नाम बनता तो भी आपके नामों की गणना निःशेष न होती। कोई आपको मरी कहता है, कोई विसर्प कहता है, कोई प्लेग कहता है, और कोई ग्रन्थिक सन्निपात कहता है। परन्तु ठीक ठीक कोई नही कह सकता कि आप कौन हैं। रूप तो आपका समझ में आगया है, परन्तु नाम अभी तक किसी की समझ में नहीं आया। अतः हे बोखार के खालू! हे बद के दादा! हे सन्निपात के प्रपितामह! आप तब तक यही नाम ग्रहण करें।

४—आप ब्रह्मा हैं। इसमें कोई सदेह नही। नही, नही, ब्रह्मा से भी बडे हैं। ब्रह्मा बिचारे को उत्पन्न करना ही आता है, मारना नही आता, मार वह एक खटमल तक भी नही सकता। परतु आप विलक्षण स्वयभू देव—क्या दानव हैं। बिना सूचना के, बिना पूर्व-रूप के, अकस्मात्, कुश्क में रूसी सेना के समान, आप प्रकट हो जाते हैं और एक एक का सहार करते चले जाते हैं। अतः हे रुद्रब्रह्मरूपिणे युगपत सृष्टिसहारकारिणे तुभ्य नमोऽस्तु।

५—हे ब्यूबानिक प्लेग! आप वामन-ओ, नो, (O, no) त्रिविक्रम हैं। पहले आपने अपना बालस्वरूप बम्बई मे दिखलाया था, फिर धीरे धीरे पूना, शोलापुर, धारवाड, बँगलौर, मदरास, कराची, पजाब, नागपुर, कलकत्ता आदि तक बढ कर अब पश्चिमोत्तर देश में भी आपने अपना पैर फैलाया है। परन्तु याद रखिए, आपका आगे बढना अच्छा नही। अ क

हौसला दिखलाने मे सर अटोनी मेकडानलरूपी वलि आपको सात समुद्र पार, महाप्रलय तक, अहोरात्र खड़ा रक्खेगा। अत होशियार !

६–हे महामारी के मामा ! आपकी सत्ता सब कही जागरूक है ; अतः आप सर्वव्यापी विष्णु हैं। आप सहस्रलिंग स्वयभू शभु भी है, क्योंकि गिल्टी के वहाने आपका लिंग मनुष्य की वगल मे, गरदन में, जाँघ की जड में सव कही आपही आप उत्पन्न हो जाता है। न लक्षणो से आप हरिहर-रूप हु । अत हरिहराकारामुदारा तनु" ते नम ॥

७–हे विसर्प के वावा ! कहते डर लगता है ; परन्तु हम कहे ही डालते है कि, आप अजीव सिफारशी टट्टू हैं। पहले और दूसरे दर्जे के टिकट का लालच दिखलाते ही आप अपने भक्तो को अभय कर देते हैं। फिर चौमा के मौसा की भी दाल नहीं गलाई गलती। परन्तु यह रिश्वत सच्चे दिल से न देने से, आप देनेवालो को अलीपुर, नैनी इत्यादि में वने हुए विना भाडे के वडे वडे घरो की हवा खिलाते है। लोग कहते है कि मक्खी और वाल हज़म करनेवालो ही को रिश्वत हजम होती है, फिर, आप भला क्यो न हज़म कर सकें ? आपने तो अनगिनत जीव और वालो मे खचाखच भरे हुए अनगिनत मूँड खाये है। हे सर्व-भक्षक ! मनुष्यो की अन्धी खोपडी आपका स्तोत्र गाने में असमर्थ है।

८–हे सन्निपातराज ! हमने सुना है कि जब आपका मानुषी नैवेद्य कम हो जाता है तव आप वदरो पर भी हाथ फेरने लगते हैं। परन्तु जरा पुरानी दिल्ली और पुरानी लका का स्मरण कर लीजिए। आपके लिए इतना ही गारा काफी हैं !

९–हे नरारण्यहिरण्येरत ! आपको साक्षात् अग्नि कहने मे क्या आपत्ति है ? आपका आगमन होते ही ज्वराग्नि का वेग डाक-गाडी की गति के समान वढता हुआ, थोडी ही देर मे, नाण्डव जलाने के समय का-सा रूप धारण करता है। अत अग्निमीटे प्लेगरूपं त्व मा पाहि पुरोहितम् ।

१०—हे लयकर प्लेग ! आपके दया तो छू ही नही गई। निर्दयता में आप नाना साहव के भी नाना है। जरा ज़रा से बच्चों को आप विना वाप का कर डालते हैं। जिनका द्विरागमन तक नही हुआ ऐसी अल्पवयस्का वालाओं को आप विधवा कर डालते हैं। जिनके एक ही पुत्र है उनको भी आप अपुत्री करने से नहीं हिचकते। जान पड़ता है आपके कलेजा ही नहीं है ! और अगर है भी तो ईस्पात का है, अथवा पत्थर का है। अत हे "वज्रादपि कठोर" ! आपको दूर ही से दस्तवस्ता सलाम करना चाहिए।

११—हे प्लेगावतारी कालभैरव ! आपका नाम सुनते ही कलेजा काँप उठता है। नगर में आपका आगमन होते ही घर, द्वार, लडकेवाले कपडे-लत्ते छोडकर, मनुष्य इतस्तत भागते फिरते है, परन्तु आप उनको फिर भी नहीं छोडते। आपका प्रचण्ड दण्ड उठते ही श्मशान-यात्रा का प्रस्थान लोगो को रखना ही पडता है। आपकी बदौलत अगणित कपाल ढुलकते फिरते हैं। हड्डियो के भी इतने ढेर हो गये है कि एक क्या चाहे लाखो दण्ड तैयार कर लिये जावे। सर्पो का जनेऊ बनाने की तो बात ही जाने दीजिए, क्योकि आप स्वयमेव वासुकी, काली आदि सर्पो से भी अधिक भयकर विषधर है। अत —

करकलितकपाल कुण्डलीदण्डपाणि-
स्तरुणतिमिरनीलव्यालयज्ञोपवीती।

यह वर्णन आपके अनुरूप नही; इससे बढकर होना चाहिए ! इतनी शिष्टता आप अवश्य दिखलाइए कि जो आपके मत्र का अनुष्ठान करें उनको अपनी दष्ट्रा से बचाये रखिये। मत्र आपका यह है —

ॐ ह्री प्लेगाय जीवितोद्धारणाय कुरु कुरु प्लेगाय ह्री।

१२—हे गिलटी रोग के गवर्नर ! आपके यमराज होने मे कोई सशय नही। यमराज तो एकही आध के ऊपर कभी कभी अपना त्रिशूल उठाते हैं; आप तो कुटुम्ब के कुटुम्ब स्वाहा करते चले जाते है, परन्तु फिर भी आपका पेट नही भरता। आपका शूल बहुत ही भयानक है। आप अपने वाहन भैसो से तो नही बोलते, परन्तु गणेश के वाहनो को ढूँढ ढूँढ प्लेगलोक को पहुँचाते हैं। गणेश ने भी आपसे बदला लेने के लिए डा ब्रिटेन साहब को अपना एजेन्ट बनाया है। यही कारण है कि जो अहमदाबाद के आस-पास आपका एक भी प्यारा भैसा और उसकी एक भी प्यारी भैस नही बचने पाती। उस प्रान्त मे आप बहुत दिन तक रहे हैं, इसी लिए गणेश ने वही अपनी एजेन्सी खोली है। हममे तो बदला लेने की क्या आपके सम्मुख होने की भी शक्ति नही। अत, यस्य छायामृत यस्य मृत्यु; तस्मै देवाय भवते हविषा विधेम।

१३—हे प्लेगराज ! आप रसिको के शाहन्शाह हैं। महामारी का अस्पताल आपकी राजधानी है। पुलिस और पल्टन के गोरे आपके पताकाधारी नकीब हैं। डाक्टर आपके पार्षद हैं। सेग्रीगेशन कैम्प आपका क्रीड़ाकानन है। वहीं आप और आपके आश्रित लोग नाना प्रकार की क्रीड़ायें किया करते हैं। कभी जल-विहार देखते हैं; कभी एक एक की गठरी खोलकर चित्र-

विचित्र वस्त्र और वस्तुओ से अपने नेत्र सफल करते है, और कभी स्त्री-पुरुषो की गिरिटियाँ टटोलते है। इसी प्रकार आप अपना दिल बहलाते रहते हैं। जिसमें आप प्रसन्न रहे उसी में हमारी भी प्रसन्नता है, परन्तु हमारे आवरू रूपी जहाज की पतवार जो आपके हाथ में है, उसे मत छोड दीजिएगा। हम हा हा खाते है। त्वा प्लेगदेव शरण प्रपद्ये।

१४—हे सन्निपात-शिरोमणे। आपको हम सफाई के मोहकमे का सबसे बडा अफसर समझते हैं। आप मनुष्यो की, चूहो की और बन्दरो की तो सफ़ाई करते ही है, मकान और गली-कूचो तक की सफाई आपके भय से, समय समय पर, हुआ करती है। यो साल मे, दिवाली पर, एक ही बार मकानो की सफेदी होती थी, अब आपके प्रभाव से कई बार दिवाली के दिन याद आते है। ऐसे तो आप गन्दे मकानो के भीतर चोर के समान छिपे पडे रहते है, परन्तु सफाई होते ही आप भग खडे होते है। इससे हम क्या समझें? सफाई से आपको रगबत है या नफरत? आपकी माया कुछ समझ में नही आती। अत, मायाविन त्वा शिरसाभ्युपैमि।

१५—हे सर्वापहारिन्। जिस कृपाकटाक्ष से, जिस दयार्द्रभाव से, जिस प्रेमदृष्टि से आप इस समय डाक्टर और दाइयो को देख रहे है, उसका विचार करके बुद्धि चक्कर में आ जाती है। आपही के भाव से आजकल इनकी धेली छ टके की चल रही है। आपकी कृपा का एक कण इस ओर भी आने दीजिए। स्त्री को पति से, पुत्र को माता से और सेवक को स्वामी से पृथक् होते देख अपने वज्र हृदय को द्रवीभूत होने दीजिए। घरो का तोड़-फोड और गृहस्थो के सामान का सत्यानाश होने देख क्या आपका कठोर कलेजा ज़रा भी नही दहलता? आपका स्तवन करने की हममे शक्ति नही। हम एक य कश्चित् मनुष्य है। अत हमारे थोडे ही कथन को आप बहुत समझिए। हे ज्वरज्वालामालिन्। हे प्रतिप्रलयकारिन्। हे करालदंष्ट्रकाल! हे मनुष्यक्षयकारक प्रचण्ड पेच। अब हम आपका स्तोत्र समाप्त करते है। इसका हम यही फल आपसे चाहते है कि इस स्तोत्र के पढनेवालो की ओर आप कभी भूल कर भी दृक्पात न करें। ॐ शान्ति। शान्ति॥ शान्ति!!!

इमा प्लेग महाराज। पूजामादाय मामकीम्।
गच्छ त्व रौरव घोरमित आयाहि मा पुन॥
यदक्षरपदभ्रष्ट मात्राहीनञ्च यद्भवेत्।
तत्सर्व क्षम्यता प्लेग शिरसा प्रणमाम्यहम्॥

———————

९३—अयोध्या का विलाप

(मार्च १९०० के सुदर्शन मे प्रकाशित)

(१)

प्रासाद जासु नभमडल मे समाने;
प्राचीर जासु लखि लोकपहू सकाने।
अत्यन्त दिव्य, दृढ, दुर्ग विलोकि जाको,
आश्चर्ययुक्त मन मुग्ध भयो न काको ?

(२)

जाकी समस्त सुनि सम्पति की कहानी,
नीचो नवाय सिर देवपुरी लजानी।
ताकी अरे निपट निष्ठुर काल ! ऐसी,
तूने करी शठ ! दशा अति ही अनैसी ॥

(३)

प्राचीर नाहिं; नहिं दुर्ग, न सौधमाला;
अट्टालिकाहु नहिं हेरि परै विशाला।
उध्वस्त, जर्जरित, भग्न शरीर मेरो,
हा हा ! न जाय अब मोसन और हेरो ॥

(४)

हे राम ! हे कुश ! रघो ! रविवशदीप,
दुष्यन्त ! भव्यभरतादि महामहीप !
नाना विपत्ति सहि, हाय ! महादुखारी;
नामावशेष अब होति पुरी तिहारी ॥

(५)

सायंप्रभात जिन गेहनि मे सदाहीं,
सत्सामगान तजि दूसरि बात नाहीं।
भल्लूक कूक दिन-रैनि तहाँ मचावैं;
लाखो शृगाल रव घोर घने सुनावैं ॥

(६)

रत्नप्रदीप रविरश्मि छटा समान,
शोभायमान जहँ भे अतिदीप्तिमान ।
देखौ तहाँहि इकहू नहिं दीपवाती;
काहे न होय अजहूँ दुइ टूक छाती ?

(७)

उत्तुंग-कुन्जरघटा सुख सो अन्हाई,
कीन्हे जहाँ जलविहार सदैव आई ।
हा हन्त ! वाहि सरयूतट पै घनेरे,
बूढे वराह, खर आदि फिरैं सवेरे ॥

(८)

सानन्द राजगण चामरछत्रधारी,
कीन्ह्यौ प्रवेश जिन द्वारनि तें सुखारी ।
पैठैं कढ़ै तिनहिं ते अव हाय ! हाय !
नि शक चोर चमगोदड वृन्द आय ॥

(९)

वापी, जहाँ जलजजाल खिले सुहाई,
काई कठोर तिनमें सब ओर छाई ।
रत्नादिराशि जहँ हाय ! हती घनेरी,
फैली तहाँहि अव ककरकेशढेरी ॥

(१०)

दिव्यातिदिव्य रुचिराकृति गेहराजी;
गच्ची महामणिमयी जिनकी विराजी ।
हाहा ! अभाग्यवश, आज तहाँ कटीली,
है कटकारि उपजी सित, पीत, नीली ॥

(११)

न्दुप्रियामणि अनेक रही जहाँही,
जाले लगे मकरिकागण के तहाँही ।
हो मैं सुनी जहँहि कोकिलकठ कूक;
बोलै अमागलिक बोल तहाँ उलूक ॥

(१२)

चन्द्रानना कमलकोमल-गात नारी,
क्रीड़ा विचित्र जहँ कीन निशाम भारी।
हाहा! तहाँहि अब वन्यबिलाव-वाला,
निर्द्वन्द द्वन्दसुख लूटहिं सर्वकाला ॥

(१३)

बिच्छू, विषाक्त अहि, मोहिं सदा सतावैं,
उन्मत्त-मर्कट निरन्तर ही डहावैं।
द्वै चारि चिह्न मम जो अजहूँ दिखाहीं,
ह्वै हैं विलीन सोउ नत्वर भूमि माहीं ॥

(१४)

अत्युच्च मन्दिर महार्ह जहाँ रहे हैं,
देखो, तहाँ, कवर, आज, चहूँ छये हैं।
अल्लाह और बिसमिल्लह आदि बैन,
कीन्हो तहाँ बधिर मोहिं सुनो परै न ॥

(१५)

जाही स्थल प्रचुर हीरन सों सँवारो,
सिंहासन-प्रवर राम! रहो तिहारो।
पर्णालयस्थ, तहँ मस्जिदमध्य, देखी,
स्वन्मूर्ति, दुःखदव मोहिं दहै विशेषी ॥

(१६)

हे कोसलस्थजन! रामपुरी दुलारी-
नाशोन्मुखी, नयननीर बहाय भारी।
सारी विपत्ति अब आज तुम्हें सुनाई,
माँगै विदा अहह! अन्तिम शीघ्र नाई ॥

(१७)

जो प्रीतिलेश कछु होहि स्वधर्म माहीं,
जो पै दया तुमहिं वंचित कीन्ह नाहीं।
जो देश-भक्ति हिय में कछुहू तिहारे,
तो धाय शीघ्र अब कष्ट हरौ हमारे ॥

(१८)

नाना नरेश अजहूँ चहुँ ओर छाये,
मेरेहि सन्निकट एक अहो सुहाये।
अत्यल्पहू यदि मिलै इनसन सहाय;
तौहू अदृश्य नहिं तौहुँ विनाश पाय॥

(१९)

प्राचीन चिह्न अभिभावक लाटवीर!
हे दुर्ज्जनान्तकर कर्ज़न! धर्म्मधीर!
लीजो बचाय म्रियमाण शरीर मेरो;
कल्याण होय सब काल दयालु! तेरो॥

२४—कृतज्ञताप्रकाश

(अप्रैल १९०० के सुदर्शन में प्रकाशित)

(१)

काहे प्रजावदन आज विकाशमान?
उत्साह हू सब कहूँ कत वर्तमान?
अज्ञान बाल-वनिताहु सबै समान,
चर्चा चहूँ दिशि करैं कह मोदमान?

(२)

संवादपत्र कत आज सहस्रधारा,
धारा बहाय वचनामृत की अपारा।
पूज्य प्रयागनगर स्थित-लाट केरो,
सप्रेम, शुभ्र यश-गान करैं घनेरो?

(३)

सर्वत्र आज कत पश्चिम-उत्तरान्त-
वासी प्रफुल्ल अपने मन मे नितान्त।
न्यायप्रियत्व निज-शासक को सराहैं,
तत्पूर्ण-आयु-पद-वृद्धि विधान चाहैं?

(४)

आज, राज-अनुशासन-पत्र पाई,
न्यायालयादि महँ, आदर सों, सिधाई।
हिन्दी असह्य दुख झेलि महा महान,
बैठी तुरन्त उरदू सँग सावधान।।

(५)

ऐसो अपूर्व मुददायक दृश्य देखी,
प्रेमाश्रु-पूर-परिपूरित ह्वै विशेषी।
आनन्दगीत नर-नारि-समूह गावैं,
सोत्साह उत्सव अनेक सबै मनावैं।।

(६)

हे न्यायधाम! गुण-गौरव-धर्म-धाम!
सत्शीलधाम! म्यकडानल पूर्णकाम!
सारी प्रजा पुलक-पूरित-गात धारी,
उन्मत्तवत् कहहिं "जै जय जै" तिहारी।।

(७)

प्रत्येक काम हलको अथवा ऽति भारी,
सत्यानुराग तव सर्व कहूँ निहारी।
प्राचीन सत्य हरिचन्द गयो भुलाई,
है सत्य सत्य, न असत्य कही बनाई।।

(८)

अन्यान्य शासक निजाकृति अश्म* रूप,
हैं राजमार्ग महँ छाडि गये अनूप।
त्वन्मूर्ति नाथ! रहिहैं सुख सो सदाही,
आबाल-वृद्ध सबके हृदयाब्ज माही।।

(९)

अन्याय सो अननुरक्ति, तथैव, तेरी,
न्यायानुरक्ति लखि, यो मति होय मेरी।
न्याय स्वयं, अनय† सो डरि, भागि आयौ,
आकार धारि तव, भूतल माँहि छायौ।।

---

* अश्म=पत्थर।
† अनय=अन्याय।

(१०)

सत्यानुरोध, नय* दिव्यदया-विधान,
तीनौ, त्रिवेणिवत, ये गुण भासमान।
सीखे प्रयाग सन काह ? कहौ बुझाय,
हे तीर्थराजपुर-लाट ! पुनीत-काय !

(११)

सारी प्रजा महँ निरन्तर विद्यमान,
वात्सल्यभाव तव देखि सदा समान।
सन्देह होय मन में यह सोचि वाता,
को है पिता ? तुमऽथवा निज जन्मदाता ?

(१२)

वैक्टोरिया विजयिनी-वर राज्य माही,
अन्याय-लेशहु कभू कहुँ होत नाही।
प्रतीति इहि की हम आज पाई,
-योही परस्पर मनुष्य कहैं सुनाई॥

(१३)

हिन्दी-हितार्थ तुम जो कछु कीन्ह आज,
तत्तुल्यता न सकिहै करि अन्य काज।
लोकोपकारक किये तुम काज नाना,
पै सत्यमेव सब माहि इहै प्रधाना॥

(१४)

एतन्निमित्त रहिहैं चिरकाल सारे,
ये पश्चिमोत्तर-मनुष्य ऋणी तिहारे।
औरौ अनेक दिन राज्य रहै त्वदीय;
इच्छा इती सफल शंभु करै मदीय॥

(१५)

जौ लौं प्रभो ! वृटिश-शासन-सूर्य चण्ड†,
अस्तित्व नागरिक-अक्षर को अखण्ड।
तौ लौं त्वदीय यश-सौरभ सो विशेष,
ह्वै है सुगन्धयुत भारतवर्ष देश॥

---

* नय = न्याय। † चण्ड = प्रचण्ड।

२५—बलीवर्द

(१९ अक्टूबर, १९०० के श्रीवेंकटेश्वर-समाचार में प्रकाशित)

(१)

बलीवर्द जी, मर्द मार के, गर्द उड़ानेवाले वीर,
प्यारे वृषभ वृषभवाहन के, अति दुर्मद, अतिशय रणधीर।
नन्दीश्वर के विशद वंशधर, खर समान विवेक-विहीन;
वर्दराज! वृषराज! वीरवर! सुनिये कुछ निज कथा नवीन॥

(२)

विश्वनाथपुर में जब कोई विश्वनाथ को जाता है;
सम्मुख वहीं देख तुमको वह कम्पित हो घबड़ाता है
भीम भूधराकार भयंकर रूप याद जब आता है;
म्यूनीसिपल गाड़ियों के भी बैल देख डर जाता है॥

(३)

जुतो तुम्हीं हल में, गाड़ी में, चरसे तुम्हीं चलाते हो;
बनजारों के गोन हजारों तुम्हीं पीठ पर लाते हो।
तिस पर, कभी कभी कौड़ी के तीन तीन बिक जाते हो;
वधिक-वेश में पड़ जीते हो अपनी खाल खिंचाते हो॥

(४)

बूढ़े हो जाने पर भी तुम कभी विरक्त न होते हो,
किसी न किसी काम में, सब दिन, जब देखो तब जोते हो।
तुमने साहब लोगों का भी, इस सद्गुण में मात किया;
इसी लिए, सबने, घर घर में, सादर तुमको बास दिया॥

(५)

अतिशय अद्भुत सहनशीलता तुम सदैव दिखलाते हो,
मार तड़ातड़ खाने पर भी सिर तक नहीं हिलाते हो।
छिले हुए कन्धे से भी तुम छकड़े नित्य चलाते हो;
बहुत कष्ट पाने पर मग में, गिरते हो उठ जाते हो॥

(६)

तुम्हीं अन्नदाता भा"त के सचमुच वैलराज ! महराज !
विना तुम्हारे हो जाते हम दाना दाना को मुहताज।
तुम्हे खण्ड कर देते है जो महा निर्दयीजन-सिरताज,
धिक उनको, उन पर हँसता है, बुरी तरह, यह सकल समाज ॥

(७)

"मै जैसा विषयी हूँ वैसा और नहीं दिखलाता है",
किसी किसी कामी के मन मे यह घमण्ड आ जाता है।
वह क्या वस्तु तुम्हारे सम्मुख ? जव तरुणाई आती है,
काली, पीली, धवल, धूमरी धेनु न वचने पाती है ॥

(८)

इस प्रकार की अनाचारता जव विशे वढ जाती है,
म्यूनीसिपल सभा की, तुम पर, तव रिस अति अधिकाती है।
पकड पकड तुमसे वह अपना कूडा-कीट ढुलाती है,
वहाँ किये का फल पाते हो, सामत पूरी आती है ॥

(९)

सजातीय अनगिनत तुम्हारे चक्र छाप लगवाते है,
स प्रकार द्वारकापुरी से आये से दिखलाते हैं।
शकर-चिह्न शूल अति सुन्दर कोई कोई पाते है;
इस मिष, नये नये, निशिदिन, वे मजे सदैव उडाते है ॥

(१०)

इसी तुम्हारे जाति-वर्ग ने स्वतन्त्रता-सुख जाना है,
लूट-मार मे यह अति निष्ठुर नादिर का भी नाना है।
यह फिरका वृषराज ! तुम्हारा गाँव गाँव में फिरता है;
सारी कृषी स्वर्ग जाती है जहाँ कही यह गिरता है ॥

(११)

एक वार म्यूनिसपैलिटी का पाकर अखण्ड आदेश,
काशी के दुर्मद साँडो ने ढोया है कूडा नि.शेष।
दण्ड न पाता है कोई यदि उन्हे चुरावै, डालै मार;
हुई नजीरे प्यनलकोड पर ऐसी ही कितने ही वार ॥

(१२)

अभिमानी में वृषभ ! तुम्हारा लक्षण सभी समाता है;
तौल तुम्हारी करैं उसी से यही चित्त में आता है।
बलीवर्द ! मत बुरा मानना, बात सत्य हम कहते हैं;
झूठ बोलनेवाले से हम सदा दूर ही रहते हैं ॥

(१३)

गज भी जो आवै, तुम उसकी ओर न आँख उठाते हो,
लेटे कभी, कभी बैठे हो, कभी खड़े रह जाते हो।
अभ्यागत को अभिमानी भी मन में तुच्छ समझता है;
वह उसके मानापमान का ज़रा ख़याल न रखता है ॥

(१४)

धनीगर्व मदमत्त, गले में गोफ-गुन्ज लटकाता है,
लटका कर, सब काल उन्हीं से अपनी आँख लडाता है।
तुम भी मोरपख का गहना गरदन मे सजवाते हो,
देख देखकर उसे मनीमन फूले नहीं समाते हो ॥

(१५)

धनी पुरुष गद्दी के ऊपर, धोतीभर कटि से लिपटाय;
तुन्दिल तनु पर हाथ फेरता रहता है घमण्ड मे आय।
वृषभराज ! तुम भी निज थल पर झूल पीठ पर से लटकाय;
पूँछ फिराते हो शरीर पर बैठे ही बैठे सुख पाय ॥

(१६)

बलीवर्द ! तुम पशु होने से अविवेकी कहलाते हो,
मद पर भी निज उन्मदता से विजय-बड़ाई पाते हो।
साभिमान बलवान पास भी नहीं विवेक फटकता है,
अहंकार-मद में वह अपने [illegible] सर्वदा [illegible]ता है ॥

(१७)

यदि च देखना चाह कोई मूर्तिमान अद्भुत अभिमान;
बलीवर्द ! वह रूप तुम्हारा देखै [illegible] समान।
[illegible] भाल कन्धा विशाल पर, [illegible]-शिखर सम दीख महान;
भूमि-भार-[illegible] यहाँ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] उन्नत ॥

(१८)

खडे खडे जब घोरनाद तुम करते हो सगर्व भरपूर,
तुम्हे देख कर मदमत्तो का मद होता है चकनाचूर।
होती नही पूछ भी तिस पर अभिमानी नर मोछ मरोड;
ठसक दिखाने के करते है यत्न सदैव करोड करोड ॥

(१९)

"मै कुबेर; मै ही सुरगुरु हूँ, मेरा ही सब कही प्रभाण";
यह घमण्ड रखनेवालो का मुख-दर्शन है पाप-निधान।
तदपेक्षा हे वृ भ! तुम्हारा पीवर अण्डकोप-समुदाय;
अवलोकन करना अच्छा है, सच कहते है भुजा उठाय ॥

(२०)

बिना तुम्हारे अन्न दिये नर यमपुर जाय विचरते है,
अत्यादर अतएव तुम्हारा भारतवासी करते है।
बिना तुम्हें, इस वर्ष, देखिये, कितना कष्ट उठाते है,
गुर्जर और राजपूताना हाहाकार मचाते है ॥

(२१)

चतुष्पाद-कुलकैरव-हिमकर! हे वृप! हे अति उपकारी!
बना रहै यह देश तुम्हारी कृपादृष्टि का अधिकारी।
बिना तुम्हारे शकर का भी क्षण भर नही गुजारा है;
कारणवश, झटपट, यह हमने अल्प लेख लिखमारा है ॥

२६—शेख़ सादी की उक्तियाँ

(ब्रजवासी के प्रथम खण्ड की नवम और दशम सख्याओ में प्रकाशित)

(१)

स्वाभाविक सौन्दर्य जो सोहै सब अँग माहिं।
तो कृत्रिम आभरन की आवश्यकता नाहिं ॥

(२)

सधन होन तै होत नहि कोऊ लक्ष्मीवान,
मन जाको धनवान है सोई धनी महान ॥

(१३)

विसधर भीम भुजंग को अंग नासि जो कोय।
दया मँपेलन पै करत बुद्धिमान नहिं सोय ॥

२७—मांसाहारी को हंटर

(नवम्बर, १९०० के हिन्दी-बंगवासी में प्रकाशित)

(१)

सद्ग्रन्थ-गर्व अपने मन माँहि धारे,
हैं हैं परोस महँ एक युवा हमारे।
ताकी अतीव रुचि आमिष में निहारी,
हौं, एक बार, इमि, उग्र गिरा उचारी ॥

(२)

मांस-भोज-रत ! निर्दयता-अगार !
रे ज्ञान-शून्य नर ! सभ्य-समाज-भार !
सुस्वच्छ शीघ्र करिकै निज दोउ कान,
हौं जो कहौं कछु अरे ! सुनु सावधान ॥

(३)

अत्यन्त मिष्ठ अमृतोपम दुग्धधारा,
देवै जु पुष्टि नित सेवन सों अपारा।
सन्तुष्ट देवगण जो बिनु होत नाहीं,
न प्राप्त सो कह अरे ! यहि देश माहीं ?

(४)

पीयूष-दर्प-हर वर्फ-सम-स्वरूप,
हा हा ! कहाँ नसि गयो दधिहू अनूप ?
माधुर्य-मूर्ति कहँ मंजुलहू मलाई;
बीभत्स भक्ष्य तब देखि कहूँ सिहाई ?

(५)

रे रे अजान ! रसना-रत ! बोलु बोलु;
मौनावलम्ब कत ? रे ! मुख खोलु खोलु।
मिष्ठान्नहू न कहु एकहु तोहिं भावै ?
स्वादिष्ठ मूल-फलहू न कहा सुहावै ?

(६)

जो तू अरे ! कहत कम्पित होत गात,
लीलै महा मलिन मास मिलाय भात !
जानै नही निज-हिताहित-युक्त बात,
है हानि जाहि महँ तोहि सुई सुहात !!

(७)

अत्यन्त मोदकर मोदक मञ्जु मीठे,
तोको न देहिं मुद लागहिं हाय सीठे ।
पक्वान्न तोहि नहि तादृश तोषकारी
तू को ? कहै न कत ? रे नररूपधारी !

(८)

अच्छाच्छ अन्न अरु शाक-समूह-सारे,
अन्यान्य देश तरसै जिनको विचारे।
हा ! हा ! भरै न तिनहूँ मन पेट तेरो,
रे बुद्धिहीन ! जनि जीव जराउ मेरो ॥

(९)

आरक्त रक्त जिहि माहिं सनो घनेरा,
मज्जा-प्रपुञ्ज सन जो सब ओर घेरो।
जामे भरो अति अपावन अस्थि-जाल,
तू मोइ मास गटकै नित लाल लाल ॥

(१०)

धिक्कार तोहि, नर-जन्म वृथाहि पायो,
आहार मांस करि मानुषता नसायो ।
जो मांस भक्षै पशु, अनक्ष मनुष्य आदि,
हा हन्त ! हन्त !! तव जीवन-काल बादि !!!

(११)

लै अस्थि, ताहि अपने मुख माहि डारो;
चूसै चुसो चुसत हर्ष विशेष धारो ।
जो तूहु मोद-युत चावतु खाइ हा हा !
तो स्वान-वर्ग अरु तो महँ भेद कहा ?

(१२)

जे अन्य देश-जन आमिष खानवारे;
तेऊ अनेक, तजि ताहि, भये सुखारे ।
पै तू सदैव सुख सों रत वाहि माहीं,
तेरे समान नर निर्घृण और नाहीं ॥

(१३)

जामें मलीन मल, मूत्र, रहै सदा ही,
नीके, भले, सकल भक्ष्य, अभक्ष्य, जाहीं ।
सोई महा-घृणित दुर्बल छाग छागो,
तू प्रीति-युक्त उदरस्थ करे अभागो ॥

(१४)

सर्व प्रकार निरुपद्रव-कार दीन,
वाणी-विहीन, बल-हीन, सहाय-हीन ।
ऐसे अनेक बकरे बलिदान होवैं,
तेरेहि हेत अपने प्रिय प्राण खोवैं ॥

(१५)

माता समान पय-पान सदा करावै;
बेरी, पलाश, अरु आक, जवास खावै ।
सोई अजा भखत तोहिं न लाज आई,
हा हन्त ! हा !! इतिक घोर कृतघ्नताई !!!

(१६)

नाई जु भूलि नख जीवित काटि देवै;
तू आर्तनाद करिकै कर खैंचि लेवै ।
तो कण्ठ काटि पशु मारन में कितेक,
होवै व्यथा शठ ! हिये महँ सोचु नेक ॥

(१७)

जीतेहि देह सन दुसह गन्ध छूटै,
वाणी अभद्र सुनि मानहुँ कान फूटै ।
सानन्द ताहि मृत-छागल काहिं रे रे !
तू खाय, नित्य उठि, साँझ तथा सवेरे !!!

(१८)

जो तू, तथा अपर जे तव तुल्य सोऊ,
संकल्प सत्य करि मास छुवै न कोऊ।
तो ये निरे निरपराध पशू विचारे,
मारे न जाहिं जन-भोजन हेत सारे॥

(१९)

अत्यल्प काल अथवा वहु काल माहीं,
रे! नाश है अवशि संशय लेश नाहीं।
जो अन्त, मांस-रस-पुष्ट-शरीर छूटै,
तो मूढ! व्यर्थ कत पातक-पुञ्ज लूटै?

(२०)

स्वप्राण हैं प्रिय अरे शठ! तोहिं जैसे,
अन्यान्य जीव-गणहू कहँ मूर्ख! तैसे।
काहे कमात पर-पीडा-पाप-भार?
धिक्कार तोहिं शत वार! सहस्र वार!!

(२१)

रे आत्म-शत्रु! यह निन्दित मांस त्यागु,
हिंसादि पाप सन पामर! भागु भागु!
घी, दूध, अन्न यदि हैं तन पुष्टकारी;
ना मांस खाय कत लूटतु पाप भारी?

(२२)

पक्षी, पशू, मनुज, कीट, पतंग जो है,
विश्वेश-अंश सब माहिं समान सोहैं।
ताते दयालु-दृग सों लखु तू सबै—हीं;
सद्धर्मसार अरु तत्त्व-विचार एही॥

(२३)

ऐसो घनी वचन-चाबुक-चोट खाई,
धिक्कारवाद-मय-मुष्टिकपात पाई।
शिक्षा-प्रभाव-वश ह्वै वह मांसवारो,
तत्काल मांस तजि भक्त भयो हमारो॥

२८—द्रौपदी-वचन-बाणावली

(नवम्बर १९०० की सरस्वती में प्रकाशित)

(१)

धर्मराज से, दुर्योधन की, इस प्रकार, सुनि सिद्धि विशाल,
चिन्तन कर अपकार शत्रु-कृत, कृष्णा कोप न सकी सँभाल।
क्रोध और उद्योग बढानेवाली, तब, वह गिरा रसाल;
महीपाल को सम्बोधन कर बोली युक्तियुक्त तत्काल ॥

(२)

आप सदृश पडित के सम्मुख निपट नीच नारी की बात;
तिरस्कार-कारक-सी होती है हे नरपति-कुल-विख्यात!
वस्त्र-हरण आदिक अति दुस्सह दु ख, तथापि, आज इस काल;
बार बार प्रेरित करते है मुझे बोलने को भूपाल!

(३)

तेरे ही वशज महीपवर सुरनायक सम तेज-निधान;
जो धरणी अखड, इस दिन तक, धारण किये रहे बलवान।
हा हा! वही मही निज कर से तूने ऐसे फेंकी आज;
सिर से हार फेंक देता है जैसे महामत्त गजराज!

(४)

कपटी कुटिल मनुष्यो से जो जग मे कपट न करते है,
वे मतिमन्द मूढ नर, निश्चय, प्राय पराभव, मरते है।
उनमें कर प्रवेश, फिर उनको शठ यो मार गिराते है,
कवचहीन तनु मे ज्यो पैने बाण प्राण ले जाते है ॥

(५)

हे साधन-सम्पन्न नराधिप! हे क्षत्रियकुल-अभिमानी!
कुलजा, गुण-गरिमा-वशवदा यह लक्ष्मी सब सुख-खानी।
तुझे छोड कर अन्य कौन नृप इसको दूर हटावेगा,
अपनी मनोरमा रमणी सम रिपु से हरण करावेगा ?

(६)

हे महीप ! मानी नर जिसको महानिंद्य बतलाते हैं,
उसी पन्थ के आप पथिक हैं, नही परन्तु लजाते हैं।
कोपानल क्यो नही आपको भस्मीभूत बनाता है ?
सूखे शमीवृक्ष को जैसे ज्वाला-जाल जलाता है ॥

(७)

यथासमय जो कोप-अनुग्रह को प्रयोग मे लाते है,
स्वय देहधारी सब उनके वशीभूत हो जाते है ।
क्रोधहीन नर की रिपुता से कोई भय नहिं पाते हैं,
तथा मित्रता मे, वे, उसको आदर भी न दिखाते हैं ।

(८)

चन्दन-चर्चित-गात भीम जो रथ ही पर चलता था तत्र,
धूलिधूसरित वही, विपिन में पैदल फिरता है सर्वत्र ।
क्या तव मन, इस पर भी, पीडित होता नही, पाय सन्ताप ?
सत्यशील बन कर अनर्थ यह हाय ! कर रहे है क्या आप ?

(९)

देवराज सम जिस अर्जुन ने उत्तर-कुरु सब विजय किया,
करके हे नृप ! तुझे अकृत्रिम अतुलित धनोपहार दिया ।
तेरे लिए, वही, अब हा हा ! तरु के वल्कल लाता है,
इसे देख कर भी क्या तुझको कुछ भी क्रो न आता है ॥

(१०)

यहाँ महीतल पर सोने से, मृदुल गात हो गया कठोर !
वन-गज-तुल्य देख पडते है ! ! जटा लटकती है ! सब ओर ! ! !
नकुल और सहदेव युग्म की ऐसी दुर्गति देख नरेश !
क्या तू शे नही कर सकता अब भी अपना धैर्य विशेष ?

(११)

हे नृप ! तेरी मति-गति मेरी नही समझ में आती है,
चित्तवृत्ति भी किसी किसी की अद्भुत देखी जाती है !
तेरी प्रबल आपदाओ का चिन्तन करती हूँ है जब,
मनस्ताप मे फट जाता है यह मेरा हृदय-स्थल तब !

(१२)

मूल्यवान मंजुल शय्या पर पहले निशा बिताता था,
सुयश और मंगल गीतों से प्रात जगाया जाता था।
वही, आज, तू, कुश-काशों से युक्त भूमि पर सोता है!
श्रुतिकर्कश शृगाल-शब्दों से हा हा! निद्रा खोता है!!

(१३)

द्विज-भोजन से बचा हुआ, शुचि षटरस अन्न, पुष्टिकारी,
खाकर, जिसने इस शरीर को, पहले किया मनोहारी।
भूप! वही तू, आज, उदर निज वनफल खाकर भरता है;
यश के साथ देह भी अपनी हा हा हा! कृश करता है॥

(१४)

रत्न-खचित-सिंहासन ऊपर जो सदैव ही रहते थे,
नृप-मुकुटों के सुमन-रजःकण जिनको भूषित करते थे।
मुनियों और मृगों के द्वारा खंडित कुश-युत वन भीतर;
अहह! नग्न फिरते रहते हैं वे ही तेरे पद मृदुतर!

(१५)

यह विचार कर कि यह दुर्दशा वैरी ने की है भूपाल,
हृदय समूल उखड़ जाता है, पाती हूँ मैं व्यथा विशाल!
जिन मानी पुरुषों का विक्रम हर नहिं सके शत्रुकुलकेतु,
उनकी ईश्वरदत्त हार भी होती हैं सुख ही का हेतु॥

(१६)

मुझ पर करके कृपा वीरता धारण करिये, फिर, इस बार;
क्षमा छोड़िये, जिसमें रिपु का होवै नृप! सत्वर संहार।
षड्‌रिपुनाशक सहनशीलता निस्पृह मुनियों ही के योग्य;
भूपालों के लिए सर्वदा, वह सब, भाँति, अयोग्य अयोग्य॥

(१७)

तेरे सम तेजोनिधान नर यशोरूप धन के धनवान;
हे महीप! अरि से पाकर भी, यदि ऐसा दुःसह अपमान।
बैठे रहें, शान्तचित, धारण किये हुए सन्तोष महान,
तो हाहा! हत हुआ, निराश्रय मानवान पुरुषों का मान॥

(१८)

तुझे तुच्छ जँचते हैं यदि ये शौर्य आदि शुभगुण-समुदाय,
क्षमा अकेली सतत सौख्य का मूल जान पड़ती है हाय !
तो यह राज-धर्म्म का सूचक वीरोचित को दण्ड विहाय,
यहीं अखंड अग्नि की सेवा करता रह तू जटा बढ़ाय ॥

(१९)

कपट कर रहा है रिपु, इससे, तुझ तेजस्वी को महिपाल !
पालन करना नहीं चाहिए पूर्व-प्रतिज्ञा-प्रण, इस काल ।
अरि पर विजय चाहनेवाले धराधीश बल-बुद्धि-निकेत,
विविध दोष, की हुई सन्धि में, दिखलाते हैं युक्ति-समेत ॥

(२०)

दैवयोग से दुःखोदधि में तुझ डूबे को यह आसीस,
शत्रु-नाश होने पर, लक्ष्मी मिलै पुनः ऐसे अवनीश !
जैसे, प्रातःकाल, सिन्धु में मग्न हुए दिनकर को आय,
तिमिर-राशि हटने पर, दिन की शोभा मिलती है सुख पाय ॥

(२१)

भारवि-रूपी कवि-सविता की कविता विद्वज्जन की प्राण;
अति उद्भट, अति अगम, मनोहर, महाअलौकिक अर्थ-निधान ।
मुझ अतिशय अल्पज्ञ अज्ञकृत यह उसका जघन्य अनुवाद,
अनुशीलन कर हे रसज्ञ जन ! करिये मेरे क्षमा प्रमाद ॥

२६—काककूजितम्

(जून १९०१ के छत्तीसगढ़-मित्र में प्रकाशित)

(१)

रे क्रूरकोकिल ! कलं कुरु मा कदापि,
वाचंयमत्वमधुना भुवने भजस्व ।
जानासि किं न नवनीरदनीलदेहः
कालोऽमृतान्नदनः समुपागतोऽत्र ॥१॥

भावार्थ—रे क्रूर कोकिल ! तू कदापि कलरव न कर । संसार में इस समय, तुझे चुप ही रहना चाहिए । क्या तू नहीं जानता कि नवीन नीरद

के समान देहवाला और पीयू -सिञ्चित वाणी बोलनेवाला काक नामधारी मै आगया हूँ ?

रव पञ्चमेन विरुत विजहीहि नूनं;
वक्तु वसन्तसमयेऽपि न तेऽधिकार' ।
सम्प्रत्यह दशसु दिक्षु सदा सहर्षं,
तारस्वरेण मधुरेण रव करिष्ये ॥२॥

भावार्थ—तू पञ्चम स्वर में आलाप करना छोड; वसन्त समय मे भी मुख खोलने का तुझे अधिकार नही। इस समय, दशो दिशाओ में, उच्च स्वर से, मै ही सहर्ष मीठी मीठी बोली बोलूँगा।

दृष्ट्वापि मामुपगतं किल कज्जलाभं
किन्नाम रे शुक ! न मुञ्चसि पञ्जर त्वम् ?
वाचाविमर्दितविशुद्धसुधारसोऽहं
स्थाने तवाद्य मधुराणि फलानि भोक्ष्ये ॥३॥

भावार्थ—रे शुक ! कज्जल के समान आभावाले मुझे आया देख कर भी तू क्यो नही अपने पिंजडे को छोडकर पलायन करता ? अपनी वाणी से विशुद्ध सु । को भी विमर्दित करनेवाला मै, अब तेरे स्थान मे बैठ कर मीठे मीठे फलो का स्वाद लिया करूँगा।

लोकस्तनोतु नयनद्वयदु खदात्रे
वर्णाय ते नतितति हरिताय कीर !
शौरि स्मरत्वसितभीमभुजङ्गमाङ्ग—
रङ्गाभिरामवपुष परिपालयन् माम् ॥४॥

भावार्थ—हे कीर (शुक) ! दोनो नेत्रो को दु ख देनेवाले तेरे हरित वर्ण को लोग, अब, दूर ही से हाथ जोडें। काले भुजङ्ग के रग के समान सुन्दर शरीरवाले मुझे पाल कर, आज से, वे आनन्दपूर्वक विष्णु भगवान् का स्मरण किया करें।

धातुर्विमानवहनेन विदीर्णदेह !
रे राजहस ! खगवशकलङ्कभूत !
निर्गच्छ तुच्छ ! जगतीतलतस्त्वमाशु
मा मा कदापि मम सम्मुखमेहि भूय. ॥५॥

भावार्थ—ब्रह्मा के विमान मे जुते रहने मे विदीर्ण देहवाले, पक्षि-कुल के कलंक, रे तुच्छ राजहस ! इस भूतल मे तू तुरन्त दूर हो। कदापि पुनर्वार तू मेरे सम्मुख मत आ।

तेनास्तु मगलमये समयेऽद्य सद्यो
युष्मासु राजपदवी मम भूतलेऽस्मिन् ।
अत्रैव वृक्षविवरेषु विराजमान
मर्वाधिकारहरणाय सदा यतिष्ये ॥१०॥

भावार्थ—इसलिए, आज ऐसे मगलमय समय में, मै, तुम्हारा सबका, शीघ्र ही राजा हो जाऊँ। इसी पेड के कोटर मे विराजमान होकर मै, आज से, सबका अधिकार हरण करने की चेष्टा किया करूँगा।

एव समालपति दुर्ललिता विरुद्धा
यावद्गिर क्षतविवेकमति स काक ।
तस्योपरि बलवेगश्येनस्तु ताव-
च्छ्येनन पपात पविपात व प्रचण्ड. ॥११॥

भावार्थ—विचारहीन मूर्ख काक, इस प्रकार, दुर्ललित और विरुद्ध बातें बक ही रहा था, कि बडे वेगवाला एक प्रचण्ड श्येन (बाज) वज्रपात के समान, उसके ऊपर टूट पडा!

३०—विधि-विडम्बना

(मई १९०१ की सरस्वती मे प्रकाशित)

(१)

चारु चरित तेरे चतुरानन! भक्ति-युक्त सब गाते है;
इस सुविशाल विश्व की रचना तुझसे ही बतलाते है।
कहते हैं तुझमें चतुराई है इतनी सविशेष,
जिसको देख चकित होते हैं शेष, महेश, रमेश ॥

(२)

चतुर्वेद की शपथ तुझे है मुझे बात यह बतलाना;
तूने भी, कह, क्या अपने को महाचतुर मन में माना?
माना सत्य; क्योंकि, तूने कुछ कहा नहीं प्रतिकूल;
कमलासन! सचमुच यह तेरी हैगी भारी भूल ॥

(३)

भली बुरी बातें सुत की सब पिता सदा सुन लेता है;
अनुचित सुनि लेवै तो भी वह उसे क्षमा कर देता है।
तेरा तो त्रिभुवन मे विश्रुत परम-पितामह नाम,
फिर तुझमे कहने-सुनने में भय का है क्या काम ॥

(४)

दोष-राशि से दूषित तेरी करतूतें हम पाते हैं;
अत यहाँ पर कोई कोई उनमें से दर्शाते है।
अति नीरस, अति कर्कश, अति कटु, वेद वाक्य-विस्तार;
क्षण भर तू समेट कर सुन निज अविचारो का सार ॥

(५)

विक्रम, भोजादिक महीपवर, मही-मयंक, महाज्ञानी,
सरस्वती के सच्चे सेवक, देवद्रुम समान दानी ।
तूने इनसे भूतल भूषित किया अल्पही काल,
भूल और क्या हो सकती है इससे अधिक विशाल ?

(६)

काव्य-कला-कौशल-सम्बन्धी रुचिर-सृष्टि के निर्माता;
मधु-मिश्री से भी अति मीठी वचन-मालिका के दाता।
कालिदास, भवभूति आदि को अन्य लोक पहुँचाय,
कविता-वधू विधे ! तूने ही वि वा कर दी हाय !!

(७)

कपिल, कणाद, पतञ्जलि, गौतम, व्यास आदि वर विज्ञानी,
जिनकी कीर्ति-ध्वजा अभी तक सतत फिरै है फहरानी।
उनको भी तूने क्षणभगुर किया, विवेक विहाय,
दिखलावें हम तेरी किन किन भूलो का समुदाय ?

(८)

रम्यरूप, रसराशि, विमलवपु, लीला-ललित, मनोहारी;
सब रत्नो में श्रेष्ठ शशिप्रभ अति कमनीय नवल नारी।
रच, फिर उसको जरा-जीर्ण तू करता है नि शेष !
भला और तुझ जरठ जीव से क्या होगा, सुविशेष !

(९)

उपलपात, जलपात, भयकर वज्रपात भी सहते, हैं,
देहपात तक भी सहने में कोई कुछ नहि कहते हैं।
किन्तु असह्य उरोज-पात का करते ही कुविचार,
तेरी विषम वुद्धि पर बुधवर हँसते हैं शत बार ।।

(१०)

कटु न्द्रायण में सुन्दर फल ! मधुर ईख मे एक नहीं !
बुद्धिमाद्य की सीमा तूने दिखलाई है कही कही।
निपट सुगन्धहीन यदि तूने पैदा किया पलाश,
तो क्या कञ्चन में भी तुझको करना न था सुवास ?

(११)

विश्व बनानेवाला तुझको सब कोई बतलाते है,
विहग बनाने में भी तेरी भूल किन्तु हम पाते हैं।
यदि तेरे कर में कुछ होता कला-कुशलता लेश,
काक और पिक एक रग के क्यो होते लोकेश ?

(१२)

वायस विहरै है गलियो में हस न पाते जाते है,
कण्टकारि सब कही; कमल-कुल कही कही दिखलाते है।
मृगमद पाने का क्या कोई था ही नही सुपात्र,
जो तूने उसमे पशुओ का किया सुगन्धित गात्र ।।

(१३)

नित्य असत्य बोलने में जो तनिक नही सकुचाते हैं,
सीग क्यो नही उनके सिर पर बडे बडे उग आते है ?
घोर घमण्डी पुरुषो की क्यो टेढी हुई न लक ?
चिह्न देख जिसमें सब उनको पहचानते निशक ।।

(१४)

दुराचारियो को तू प्राय धर्म्माचार्य्य बनाता है,
कुत्सित-कर्म-कुशल कुटिलो को अक्षरज्ञ उपजाता है।
मूर्ख धनी, विद्वज्जन निर्धन, उलटा सभी पकार !
तेरी चतुराई को ब्रह्मा ! वार वार धिक्कार ।।

(१५)

घोड़े जहाँ अनेक, गधो का वहाँ काम क्या था? सच कह;
विविद हो गई तेरी सारी चतुराई; तू चुप ही रह।
शुद्धाशुद्ध शब्द तक का है जिनको नहीं विचार;
लिखवाता है उनके कर मे नये नये अखबार॥

(१६)

विधे! मनोज्ञ-मातृ-भाषा के द्रोही पुरुष बनाना छोड़,
रामनाम सुमिरन कर बुड्ढे और काम से अब मुख मोड़।
एकानन हम, चतुरानन तू, अतः कहें क्या और विशेष?
बुद्धिमान जन को इतना ही बतलाना बस है भुवनेश!

२१—हे कविते!

(जून १९०१ की सरस्वती मे प्रकाशित)

(१)

सुरम्यरूपे! रसराशिरञ्जिते!
विचित्रवर्णाभरणे कहाँ गई?
अलौकिकानन्दविधायिनी महा-
कवीन्द्र-कान्ते! कविते! अहो कहाँ?

(२)

कहाँ मनोहारि-मनोज्ञता गई?
कहाँ छटा क्षीण हुई नई नई?
कहीं न तेरी कमनीयता रही;
बता तुही तू किस लोक को गई॥

(३)

नहीं कहीं भी भुवनान्तराल में,
दिखा पड़े है तव [illegible]ना।
मलीन होती यदि जीवलोक में,
गली कहीं तो मिलती अवश्य ही॥

(४)

सती हुई क्या कवि-कालिदास के,
शरीर के साथ तभी अनाथ हो ?
विलुप्त किंवा भवभूति संग ही,
हुई मही से, अवलम्ब के बिना ?

(५)

प्रयाण तूने तब तो नहीं किया,
विराजती भूतल में रही कहीं।
अवश्य श्रीहर्ष-शरीर गोद ले,
सहर्ष तू साथ गई, गई, गई ॥

(६)

हुआ पुनर्जन्म फिरङ्ग-देश में,
परन्तु सो भी कुछ काल के लिए।
पता वहाँ भी मिलता नही हमें,
बता कहाँ है अब तू मनोरमे ॥

(७)

नितान्त अन्धी पर भी कभी कभी
कृपावती होकर हे सुलक्षणे!
सदैव तू तन्मुख-मन्दिर-स्थिता,
प्रकाशती है निज सर्व सम्पदा ॥

(८)

सुनेत्रधारी यदि तू चहै नहीं;
अनेत्रियों का न अभाव हिन्द में।
अतः उन्हीं ने चुन एक आध को;
कृपाधिकारी अपना बना, बना ॥

(९)

कभी कभी तू अब भी दयावने!
दया करै है इस दीन देश पै।
महान्महाराष्ट्र, विशाल-वङ्ग में,
विकास तेरा कविते! कहीं हुआ ॥

(१०)

मनुष्य सारे सम है तुझे सदा;
विचारती जाति न पाँति तू कभी।
इसी लिए दोष तुझे न दे सकें,
अनेक-दोषाकर हाय! है हमी॥

(११)

अनन्तवर्षावधि तू यहाँ रही,
तथापि तेरा कुछ ज्ञान ही नहीं।
विचित्रता और विशे क्या कहें;
कृतघ्नता का बस अन्त हो गया॥

(१२)

अभी हमें ज्ञात यही नही हुआ,
रही किमाकारक तू रसात्मिके!
स्वरूप ही का जब ज्ञान है नही,
विभूषणों की तब क्या कहें कथा?

(१३)

तुकान्त ही में कविताान्त है यही,
प्रमाण कोई मतिमान मानते।
उन्हें नही काम कदापि और से,
अहो महामोह! प्रचण्डता तव॥

(१४)

कवीश कोई यमक-च्छटामयी,
महाघटाटोपवती सुचोलिका।
बनाय नाना विधि हे विचक्षणे!
तुझे वशीभूत हुई विचारते॥

(१५)

सदा समस्या सबको नई नई,
सुनाय कोई कवि पाय पूर्तियाँ।
तुझे उन्ही में अनुरक्त मान, वे
विरक्त होते नहि, हा

(१६)

कही कही छन्द; कही सुचित्रता,
कहीं अनुप्रास-विशेष में तुझे।
सुजान ढूँढ़ै अनुमान से सदा,
परन्तु तू काव्य-कले! वहाँ कहाँ?

(१७)

सकै तवाकार वनाय भी यदि,
वृथा परिश्रान्ति तथापि सर्वथा।
वताइए, जीवविहीन देह से,
सजीव की सुन्दरि क्या समानता?

(१८)

विचार ऐसे जगदम्ब! है जहाँ,
न दर्शनो का तव आसरा वहाँ।
अज्ञेय इच्छा उस ईश की, उसे
मिटाय देवै, यह शक्ति है किसे?

(१९)

विडम्वना जो यह हो रही तव,
समूल ही भूल उसे दयामयी!
पधारने की अभिलाष होय जो,
न आव तौभी कुछ काल लौं यहाँ॥

(२०)

अभी मिलैगा व्रज-मण्डलान्त का,
सुभुक्त-भाषामय वस्त्र एक ही।
शरीर-सगी करके उसे सदा,
विराग होगा तुझको अवश्य ही॥

(२१)

इसी लिए ही भवभूति-भाविते!
अभी यहाँ हे कविते! न आ, न आ।
वता तुही कौन कुलीन कामिनी,
सदा चहैगी पट एक ही वही॥

(२२)

सुरम्यता ही कमनीय कान्ति है;
अमूल्य आत्मा, रस है मनोहरे !
शरीर तेरा, सब शब्द मात्र है;
नितान्त निष्कर्ष यही, यही, यही ॥

(२३)

हुआ जिन्हा को यह तत्त्व ज्ञात,
वही वशीभूत तुझे करेंगे।
विलम्ब मे वा अविलम्ब से वा
दया उन्हीं पै तव देवि ! होगी ॥

(२४)

कुछ समय गये है योज्ञता जो दिखावै
सदय-हृदय हो के तू उसी के यहाँ आ।
न उचित अवला का नित्य स्वच्छन्द-वास,
बस अधिक कहूँ क्या ? हे महामोद-दात्रि ॥

३२—ग्रन्थकार-लक्षण

(अगस्त १९०१ की सरस्वती में प्रकाशित)

(१)

एक प्रवासी ज्ञान-निधान,
तीर्थराजवासी, गुणवान,
बुद्धि-राशि विद्या का वारिधि, पास हमारे आया है।
नाना कथा नवीन नवीन
कहने में वह महा-प्रवीण,
ग्रन्थकार-माहात्म्य मनोहर उसने हमें सुनाया है ॥

(२)

सुनकर यह माहात्म्य अपार,
सोचसमझ कर भले प्रकार,
परमानन्द रूप-नद में मन बहता है लहराता है ।
उसका ही लेकर आधार;
निज वचनों का कर विस्तार,
लक्षण-मात्र ग्रन्थकारों का यहाँ सुनाया जाता है ॥

(३)

शब्द-शास्त्र है किसका नाम ?
इस झगड़े से जिन्हें न काम;
नहीं विराम-चिह्न तक रखना जिन लोगों को आता है ।
इधर-उधर से जोड़-बटोर,
लिखते हैं जो तोड़-मरोड़,
इस प्रदेश में वे ही पूरे ग्रन्थकार कहलाते हैं ॥

(४)

भला-बुरा छपवाने सिद्ध;
धन न सही; नामही प्रसिद्ध;
नाटक, उपन्यास लिखने में जरा न जो सकुचाते हैं ।
जिनके नाच-कूद का सार,
बँगला-भाषा का भंडार,
वे ही महा-महिम-विद्वज्जन ग्रन्थकार कहलाते हैं ॥

(५)

जिनके लोचन कोटर-लीन;
कच-कलाप तक तैल-विहीन;
जिनके जर्जर तन को मैले कपड़े सदा छिपाते हैं ।
कुटिल कटाक्ष किन्तु दुर्दान्त;
मति भी, गति भी कुटिल नितान्त;
वे ही भारतवर्ष देश में ग्रन्थकार-पद पाते हैं ॥

(६)

अन्यदेश-भाषा का ज्ञान,
कालकूट के घूँट समान,
स्वय मातृभाषा भी जिनको देख देख घबडाती है।
भाडे पर रख विज्ञ विशेष,
लिखवाते है जो निज लेख,
ग्रन्थकार-पदवी उनको ही दौड दौड लिपटाती है ॥

(७)

जिनकी जिह्वा की खर धार,
देख, चमत्कृत छुरे हजार,
किन्तु लेखनी जिनके कर में धार-हीन हो जाती है।
लेखन-कला-कुशलता-हीन,
बातो में जो बडे प्रवीण,
ग्रन्थकार-पदवी उनको ही विना मोल मिल जाती है ॥

(८)

लक्ष्मी जिन लोगो के द्वार
आती नही एक भी बार,
सरस्वती जिनके प्रताप से भूतल से भग जाती है।
मानी मत्त-गयन्द समान;
अथवा मूर्तिमान अभिमान;
उनको ही सद्ग्रन्थकार की पदवी गले लगाती है ॥

(९)

पाकालय का अन्तर भाग
नही देखता जलती आग;
किन्तु सदा ईर्ष्यानिल से तन जिनका जलता रहता है।
सुर-गुरु को भी गाली-दान
देने मे जिनको लज्जा न,
उनको ही ऊँचे दर्जे के ग्रन्थकार जग कहता है ॥

(१०)

ए, बी, सी, डी का भी ज्ञान
जिनको अच्छी भाँति हुआ न,
अँगरेजी उद्धृत करने में किन्तु न जो शर्माते हैं।
ऐसे विद्या-बुद्धि-निधान
जिनका बड़ा मान-सम्मान,
निश्चय वे ही परम प्रतिष्ठित ग्रन्थकार कहलाते हैं॥

(११)

संस्कृत-भाषा कौन पदार्थ ?
जिन्हें न यह भी विदित यथार्थ,
धर्मशास्त्र का मर्म किन्तु जो लिख लिख कर समझाते हैं।
जन-समाज-संशोधन-कार्य,
व्यर्थ-वाद जिनका व्यापार;
सत्य सत्य वे ही अति उत्तम ग्रन्थकार कहलाते हैं॥

(१२)

अपने ग्रन्थों का प्रतिवर्ष
विज्ञापन लिख स्वयं सहर्ष,
व्यास और वाल्मीकि तुल्य जो अपने को बतलाते हैं।
अथवा पुत्र, मित्र का नाम
देकर जो निकालते काम,
अति गम्भीर ग्रन्थकारों के गुरुवर वे कहलाते हैं॥

(१३)

अपनी पुस्तक की सानन्द,
स्वयं समीक्षा लिख स्वच्छन्द,
अन्य नाम से अखबारों में जो शत बार छपाते हैं।
निज मुख से जो गुण-विस्तार
करते सदा पुकार पुकार,
ग्रन्थकार-पद-योग्य सर्वथा वे ही समझे जाते हैं॥

(१४)

गृह मे गृहिणी कोप-निधान,
देती जिन्हे न आदर-दान,
बाहर जिन्हे न पाठकगण भी भक्ति-भाव दिखलाते है ।
जिनका कही नही सम्मान,
तिस पर घोर घमण्ड घटा न,
ग्रन्थकार-सिंहासन ऊपर आग्न वही लगाते है ॥

(१५)

ग्रह ज्यो रवि के चारो ओर
किया करे है दौरा-दौर,
त्यो पुस्तक-विक्रेता की जो बहु दक्षिणा करते है ।
दग्धोदर जो किसी प्रकार
भरते है सदैव झखमार,
ग्रन्थकार-गौरव की झोली वे ही यश मे भरते है ॥

(१६)

किसी समालोचक के द्वार
सिर घिस घिसकर बारबार,
निज पुस्तक की समालोचना जो सविनय लिखवाते है ।
यदि आशय पाया प्रतिकूल,
ढूँढा और कही अनुकूल;
ग्रन्थकार-कुल-कुमुद-चन्द्रमा वे ही [illegible] ने आते है ॥

(१७)

टेक्स्ट-बुक्स की सभा प्रधान,
उसके जितने सभ्य सुजान,
उनके प्रिय पुत्रादिक जो जो [illegible] लिखते है ।
आते है जो प्रातःकाल;
और झुकाते है निज भाल,
[illegible] ॥

(१८)

नूतन-चित्र-चरित्र-प्रचार,
करके उनकी रुचि अनुसार,
निज पुस्तक मे जो धनिको की व्यर्थ बडाई गाते है।
उनसे रख भिक्षा की आस,
करते है जो वचन-विलास,
ग्रन्थकार-गुरुओ के भी वे कर्णधार कहलाते है ॥

(१९)

ग्रन्थकार-गुण-गण नि शेष,
गान नही कर सकता शेष;
इसी लिए हम इस वर्णन को आगे नही बढाते हैं।
हे हे ग्रन्थकार ! गुण-धाम !
हे समर्थ ! हे पावन-नाम !
शत योजन से हम यह अपना मस्तक तुम्हे झुकाते है ॥

२२—सेवावृत्ति की विगर्हणा

(७ सितम्बर, १९०२ के अवध-समाचार में प्रकाशित)

(१)

चाहै कुटी अति घने वन मे बनावै,
चाहै बिना नमक कुत्सित अन्न खावै।
चाहै कभी नर नये पट भी न पावै,
सेवा प्रभो ! पर न तू पर की करावै ॥

(२)

सेवा-समान अति दुस्तर दुखदायी,
दुर्वृत्ति और अवलोकन में न आई,
जीना कभी न उसका जग मे भला है,
जो पेट-हेत पर-सेवन को चला है ॥

(३)

स्वातन्त्र्य-तुल्य अति ही अनमूल्य रत्न,
देखा न और बहु वार किया प्रयत्न।
स्वातन्त्र्य मे नरक-बीच विशेषता है;
न स्वर्ग भी सुखद जो परतन्त्रता है ॥

(४)

जो आत्मभाव अपना गिरि से गिरावै;
मानापमान कुछ भी मन में न लावै ।
जो शीश नीच-नर-सम्मुख भी झुकावै;
सेवा वही कर, किसी विध पार पावै ॥

(५)

निद्रा, क्षुधादिक न जो जन जानते हैं,
न प्रात, रात, दिन जो पहचानते है ।
जो मौन, दुर्वचन भी सुन ठानते है,
स्वातन्त्र्य खोकर वही सुख मानते हैं ॥

(६)

कोई कठोर यदि बात उसे कहै है;
कुत्ता कभी न फिर पास खड़ा रहै है ।
दुर्वाक्य-बाण सह जो न करै विचार,
धिक्कार क्यो न उनको दश लाख बार ?

(७)

जो श्वान के सदृश सेवक मानते है,
वे तुल्यता न करना नर जानते है ।
कुत्ता कहाँ सकल काल यथेच्छचारी ?
विक्रीत-जीवन कहाँ जन दास्यकारी ?

(८)

पूजा यथासमय, न प्रभु-नाम-जाप,
होता शरीर-सुत से न कभी मिलाप ।
न स्वार्थ ही न परमार्थ-विचार-बात;
सेवा किये सब सुखों पर वज्रपात ॥

(९)

सौम्य-स्वरूप शिव ने सिर पै बिठाया;
सर्व- कार अति आदर भी दिखाया।
तो भी महा-कृशकलाधर की कला है,
हा हा! पराश्रय नहीं किसको खला है ?

(१०)

आलस्य-लीन शुचि सज्जनता-विहीन,
अन्तर्मलीन, पर-पीडन में प्रवीण।
दे दैव! दण्ड मन जो कुछ और आवै,
ऐसे प्रभु-प्रवर से पर तू बचावै॥

॥ इति ॥

द्वितीय खण्ड

कुमारसम्भवसार

भूमिका

कालिदास के काव्यो मे कुमारसम्भव का भी बड़ा आदर है। इसमें सब १७ सर्ग हैं, परन्तु पहले सात ही सर्गो के पठन-पाठन का बहुधा सब कहीं प्रचार है। अष्टम सर्ग मे कवि ने शकर और पार्वती के शृंगारिक वर्णन की पराकाष्ठा कर दी है, यहाँ तक कि अनेक स्थल अश्लीलता-दूषित हो गये हैं। शायद इसी कारण से सप्तम सर्ग तक ही इस काव्य के अनुशीलन की परिपाटी पड गई हो। कोई कोई यह भी कहते है कि आठ ही सर्ग कालिदास के बनाये हुए है, शेष ९ सर्ग किसी ने उसके नाम से बनाकर जोड दिये है। इस सम्भावना का कारण वे यह बतलाते है कि यदि सत्रह सर्गपर्य्यन्त कालिदास ही की रचना होती तो इस काव्य का 'तारकवध' अथवा इसी अर्थ का द्योतक और कोई ऐसा ही नाम रक्खा जाता, 'कुमारसम्भव' न रक्खा जाता, क्योकि कुमार के द्वारा तारक का वध वर्णन करके सत्रहवे सर्ग की समाप्ति हुई है।

कुमारसम्भव की कथा कालिदास ने शिवपुराण से ली है। ऐसा करने मे कवि ने कहीं कहीं शिवपुराण के श्लोको के पूरे चरण के चरण वैसे ही रख दिये हैं; पदयोजनाओ और भावो के ले लेने के प्रमाण तो एक सिरे से दूसरे सिरे तक सभी कहीं विद्यमान है! दो-चार उदाहरण लीजिए :—

शिवपुराण १३ अध्याय	कुमारसम्भव प्रथम सर्ग
दिश प्रसेदु पवन सुख ववौ, शखं निदध्मुर्गगनेऽचरास्तथा। पपात मौलौ कुसुमाञ्जलिस्तथा, बभूव तज्जन्मदिन सुखप्रदम्॥	प्रसन्नदिक् पांशुविविक्तवात शखस्वनानन्तरपुष्पवृष्टि.। शरीरिणा स्थावरजंगमाना सुखाय तज्जन्मदिन बभूव॥

गिरिशमुपचचार प्रत्यहे सा सुकेशी ।

गिरिशमुपचचार प्रत्यहं सा सुकेशी
नियमितपरिखेदा तच्छिरश्चन्द्रपादैः ।

१४ अध्याय

महासुरस्तारकान्यस्त्वत्त प्राप्तपराक्रम
सर्वलोकविनाशाय केतुराजिरिवोत्थित
एवमाराधितश्चापि स क्लिश्नाति जगत्रयम्
शाम्येत्प्रत्यपकरेण नोपकारेण दुर्जन

द्वितीय सर्ग

भवल्लब्धवरोदीर्णस्तारकाख्यो महासुरः
उपप्लवाय लोकाना धूमकेतुरिवोत्थित
इत्यमाराध्यमानोपि क्लिश्नाति भुवनत्रयम्
शाम्येत्प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः ॥

१५ अध्याय

असम्मतः कस्तवेन्द्र. मुक्तिमार्ग-पेक्षते ।
त सुन्दरीकटाक्षैस्तु बध्नाम्याज्ञापय प्रभो

तृतीय सर्ग

असम्मत क तव मुक्तिमार्ग ।
पुनर्भवक्लेशभयात्प्रपन्न. ।
बद्धश्चिर तिष्ठतु सुन्दरीणा-
मारेचितभ्रूचतुरै कटाक्षै. ॥

१६ अध्याय

अपिक्रियार्थं सुलभं पुष्पवारिसमित्कुशम्
अपि देवि तपोमूर्ध्नि स्वशक्त्या परिवर्तसे

पञ्चम सर्ग

अपि क्रियार्थं सुलभ समित्कुशं
जलान्यपि स्नानविधिक्षमाणि ते ।
अपि स्वशक्तया तपसि प्रवर्तसे
शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ॥

कालिदास के विषय में हम एक पृथक् निबन्ध लिखना चाहते है, उसमें कालिदास की इस कृति का विशेष रूप मे विचार करने की हमारी इच्छा है। अतः यहाँ पर, हम और कुछ नही कहते ।

इस काव्य के प्रथम पाँच ही सर्ग सर्वोत्तम है। इसलिए हमने उन्ही का अनुवाद किया है। बहुत कम अवकाश मिलने के कारण तृतीय और पंचम सर्ग का ही पूरा अनुवाद करके प्रथम तृतीय और चतुर्थ सर्ग के अनुवाद मे हमने मूल का आशय मात्र लिया है।

यह अनुवाद कलकत्ते के भारतमित्र मे क्रमश. छपा था, अब इसे काशी-नागरीप्रचारिणी-सभा पुस्तकाकार प्रकाशित करती है।

झाँसी,
१६ नवम्बर, १९०२

महावीरप्रसाद द्विवेदी ।

कुमारसम्भवसार

प्रथम सर्ग

(१)

दिव्य दिशा उत्तर मे शोभित देवात्मा का अधिकारी,
भूधरपति अति पृथुल हिमालय हिममण्डितमस्तकधारी।
पूर्व और पश्चिम पयोधि के बीच बढा कर तनुधारी,
महीमाप के दण्ड तुल्य है रक्खा बहु विस्मयकारी ॥

(२)

रत्न और ओषधी चमकती हैं जिसमें नित बहुतेरी,
नही न्यून उसकी शोभा को कर सकती हिम की ढेरी।
चन्द्रविम्ब के भीतर जैसे नही कलक दिखाता है,
तैसे ही गुणगण-समुद्र में एक दोष छिप जाता है ॥

(३)

शृङ्गों पर, अकाल-सन्ध्या-सम, धातु विचित्र बिछाता है,
तिससे जो अप्सरावर्ग को भूषणयुक्त बनाता है।
रश्मिराशि दिनकर की जिसके शिखरो पर छवि पाती है,
अधोभाग में मेघमण्डली जलधारा बरसाती है ॥

(४)

हिम-धोई महि में गज-मुक्ता देख जहाँ पर बिखराये,
कहते हैं किरात "गज-हन्ता सिह इसी मारग आये"।
बाँस-वृक्ष के छेदो मे जो भर समीर न्यारी न्यारी,
गायक किन्नर-गण को देता मानौं ताल परम प्यारी ॥

(५)

गेरू से लिख भोजपत्र पर जहाँ अनङ्ग-देव-सन्देश,
विद्याधरसुन्दरी भेजती है पिय पास विशेष विशेष।
जहाँ रात में विपिननिवासी, ओषधियाँ रख दीप-समान,
करते है, उनके प्रकाश में, केलिकला के विविध विधान ॥

(६)

करि-कपोल-ताडित-सालद्रुम-दुग्ध-गन्ध की अधिकाई,
जिसकी शिखरमालिका को अति सुरभित करती, सुखदायी।
जमे हुए शीतल हिम पर भी, जिस गिरि में, किन्नर-नारी,
चलती है मन्दही लिये निज-कुच-नितम्ब-बाधा भारी॥

(७)

रवि के भय, उलूक-सम, दिन में, अन्धकार जब आता है,
अपनी गुहा बीच रख, जो गिरि, उसके प्राण बचाता है।
महा-नीच भी शरणागत को, जन महान वर-विज्ञानी,
अभय-दान देते है, तत्क्षण, कहते हुए मृदुल बानी॥

(८)

जिस पर्वत पर किन्नरबाला जब रतिसमर मचाती हैं,
वस्त्र खीचने से, लज्जावश, सकुच सकुच रह जाती है।
गुहाद्वार पर, अनायास, जब आंखे उनकी आती है,
लटके देख मेघ, परदे सम, सब सङ्कोच मिटाती हैं॥

(९)

सुरागाय अपनी पूँछो से जिस पर चमर चलाती है,
"है यह महीधरो का राजा" यह मानो बतलाती है।
थके किरात जहाँ पाते है सुरसरि-क -लानेवाला,
विमल वायु, जिसने की कम्पित देवदारु-त वर-माला॥

(१०)

जिसके उच्च-शिखर-गत-जल के कमलो को, नीचे रह कर,
नित्य ऊर्ध्वगामी किरणो से, विकसित करता है दिनकर।
शक्त देख जिसकी धरणी के धारण करने की अतितर,
यज्ञभाग, भूधरपतिपद भी, विधि ने दिया जिसे सुखकर॥

(११)

उसी हिमालय पर्वतपति ने विधिवत अपना किया विवाह,
पितरो की मानसी सुता शुचि मेना से, समेत उत्साह।
जिससे सुत मैनाक नाम का हुआ, पयोधि-मित्र, गुणवान,
नही काट जिसके पखो को सका सुरेश महा बलवान॥

(१२)

तदनन्तर, शङ्कर की पहली पत्नी सती नामवाली,
दक्षयज्ञ मे जल कर जिसने भस्म देह निज कर डाली।
आई गर्भ-मध्य मेना के रूप-शील-गुण-उजियाली,
जिसके जन्मकाल में सारी हुई दिशा शोभाशाली॥

(१३)

स्थावर जङ्गम सबको, उसके होने से, सुख हुआ अनन्त,
शोभित हुई उसे निज गोदी में लेकर माता अत्यन्त।
चन्द्रकलावत नित दिन दिन वह बढने लगी रूप की खान,
चढने लगी लुनाई तन मे परम रम्य चाँदनी समान॥

(१४)

नाम पार्वती, पर्वतकन्या होने से, उसने पाया,
"उ-मा", निषेध-वाक्य माता ने निजमुख मे जो प्रकटाया।
"मत जा सुता तपस्या करने" इस प्रकार कह समझाया,
उमा उमा कहने सब लागे, नाम दूसरा छवि छाया॥

(१५)

था यद्यपि सुत, किन्तु पिता की हुई वही बढ कर प्यारी,
सच है, आम-मञ्जरी ही पर प्रीति मधुपगण की भारी।
जैसे ज्योति दीप को, सुरसरि सुरपुर को शोभादायी,
तैसे हुई हिमाचल को वह कन्या उसके घर आई॥

(१६)

नित खेलती गेंद गुड़िया ले, गंगा-तट को भी जाती,
बालू के घर रच रच, रहती क्रीड़ारस में वह माती।
हुईं प्राप्त उसको, कुछ दिन मे, पूर्वजन्म-विद्या सारी,
शरद-समय सुरसरि को जैसे हंस-पंक्ति नभ-सञ्चारी॥

(१७)

बिना किये शृङ्गार, अंग में शोभा जिससे आती है,
मदिरा पियें बिना ही, जिससे मद-तरंग चढ जाती है।
बिना बाण का बाण काम का, जो जन-मन-मन्थनकारी,
वही युवापन, उसे, समय, पर, आया अद्भुत, बलिहारी॥

(१८)

जैसे रंग, चित्र की दूनी छवि, क्षण में दिखलाता है,
जैसे कमलकली की शोभा भानु विशेष बढ़ाता है।
वैसे नवयौवन ने उसके तन की सुन्दर सुघराई,
अंग अंग में दर्शित करके, छटा अनूपम उपजाई॥

(१९)

महि को, चरण अँगूठों से, जब, चलने समय दबाती थी,
नखआभा के मिस वह मानों लाल रंग टपकाती थी।
उससे नूपुर-शब्द सीखने की इच्छा रखनेवाले,
हंसों ने क्या उसे सिखाये चलने के क्रम मतवाले?

(२०)

त्वचा मत्त करिवर के कर की अतिशय कर्कश होती है,
केले की आकृति को उसकी शीतलता हठि खोती है।
देखा गया न यद्यपि जग में नका-सा आकार कहीं,
उनकी जंघा के, ये दोनों, तदपि उचित उपमान नहीं॥

(२१)

अन्य कामिनी जिस गोदी तक पहुँची नहीं कभी भी भूल,
वही जिसे, पीछे से, शिव ने सुख से धारण किया समूल।
विश्व- शंसित उस बाला की कटि का पिछला भाग महान,
था कैसा कमनीय? कीजिए, इतने में, उसका अनुमान॥

(२२)

उसकी कटि-करधनी-मध्यगत-नीलम के आभास समान,
रोमावली हुई अति शोभित, नाभी तक बढ़ाय परिमाण।
त्रिवली रुचिर, उदर ऊपर, उस कृशोदरी ने धरी, नवीन,
यौवन चढ़ने को, मनोज ने, दो मानों सीढ़ी स्वाधीन॥

(२३)

उस सरोजनयनी के दोनों सटे हुए कुच कलशाकार,
एक दूसरे से लग लग कर, दुख देते थे बारंबार।
काले मुखवाले वे गोरे, बढ़कर, इतने हुए विशेष,
नहीं मृणाल-तन्तु भी उनके बीच, कभी कर सका प्रवेश॥

(२४)

फूलो ही के काम वाण हैं, यह सब कहते आते हैं,
सिरस फूल से भी मृदुतर, हम, उसके वाहु वताते हैं।
क्योंकि पराजय पाने पर भी, जब वल अपना सँभाला,
रतिपति ने श्रीकण्ठ-कण्ठ मे यही वाहुवन्धन डाला ॥

(२५)

पयोधरो से उन्नत उसका कण्ठ; और मुक्तामाला,
एक दूसरे की शोभा का हुआ नित्य देनेवाला।
कभी नही होती इकठौरी शशि-सरोज-सुन्दरताई,
किन्तु उमा के मुख में निज निज दोनो ने छवि दिखलाई ॥

(२६)

फूल नवल पल्लव पर रहता, विद्रुम ऊपर जो मोती,
उसकी सित मुसकानि अधरयुत तो उनके समान होती।
मृदु-भाषण में जब वह मुख से सुधा-सलिल वरसाती थी,
कोकिल-कूक, विषम-वीणा-सम, कानो को न सुहाती थी ॥

(२७)

वायु-वेग से कम्पित सुन्दर नील-कमल की छवि-हारी,
उस विशालनयनी की चञ्चल चितवनि की मैं वलिहारी।
ऐसी चपल दृष्टि क्या उसने मृग-किशोरियो से पाई,
अथवा मृगकिशोरियो ही को उसे स्वयं वह दे आई?

(२८)

उसकी देख विलासशील अति भव्य भौंह काली काली,
तजी काम ने निज-धनु-विषयक वातें सब घमण्डवाली।
पशु लज्जा रखते यदि, तो कच देख उमा के अति प्यारे,
चमरी गाय शिथिल करती निज केश-प्रेम-बन्धन सारे ॥

(२९)

चन्द्र, कमल आदिक सब उपमा देने योग्य वस्तु-समुदाय,
जिसे जहाँ था उचित वहाँ ही रख ब्रह्मा ने निज लगाय।
साथ देखने की इच्छा से मानों विश्व सुन्दरता-सार,
रची उसे अत्यन्त यत्न से आकृति शोभा का आगार ॥

(३०)

एक वार, नारद मुनि, उसको बैठी देख पिता के पास,
वोले "हर-प्रिया यह होगी, कर आ॰ शरीर में वास"।
इससे, उसके लिए पिता ने, की न अन्य वर की अभिलाष,
अग्नि विहाय, नही पाते है, शुद्ध हृव्य को, अपर प्रकाश॥

(३१)

उसके पाने की महेश ने इच्छा किन्तु न दरसाई,
इमी लिए कर सका न गिरिवर वात व्याह की मनभाई।
इष्ट कार्य्य मे भी, सज्जन जन चुप-अवलम्बन करते है,
वचन-भङ्ग होने के भय से, मन में वे अति डरते है॥

(३२)

जव से पूर्व जन्म मे गिरिजा जली, तभी से वैरागी
हुए महेश विना पत्नी के; विषय-वासना भी त्यागी।
गये हिमालय की उस चोटी ऊपर तप करने भारी,
मृग-कस्तूरी से सुरभित है जिसकी वनस्थली सारी॥

(३३)

कुसुमकली के कुण्डल पहने, भूर्ज-वृक्ष की कोमल छाल,
वैठे शिलातलों पर नन्दी, भृङ्गी आदिक प्रमथ विशाल।
वर्फ खोदते हुए खुरों से वृषभराज ने वारवार,
असहनीय सिहध्वनि सुनकर, किया भयङ्कर शब्द अपार॥

(३४)

जिससे स्वय सदा पाते है तप के फल, जन अनुरागी,
वही ईश निज आठ मूर्त्तियो मे मे एक मूर्त्ति आगी।
रख सम्मुख, प्रज्वलित उसे कर, छोड काम सव ससारी,
किमी अपूर्व कामना के वश, बने तपश्चर्य्याकारी॥

(३५)

इमी समय, दो सखी साथ दे, शैलराज ने निज कन्या,
शिव-सेवा करने को भेजी, रूप-राशि गुणगण-धन्या।
यदपि विघ्नकर थी वह तप की, तदपि शम्भु ने स्वीकारी,
ऐसे में भी, मन जिनके वश, सच्चे वही धीरधारी॥

(२६)

वेदी सदा स्वच्छ करती थी, फूल तोड़ने जाती थी,
जल पूजन के लिए, तथा कुश, प्रेम-सहित ले आती थी।
इस प्रकार शङ्कर की सेवा कर, वह उन्हें लुभाती थी,
उनके भाल-चन्द्र की किरणों से श्रम सकल मिटाती थी ॥

इति प्रथम सर्ग।

द्वितीय सर्ग

(१)

उस समय महा बलवान निशाचर तारक,
त्रैलोक्य जीत कर, हुआ देवसहारक।
भयभीत अमरगण किये इन्द्र को आगे,
इसलिए पितामह पास गये सब भागे ॥

(२)

जब उन मलीन-मुख-युक्त सुरों के सम्मुख,
वे हुए प्रकट, कर कृपा, कृपालु चतुर्मुख।
रच रुचिर पद्य; इस भाँति, भक्तिरस साने,
तब, शीश नाय, सुर लगे ब्रह्मगुण गाने ॥

(३)

थे सृष्टि आदि में तुम्ही अकेले स्वामी!
कर जोड़, भक्ति युत, तुम्हें नाथ! प्रणमामी।
रज, सत्व, तमोमय भेद, अनन्तर, तीन,
कर, भिन्न भिन्न त्रयमूर्ति हुए, स्वाधीन ॥

(४)

जल बीच, प्रथम, निज बीज तुम्ही ने डाला,
अतएव तुम्ही से हुआ चराचर जाला।
विधि, विष्णु रुद्र आकार, यथाक्रम, धारी,
उत्पादक, पालक तुम्ही, तुम्ही संहारी ॥

(५)

तुमने ही जगविस्तार हेत असुरारी !
निज तन के है दो भाग किये नरनारी।
जब सोते हो तुम नाथ ! प्रलय होती है,
जगते हो जन तब सृष्टि बीज बोती है॥

(६)

तुम जगत मूल, तव मूल न जगदाधारा !
जगदन्तक तुम भगवन्त ! न अन्त तुम्हारा।
तुम जगत आदि, तव आदि नहीं है धाता !
तुम जगत ईश हो; ईश न तव दिखलाता॥

(७)

तुम अपने को लोकेश ! आपही जानो,
रच अपने ही से आत्मरूप सुख मानो।
फिर अपने ही में आप लीन हो जाते,
यह विश्व चराचर नाथ ! तुम्ही प्रकटाते॥

(८)

हो स्थूल, सूक्ष्म, द्रव, कठिन, तुम्ही निःशेष,
लघु, गुरु भी कारण, कार्य तथा विश्वेश !
जिन श्रुतियो का फल स्वर्ग महा सुखकारी,
उत्पन्न हुई वे नाथ ! तुम्ही मे सारी॥

(९)

भुवनेश ! सांख्य की प्रकृति तुम्ही कहलाते,
तत्वज्ञ तुम्ही को पुरुष पुरातन गाते।
तुम देवो के भी देव सर्वगुण-खानी,
तुम ब्रह्मा मे भी बड़े ब्रह्म-विज्ञानी॥

(१०)

सुन ऐसी स्तुति कमनीय, रुचिर, हृदयङ्गम,
प्रमुदित हो, विधि ने कहे वचन यो मृदुतम।
सुस्वागत हे सुरवर्ग ! कहो क्यो आये ?
क्या समाचार सब आज साथ ही लाये ?

(११)

हिम पडने से छविहीन यथा नभ तारे,
मुख-सरसिज ये क्यो हुए मलीन तुम्हारे?
क्यो कुण्ठित-सा यह कुलिश देवपतिवाला?
दिखलाती समे नही अग्नि की ज्वाला!

(१२)

हतवीर्य मन्त्र से सर्प यथा हो जाता,
क्यो पाश वरुण का कहो दीन दिखलाता?
वे गदा धनद के बाहुदण्ड-आकारी
है कह से मानो रहे पराभव भारी॥

(१३)

निस्तेज दण्ड से खीच भूमि पर रेखा,
है लगा रहे यमराज कहो क्या लेखा?
क्यो हुए द्वादशादित्य उष्णता-हीन?
सब चित्र लिखे से खडे प्रतापक्षीण॥

(१४)

क्या वायुवेग हे देव! हो गया भङ्ग?
जो शिथिलित उसके सर्व अङ्ग-प्रत्यङ्ग।
क्या उदक ओघ रुक गया? कहो सुरराज!
जो उलटा बहने लगा अहो वह आज॥

(१५)

क्यो तुम एकादश रुद्र! अधोमुख सारे?
है गये कहाँ हुङ्कार कठोर तुम्हारे?
क्या तुमने भी बलवान् देवगण! कोई?
जिसने तुम सबकी आज प्रतिष्ठा खोई॥

(१६)

क्या चहते हो? हे वत्स! कथा अब सारी,
कह करके, शङ्का हरो सतूल हमारी।
तब दृग-सहस्र गुरु ओर इन्द्र ने फेरे,
कमलाकर मानो मन्द पवन के प्रेरे॥

(१७)

जलजासन सम्मुख हाथ जोड़, तदनन्तर,
वाचस्पति बोले वचन युक्तियुत, सुन्दर।
हे अन्तर्यामी नाथ! सकल-उरवासी!
क्यों छाई सुरगण मध्य अखण्ड-उदासी?

(१८)

सो भगवन्! तुमने ठीक ठीक सब जाना,
छिन गया देव-अधिकार, मान, सम्माना।
तुमसे वर ईप्सित पाय, महासुर तारक,
है धूमकेतु सम उदित उपद्रवकारक॥

(१९)

रवि उसके पुर में नित्य तपै उतनाहीं,
जितने से वापी-कमल-फूल खिल जाहीं।
शशि अपनी सारी कला उसे देता है,
शिववाली केवल एक नहीं लेता है॥

(२०)

उसको न वाटिका बीच वायु जाता है,
तत्पुष्पचौर्य से त्रास सदा पाता है।
उतना ही उसके पास नित्य आता है,
बस पङ्खा जितना मन्द मन्द लाता है।

(२१)

क्रम छोड़, फूल की लिये मनोहर डाली,
सारे ऋतु उसके जाय हुए हैं माली।
उस असुरराज के लिए रत्न रुचिराकृति,
देता है जल से ढूँढ़ ढूँढ़ सरितापति॥

(२२)

सब वासुकि आदिक सर्प शिखा-मणि-धारी,
बनते हैं उसके दीप महा-द्युतिकारी।
नित कल्पद्रुम के फूल भेज अमरेश,
चाहत हैं उसकी कृपा कोर का लेश॥

(२३)

वह इससे भी सन्तुष्ट नहीं होता है,
भुवनत्रय उससे त्रस्त नाथ! रोता है।
उपकार न खल को कभी शान्त करता है,
अपकार मात्र तद्गर्व सर्व हरता है॥

(२४)

दल लेकर जिसके हुई मुदित सुरबाला,
नन्दन वन उसने वही काट सब डाला।
दृग-अश्रुवार-मसिक्त-चमर करधारी,
करती हैं उस पर पवन अमरपुर-नारी॥

(२५)

उसने उखाड कर मेरु-शिखर मन-भाये,
निज घर में क्रीडाशैल अनेक बनाये।
सुरसरि में दिग्गज दान-*मलिन-जलही भर,
कञ्चन-कमलालय हुए तदीय सरोवर॥

(२६)

उसके भय वीथी वन्द, सभी डरता है,
सुरवृन्द घरी मे पडा सडा करता है।
जो कोई मख में हव्य हमें देता है,
सम्मुख ही वह शठ उसे छीन लेता है॥

(२७)

सुरपति का उच्चैश्रवा अश्ववर, गो भी,
ले गया असुर वह, नीच, निरकुश लोभी।
ज्यो सन्निपात में सकल औषधी व्यर्थ,
त्यो तद्विनाश में नाथ! देव असमर्थ॥

(२८)

हरि चक्र न कुछ कर सका, कहे क्या क्या हम?
उलटा वह उसका हुआ कण्ठभूषण मम।
ऐरावत-विजयी-द्विरद मत्त उसके सब,
मेघो से टक्कर मार खेलते हैं अब॥

---

* दान = मद।

(२९)

तन्नाश हेतु हे नाथ ! एक सेनानी,
हम चाहते हैं अति शूर, वीर, बलखानी।
जिसको कर आगे, इन्द्र, विजयवाला वर,
बन्दीवत लावै छीन शत्रु से जाकर ॥

(३०)

वाचस्पति की निःशेष हुई जब बानी
विधि बोले, गर्जन अन्त पड़ै ज्यों पानी।
हे देव ! तुम्हारा काम सफल सब भाँती,
पर, स्वयं रचूँगा मैं न तारकारातो ॥

(३१)

यह उसे हमी ने मिला विभव-विस्तारा,
फिर, कैसे उसका करे हमी संहारा ?
विष-पादप भी यदि बड़ा किया जाता है,
उस पर भी न्हीं कुठार दिया जाता है ॥

(३२)

उसने तप अतिशय घोर किया मनमाना,
मुँहमाँगा हमने दिया उसे वरदाना।
अतएव, छोड़ शिव-अंश, अन्य बलवाना,
सह सकता उसका नहीं एक भी बाणा ॥

(३३)

वे परम ज्योतिमय देव तमोगुण-हीन,
जानै गति उनकी विष्णु और हम भी न।
उनका मन तप में लीन, उमा के द्वारा,
तुम खींचो, खींचै अयस्कान्त* ज्यों सारा† ॥

(३४)

तेजोमय शिव का बीज रिपुक्षय-कारण,
कर सकती केवल एक उमा ही धारण।
तत्सुत बन सेनाधीश बलिष्ठ तुम्हारा,
खोलैगा बन्दी-देववधू-कच-भारा ॥

---

* अयस्कात = चुम्बक।
† सारा = लोहा।

(३५)

स भाँति, इधर, कह, हुए लोप लोकेश,
सुर गये, उधर, सुरलोक, सहित देवेश।
सुरपति ने जाके वहाँ, विदाकर सुरगण,
मन ही मन चिन्तन किया काम का तत्क्षण ॥

(३६)

चाप, रम्यरमणी की अति ही बाकी भृकुटी-लता समान,
रतिकङ्कण-अङ्कित स्वकण्ठ मे सज्जित कर, सौन्दर्य-निधान।
सखा वसन्त-हाथ में देकर आममञ्जरी-रूपी वाण,
आया, तब, सम्मुख सुरेश के, प्रणत पुष्पधन्वा बलवान ॥

इति द्वितीय सर्ग।

तृतीय सर्ग*

(१)

सारे देववृन्द से खिचकर देवराज के नयन हज़ार,
कामदेव पर बडे चाव से आकर पडे एक ही बार।
अपने सब सेवक समूह पर स्वामी का आदर-सत्कार,
प्राय घटा बढा करता है सदा प्रयोजन के अनुसार ॥

(२)

"सुख से बैठो यहाँ मनोभव!"— स प्रकार कर वचन-विकाश,
आसन रुचिर दिया सुरपति ने अपने ही सिंहासन-पास।
स्वामी की इस अनुकम्पा का अभिनन्दन कर शीश झुकाय,
रतिनायक, इस भाँति, इन्द्र से बोला उसे अकेला पाय ॥

(३)

सबके मन की बात जानने मे अति निपुण! प्रभो! देवेश!
विश्व बीच कर्त्तव्य कर्म तव क्या है [illegible] आदेश।
किसके हेतु स्मरण, अनुग्रह दिखलाया है जो मम आज,
उसे अधिक [illegible] —[illegible] सुरराज!

---

* इस सर्ग [illegible] बहुत [illegible] इसका [illegible] अनुवाद किया है।

(४)

इन्द्रासन के इच्छुक किसने करके तप अतिशय भारी,
की उत्पन्न असूया तुझमे ? मुझसे कहो कथा सारी।
मेरा यह अनिवार्य शरासन पाँच-कुसुमसायक-धारी,
अभी बना लेवै तत्क्षण ही उसको निज-आज्ञाकारी ॥

(५)

जन्म-जरा-मरणादि दुख मे होकर दुखित कौन ज्ञानी,
तव सम्मति-प्रतिकूल गया है मुक्तिमार्ग में अभिमानी ?
भृकुटी-कुटिलकटाक्ष-पात से उसे सुन्दरी सुरबाला,
वाँ डाल रक्खै, वैसे ही पडा रहै वह चिरकाला ॥

(६)

नीति शुक्र से पढा हुआ भी है यदि कोई अरि तेरा,
पहुँचै अभी पास उसके झट दूत रागरूपी मेरा।
जल का ओघ नदीतट दोनो पीडित करता है जैसे,
धर्म्म, अर्थ—दोनो ही उसके पीडन करूँ कहो तैसे ॥

(७)

महापतिव्रतधर्म्मधारिणी किस नितम्बिनी* ने अमरेश !
निज चारुता दिखाकर तेरे चञ्चल चित में किया वेश।
क्या तू यह इच्छा रखता है, कि वह तोड लज्जा का जाल
तेरे कठदेश मे डालै आकर अपने बाहु-मृणाल ?

(८)

समझ सुरत-अपराध, कोपकर, किस तरुणी ने हे कामी !
तुझे तिरस्कृत किया, हुआ तव शीश यदपि तत्पदगामी।
उग्रताप से व्याकुल होकर वह मन में अति पछतावै,
पडी रहै पल्लवशय्या पर, किये हुए का फल पावै ॥

(९)

मुदित हूजिए वीर ! वज्र तव करै अखडित अब विश्राम,
बतलाइए, देवताओ का वैरी कौन पराक्रम-धाम।
मेरे शरसमूह से होकर विफल-बाहुबल कम्पितगात,
अधर कोप-विस्फुरित देखकर, डरै स्त्रियो से भी दिनरात ॥

---

* नितम्बिनी = स्त्री।

(१०)

हे सुरेश ! तेरे प्रसाद से कुसुमायुध ही मैं इस काल,
साथ एक ऋतुपति को लेकर, और प्रपञ्च यही सब डाल।
धैर्य्य पिनाकपाणि हर का भी, कहिए, स्खलित करूँ देवार्थ,
और धनुष धरनेवाले सब मेरे सम्मुख तुच्छ पदार्थ।

(११)

पादपीठ को शोभित करते हुए इन्द्र ने, इतने पर,
जघा से उतार कर अपना खिले कमल सम पद सुन्दर।
निज अभिलषित-विषय मे सुनकर मन्मथ का सामर्थ्य महा,
उससे, अति-आनन्द-पूर्वक, समयोचित, इस भाँति कहा॥

(१२)

सखे ! सभी तू कर सकता है; तेरी शक्ति जानता हूँ,
तुझको और कुलिश को ही मै अपना अस्त्र मानता हूँ।
तपोबली पुरुषो के ऊपर वज्र व्यर्थ ही जाता है,
मेरा तू अमोघ साधन है, सभी कही तू जाता है॥

(१३)

तेरा बल है विदित, तुझे मै अपने तुल्य समझता हूँ,
बडे काम में इसी लिए ही तुझे नियोजित करता हूँ।
देख लिया जब यह, कि शेष ने सिर पर भूमि उठाई है,
तभी विष्णु ने उस पर अपनी शय्या सुखद बनाई है॥

(१४)

यह कह कर, कि सदाशिव पर भी चल सकता है शर तेरा,
मानों अगीकार कर लिया काम ! काम तूने मेरा।
यही इष्ट है, क्योकि, शत्रु अब अति उत्पात मचाते है,
यज्ञभाग भी देववृन्द से छीन छीन ले जाते है॥

(१५)

जिसके औरस पुत्र रत्न को करके अपना सेनानी,
सुर विजयी होना चहते है, मार असुर सब अभिमानी।
वही महेश समाधिमग्न है, पास कौन जा सकता है ?
तेरा विशिख तथापि एक ही कार्य्य-सिद्धि कर सकता है॥

(१६)

ऐसा करो उपाय जायकर, हे रतिनायक वड़भागी !
हो जिससे पवित्र गिरिजा मे योगीश्वर हर अनुरागी।
उनके योग्य कामिनी-कुल में वही एक गिरि-वाला है,
सत्यवचन ब्रह्मा ने अपने मुख मे यही निकाला है ॥

(१७)

जहाँ हिमालय ऊपर हर ने तप-लीला विस्तारी है,
गिरिजा वही पिता की अनुमति से सेवार्थ सिधारी है।
यह सवाद अप्सराओ से सुन पाया मैने सारा,
भेद जान लेता हूँ सवका सदा इन्ही के ही द्वारा ॥

(१८)

अत सुरो की कार्यसिद्धि के लिए करो अब तुम प्रस्थान,
इसे करेंगी सफल उमा ही; इसमें कारण वही प्रधान।
तू भी है तथापि इस सवका हेतु अपेक्षाकृत वलवान,
उग आने के पहले, आदिम अकुर के जलदान समान ॥

(१९)

सकल सुरों की विजय-कामना के उपाय है हर, उन पर,
शर तेरे ही चल सकते है, वडभागी है तू अतितर।
अप्रसिद्ध भी कार्य, और से हो सकता जो कभी नही,
उसके भी करने मे यश है, यह तो विश्रुत सभी कही ॥

(२०)

ये सब सुर तेरे याचक है, गति नकी कुण्ठित सारी,
है तीनो लोको का मन्मथ ! कार्य महामगलकारी।
तव धन्वा के लिए कर्म्म यह नही निपट घातक भारी,
तेरे तुल्य न वीर और है, अहो विचित्र-वीर्यधारी !

(२१)

ऋतुनायक तेरा सहचर है सदा साथ रहनेवाला,
विना कहे ही तुझको देगा वह सहायता, इस काला।
"शिखा अग्नि की बढा दीजिए हे समीर ! जीवनदाता"!
भला पवन से क्या कोई भी इस प्रकार कहने जाता ?

(२२)

एवमस्तु कह कर, स्वामी के अनुशासन को अति-अभिराम,
 माल्यवत मस्तक ऊपर रख सादर, चला वहाँ से काम।
ऐरावत की पीठ ठोकने से कर्कश कर को स्वच्छन्द,
 सुरपति ने उसके शरीर पर फेरा कई बार सानन्द॥

(२३)

प्रिय वसन्त, प्रियतमा प्राणसम रति भी, दोनों निपट सशङ्क,
 मन्मथ के अनुगामी होकर, चले साथ उसके सातङ्क।
"मैं अवश्य सुरकार्य करूँगा, चाहे हो शरीर भी नाश",
 यह दृढ़ कर, हिमशैल-शृङ्ग पर गया अनङ्ग शिवाश्रम-पास॥

(२४)

उस आश्रमवाले अरण्य में थे जितने संयमी मुनीश,
 उनके तपोभङ्ग में तत्पर हुआ वहाँ जाकर ऋतु-ईश।
मन्मथ के अभिमानरूप उस मधु* ने अपना प्रादुर्भाव,
 चारों ओर किया कानन में, दिखलाया निज प्रबल प्रभाव॥

(२५)

यक्षराज† जिसका स्वामी है उसी दिशा की ओर प्रयाण,
 करते हुए देख दिनकर को, उल्लङ्घन कर समय-विधान।
मन में अति दुःखित-सी होकर, हुआ समझ अपना अपमान,
 छोड़ा दक्षिण-दिशा-वधू ने मलयानिल निश्वास-समान॥

(२६)

कामिनियों के मधुर-मधुर-रवकारक-नव-नूपुर-धारी-
 पद से स्पर्श किये जाने की न कर अपेक्षा सुखकारी॥
गुद्दे से लेकर अशोक ने, तत्क्षण, महा-मनोहारी,
 कली नवल-पल्लव-युत सुन्दर धारण की प्यारी प्यारी॥

(२७)

कोमल पत्तों की बनाय, झट पक्षपंक्ति लाली लाली,
 आममञ्जरी के प्रस्तुत कर नये विशिख शोभाशाली।
शिल्पकार ऋतुपति ने उन पर मधुप मनोहर बिठलाये,
 काम-नाम के अक्षर मानों काले काले दिखलाये॥

---

* मधु = वसन्त। † यक्षराज = कुबेर।

(२८)

रहती है यद्यपि कनेर मे रुचिर रग की अधिकाई,
तदपि सुवासहीनता उसके मन को हुई दु.खदाई।
वही विश्वकर्ता करता है जो कुछ जी में आता है,
सम्पूर्णता गुणो की प्राय कही नही प्रकटाता है ॥

(२९)

बालचन्द्र सम जो टेढी है, जिनका अब तक नही विकाश,
ऐसी अरुणवर्ण कलियो से अतिशय शोभित हुआ पलाश।
मानौं नव-वसन्त-नायक ने, प्रेम विवश होकर, तत्काल,
वनस्थली को दिये नखौं के क्षतरूपी आभरण रसाल ॥

(३०)

नई वसन्ती ऋतु ने करके तिलक फूल को तिलक समान,
देकर मधुपमालिकारूपी मृदु कज्जल शोभा की खान।
जैसा अरुण रग होता है बालसूर्य में प्रात काल,
तद्वत नवल-आमपल्लव-मय अपने अधर बनाये लाल ॥

(३१)

रुचिर चिरौजी के फूलौ की रज जो उड उड कर छाई,
हरिणौं की आँखो में पडकर, पीडा उसने उपजाई।
इससे, वे अन्धे से होकर, मरमरात पत्तेवाले,
कानन में, समीरसम्मुख, सब भागे मद से मतवाले ॥

(३२)

आममञ्जरी का आस्वादन कोकिल ने कर बारम्बार,
अरुणकण्ठ से किया शब्द जो महा मधुरता का आगार।
"हे मानिनी कामिनी! तुम सब अपना मान करौ नि शेष",
स प्रकार मन्मथ-महीप का हुआ वही आदेश विशेष ॥

(३३)

जिनके अधर निरोग हो गये हिम पडना मिट जाने से,
जिनकी मुख छवि पीत हो गई कुकुम के न लगाने से।
ऐसी किन्नर-कामिनियो के तन में स्वेदबिन्दु, सुन्दर,
रुचिर-पत्ररचना के ऊपर, शोभित हुए, प्रकट होकर ॥

(३४)

शिव-आश्रम के आस पास थे जितने मुनिवर वनवासी,
असमय मे ही देख आगमन ऋतुपति का मायाराशी।
सहसा अति गुरुतर विकार का, कई बार, खाकर झोका,
किसी प्रकार उन्होने अपना विचलित-चित्त-वेग रोका॥

(३५)

पुष्पशरासन पर चढाय शर, उस प्रदेश मे जव रतिनाथ,
पहुँचा निज सहधर्म्मचारिणी रति को लेकर अपने साथ।
जितने थे स्थावर, जङ्गम, सव, आतुरता-वश, बारबार,
रति-सूचक-शृगार-भावना करने लगे अनेक प्रकार॥

(३६)

फूलरूप एक ही पात्र मे भरा हुआ मीठा मकरद,
भ्रमरी के पीने के पीछे, पिया भ्रमरवर ने स्वच्छंद।
छूने से जिस प्रिया मृगी ने सुखवश किये विलोचन वन्द,
एक सीग से उसे खुजाया कृष्णसार मृग ने सानन्द॥

(३७)

गजिनी ने मुख मे रख कर जल पङ्कज रज-सुवासवाला,
रस के वश होकर, फिर, उसको निज गज के मुख में डाला।
आधे खाये हुए कमल के मजुल-तन्तुजाल देकर,
चक्रवाक ने किया प्रिया का आदर, अनुरागी होकर॥

(३८)

ऊँचे स्वर मे गान समय मे, प्रचुर परिश्रम होने से,
कुछ कुछ विगड गई जिस मुख पर पत्रावली पसीने से।
पुष्पासव पीने से जिस पर घूम रहे दृग अरुणारे,
रसिक-किन्नरो ने पत्नी के चूमे मुख ऐसे प्यारे॥

(३९)

फूले हुए नवल फूलो के गुच्छे[illegible]ी कुचवाली,
है चञ्चल-पल्लव ही जिनके अधर मनोहरतावाली।
ऐसी ललित लता-ललनाओं से तरुओं ने भी पाया,
झुकी हुई शाखाओं के मिष भुजबन्धन अति मन भाया॥

(४०)

चतुर अप्सराओं का, इस क्षण, सुन कर भी मंजुल गाना,
आत्मा का चिन्तन ही करते रहे महेश्वर भगवाना।
जिन महानुभावों के वश में अपना मन हो जाता है,
तपोविघातक विघ्न कभी भी उनके पास न आता है॥

(४१)

लिये हुए थे वाम हस्त में अति अभिराम हेम का दण्ड,
लताभवन के भव्य द्वार पर गया हुआ नन्दी उद्दण्ड।
मुख पर उँगली रख, संज्ञा से, बोला ऐसे वचन विशेष —
"हे गणवृन्द! करो न चपलता, मानो तुम मेरा आदेश॥"

(४२)

कम्पहीन सब हुए महीरुह, निश्चल हुए मधुप-समुदाय;
मूक हुए खग, शान्त हुए मृग, अपना आवागमन भुलाय।
वह सारा अरण्य नन्दी का दुर्विलंघ्य अनुशासन पाय,
तत्क्षण ही होगया चित्रवत, स्वाभाविक भी नियम विहाय॥

(४३)

यात्रा में सम्मुख पडता है जहाँ शुक्र, उस देश-समान,
दृष्टि बचाय नन्दिकेश्वर की, बडे बडे कर यत्न-विधान।
सुरपुन्नाग-वृक्ष की शाखा फैली थी जिस पर सविशेष,
शङ्कर के समाधि-मण्डप में रतिनायक ने किया प्रवेश॥

(४४)

पावन देवदारु तरुवर की विशद वेदिका सुखदायी,
शार्दूल के रुचिर-चर्म्म से भलीभाँति जो थी छाई।
योगमग्न त्रिनयन को बैठे हुए वही उसके ऊपर,
शीघ्र-शरीर-छोडनेवाले मनसिज ने देखा जाकर॥

(४५)

तन का भाग ऊपरी स्थिर था; वीरासन में थे शङ्कर,
वे विशेष, सीधे भी थे; पर कन्धे थे विनम्र अतितर।
उल्टे रक्खे देख पाणियुग, मन में ऐसा आता था;—
खिला कमल उनकी गोदी में मानों शोभा पाता था॥

(४६)

लिपटाकर भुजङ्गवर, ऊँचा जटा-कलाप बनाया था,
दोनों कानों में द्विगुणित कर अक्षमाल लटकाया था।
कृष्णसार मृग-चर्म्म उन्होंने, गाँठ बाँध, लिपटाया था,
कण्ठ-कालिमा ने कालापन उसका बहुत बढ़ाया था॥

(४७)

जो किञ्चित ही भासमान थे; जिनकी अचल उग्र तारा,
और, जिन्होंने भुला दिया था भृकुटी का विलास सारा।
पलक-जाल जिनके निश्चल थे; किरण अधोमुख पड़ते थे,
ऐसे नयनों से नासा की नोक महेश देखते थे॥

(४८)

वारिद-वृन्द बिना वर्षा के जैसे शोभा पाता है,
बिना लोल कल्लोल*-कला के जैसे सिन्धु दिखाता है।
बिना वायुवाले मन्दिर में कम्पहीन दीपक जैसे,
अन्तर्गत-मारुत-निरोध से शम्भु हो रहे थे तैसे॥

(४९)

विमल ज्योति की छटा शीश से, होकर उदित, निकलती थी,
निकल, तीसरे दृग के पथ से जो सब ओर फैलती थी।
उसने, मृदुल-मृणाल-तन्तु की माला से भी कोमलतर,
बालचन्द्रमा की शोभा को म्लान कर रहे थे शङ्कर॥

(५०)

त्रिगुण तीन द्वारों से मन का आवागमन रोक, ईशान
वश में कर उसको समाधि, से, दे हृदयारविन्द में स्थान॥
जिसको अविनाशी कहते हैं बड़े बड़े विज्ञान-निधान,
उस आत्मा को वह अपने में देख रहे थे करके ध्यान॥

(५१)

मन से भी जिनकी न घर्षणा हो सकती है किसी प्रकार,
ऐसे दुराधर्ष त्रिनयन को देख समीप भाग में मार।
वह, यह सका न जान, तनिक भी, शिथिलित-कर होकर, डर से,
शर भी और शरासन भी, कब निकल पड़े उसके कर से॥

---

*कल्लोल = लहर।

(५२)

तदुपरान्त; निज सुन्दरता से, मन्मथ का प्राय नि शेष,
हुआ वीर्य, पुनरुज्जीवित-सा फिर से करती हुई विशेष।
साथ लिये वन की दो देवी, धरती हुई शम्भु का ध्यान,
हुई नयनगोचर गिरिकन्या गिरिजा गुण-गौरव की खान ।।

(५३)

जिसके नव-अशोक फूलो ने पद्मराग-छवि छीन लिया,
जिसके कर्णिकार कुसुमो ने स्वर्णवर्ण दुर्वर्ण किया।
जिसके निर्गुण्डी के गुच्छे हुए मोतियो की माला,
वही वसन्त-पुष्प के गहने पहने थी वह गिरिबाला ।।

(५४)

अति उत्तुङ्ग-उरोज-भार से वह कुछ नम्र दिखाती थी,
बालसूर्य-सम लाल वस्त्र से ऐसी शोभा पाती थी।
प्रचुर-पुष्प-गुच्छो से झुक कर नये नये पल्लववाली,
चलती है, भूतल पर, मानो ललित-लता लाली लाली ।।

(५५)

अच्छे बुरे स्थान के ज्ञाता चतुर मनोभव के द्वारा,
रक्खी गई धनुष की अन्या डोरी सम शोभा सारा।
कटि-करधनी बकुल-फूलों की ढीली हो हो जाती थी,
उसको वह अपने नितम्ब पर बार बार हटाती थी ।।

(५६)

परम-सुगन्धवती श्वासों से बढी हुई तृष्णावाले,
बिम्बाधर के पास, मधुप जो आते थे काले काले।
इससे, वह दृग चञ्चल करके, क्षण क्षण मे घबडाती थी,
और खेल के कमल फूल से उनको दूर उडाती थी ।।

(५७)

काम-कामिनी* को भी लज्जित करनेवाली वारवार,
उस सर्वाङ्ग-सुन्दरी को कर लोचन-गोचर भले प्रकार।
अति दुर्जय, अति-अगम जितेन्द्रिय, शूलपाणि शिव के स्वाधीन,
अपने कार्य सिद्धि की आशा मनसिज को फिर हुई नवीन ।।

---

* काम-कामिनी = रति ।

(५८)

होनहार निज पति शङ्कर का तपोभवन जो था सुन्दर,
उसके परम पवित्र द्वार पर शैलसुता पहुँची जाकर।
अन्तर्गत परमात्मानात्मक तेज पुञ्ज विलोकन कर,
प्रखर-योग-साधक-समाधि से विरत शम्भु भी हुए उधर॥

(५९)

जिनके आसन के नीचे के भूमिभाग को सर्पाधीश,
फण-सहस्र पर बड़े यत्न से, रक्खे रहा लगाये शीश।
वे महेश निज प्राणवायु को धीरे धीरे, युक्तिसमेत,
छोड़, निविड योगासन अपना शिथिलित करके, हुए सचेत॥

(६०)

"महाराज! गिरिवर की कन्या सेवा करने है आई"—
शीश नाय नन्दी ने उनसे कही बात यह सुखदाई।
स्वामी के भ्रूभंग-मात्र से जब उसने निदेश पाया;
गिरिजा को सत्कार-सहित वह उनके सम्मुख ले आया।

(६१)

तोड़े हुए हाथ से अपने, महा मनोहरता के मूल,
पत्तों के टुकड़े युत, नूतन, शिशिरान्तक वसन्त के फूल।
गिरिजा की दोनों सखियों ने, विधिवत करते हुए प्रणाम,
शिव के पैरों पर बिथराये, जोड़ पाणिपंकज छविधाम।

(६२)

नील अलक में शोभित नूतन कर्णिकार-कलिका सुन्दर,
देह झुकाते समय गिराती हुई महीतल के ऊपर।
कानों के पल्लव टपकाती, मस्तक निज नीचे रख कर,
किया उमा ने भी, तदनन्तर, शंकर को प्रणाम सादर॥

(६३)

"पावै तू ऐसा पति जिसने देखी नहीं अन्य नारी"—
यह सच्ची आशीष ईश ने दी उसको सब सुखकारी।
महामहिमपुरुषों के मुख से वचन निकल जो जाता है,
विश्व बीच विपरीत भाव वह कभी नहीं दरसाता है॥

(६४)

जलती हुई आग मे गिरने के इच्छुक पतङ्ग-सम मार,
वा छोडने का शुभ अवसर आया है यह कर सुविचार।
गिरिजा के समक्ष शकर को लक्ष्यीकृत कर भले प्रकार,
अपने धन्वा की प्रत्यञ्चा तानी उसने वारम्बार ।।

(६५)

मन्दाकिनी नदी ने जिसको निज जल मे उपजाया है,
दिनकर ने अपनी किरणो से जिसे विशे सुखाया है।
वह सरोज-बीजो की माला, अरुण-वर्ण कर में लेकर,
गिरिश तपस्वी को गौरी ने अर्पण की सुन्दर सुन्दर ।।

(६६)

प्रिय होगा प्रेमिणी उमा को इसके लेने का व्यापार,
यह विचार कर उस माला को शिव ने इधर किया स्वीकार।
समोहन-नामक अमोघ शर निज निषङ्ग से उधर निकाल,
कुसुम-शरासन पर, कौशल से, मन्मथ ने रक्खा तत्काल ।।

(६७)

राकापति को उदित देख कर क्षुब्ध हुए सलिलेश-समान,
कुछ कुछ धैर्य्यहीन होकर के, सयमशील शम्भु भगवान।
लगे देखने निज नयनो से, सादर, साभिलाष, सस्नेह,
गिरिजा का विम्बाधर-धारी मुखमण्डल शोभा का गेह ।।

(६८)

खिले हुए कोमल कदम्ब के फूल तुल्य अङ्गो-द्वारा,
करती हुई प्रकाश उमा भी अपना मनोभाव सारा।
लज्जित नयनो से भ्रमिष्ट सी, वही, देखती हुई मही,
अति सुकुमार चारुतर आनन तिरछा करके खडी रही ।।

(६९)

महा जितेन्द्रिय थे, इस कारण, महादेव ने, तदनन्तर,
अपने इस इन्द्रियक्षोभ का वलपूर्वक विनिवारण कर।
मनोविकार हुआ क्यो ? इसका हेतु जानने को सत्वर,
चारों ओर सघन कानन में प्रेरित किये विलोचन वर ।।

(७०)

नयन दाहिने के कोने में मुट्ठी रखते हुए कठोर,
कन्धे झुकाये हुए, वाम पद छोटा किये भूमि की ओर।
धनुष बनाये हुए चक्र सम, विशिख छोड़ते हुए विशाल,
मनसिज को इस विकट वेश में त्रिनयन ने देखा उस काल ॥

(७१)

जिनका कोप विशेष बढ़ा था तपोभंग हो जाने से,
जिनका मुख दुर्दर्श हुआ था भृकुटी कुटिल चढ़ाने से।
उन हर के, तृतीय लोचन से तत्क्षण ही अति विकराला,
अकस्मात अग्निस्फुलिङ्ग की निकली दीप्तिमान ज्वाला ॥

(७२)

"हा हा ! प्रभो ! क्रोध यह अपना करिए करिए करिए शान्त"—
इस प्रकार का विनय व्योम में जब तक सब सुर करें नितान्त।
तब तक हर* के दृग से निकले हुए हुताशन ने सविशेष,
मन्मथ के मोहक शरीर को भस्मशेष कर दिया अशेष ॥

(७३)

अति दारुण विपत्ति के कारण महामोह का हुआ विकाश,
उसने रति के इन्द्रियगण की नियत वृत्ति का किया विनाश।
प्रियतम पति की विषम दशा का क्षणभर उसको रहा न ज्ञान,
उस अबला पर हुआ, इसी मिष, मानो यह उपकार महान ॥

(७४)

तरुवर के टुकड़े करता है भीषण वज्रपात जैसे !
तप के विघ्नरूप मनसिज का देह-भंग करके तैसे।
नारी के नैकट्य-त्याग की इच्छा से, सब भूत लिये,
भूतनाथ, अपने आश्रम से, तत्क्षण अन्तर्धान हुए ॥

---

* मूल श्लोक में, यहाँ पर, कालिदास ने 'भव' शब्द का योग किया है। भव महादेव का नाम है, और भव, जन्म (उत्पत्ति) को भी कहते है; अत इस अवसर पर हमारे मत के अनुसार, संहारवाची शंकर का दूसरा नाम 'हर' याद आता तो अधिक सुयुक्तिक होता। —अनुवादक

(७५)

अपनी ललित-शरीर-लता भी, उच्च पिता का भी अभिला ,
व्यर्थ समर्थन कर दोनो को, मन में होती हुई हताश ।
सखियो ने भी देख लिया सब इस दुर्घटना का व्यापार !
अत अधिक लज्जित होकर, घर गई उमा भी, किसी प्रकार ॥

(७६)

कुपित द्र के भय से अपनी आँख वन्द, करनेवाली,
दयायोग्य कन्या को हाथों पर रख गिरिवर बलशाली ।
लिये कमलिनी को दाँतो पर सुरगज सम शोभाधारी,
देह बढाता हुआ वेग से, हुआ शीघ्र ही पथचारी* ॥

॥ इति तृतीय सर्ग ॥

चतुर्थ सर्ग

(१)

विवश चेतना-हीन, विकल, विह्वल, वेहाला,
पडी रही कुछ काल कुसुम-शायक की वाला ।
देने को वैवव्य-वेदना अतिशय दुस्तर,
जागृत उसको किया वाम-विधि ने तदनन्तर ॥

(२)

किया नयन-नि क्षेप व्यथित रति ने जव उठकर,
दृग्गोचर कर सकी न वह पति-रूप मनोहर ।
"जीते हो हे नाथ !" वचन यह कह विषाद-कर,
देखी पुरुषाकार भस्म उसने भूतल पर ॥

(३)

तव रती पर लोट, कुचों पर धूल लगाये,
देह दशा को भूल, अखिल अलकै बिखराये ।
सारे वन को दुखित बनाती हुई दुखारी,
करने लगी विलाप पञ्चशायक की प्यारी ॥

---

* पथचारी-मार्गानुसरण करनेवाला, मा में सचार करनेवाला ।

(४)

जो यह तेरा गात मनोहरता की राशी,
उनका था उपमान सदा जो सुघर विलासी।
उसकी ऐसी दशा हुई ! फटती नहिं छाती ! !
हाय हाय अति-कठिन निंद्य नारी की जाती ! ! !

(५)

नव-नलिनी को नीर छोड जाता है जैसे,
कहाँ गया हे नाथ ! छोड मुझको तू तैसे ?
किया नही प्रतिकूल कभी कुछ मैंने तेरा,
फिर क्यो देता नही दरस रोदन सुन मेरा ?

(६)

हुआ स्मरण क्या तुझे करधनी से निज-बन्धन ?
अथवा प्रणय-विशिष्ट कमल-कलिका से ताडन ?
"हृदय बीच तव वास"--कथन यह कपट तुम्हारा,
क्योंकि, अतनु तुम हुए; तदपि तनु बना हमारा ।।

(७)

अपर-लोक तुम गये नये ही हे प्रिय मेरे !
निश्चय ही मैं नाथ ! निकट आऊँगी तेरे।
वञ्चित हुआ परन्तु जगत यह विधि के द्वारा,
तेरे ही आधीन सौख्य इसका था सारा ।।

(८)

निविड-निशा में, नित्य, नगर-गलियो के भीतर,
घन-गर्जन-भयभीत सुलोचनियो को, सत्वर।
निज निज प्रिय के गेह, स्नेह वर्द्धित कर, प्यारे !
पहुँचावेगा हाय ! कौन अब विना तुम्हारे ?

(९)

कामिनियो के लिए मधुर मदिरा मुददायी,
विडम्वना है, विना तुम्हें अव वनी वनाई।
नाम-शेष सुन तुम्हे शशी अति पछताऽगा,
शुक्ल-पक्ष में भी न वृद्धि सुख से पावेगा ।।

(१०)

लाल तथा कुछ हरे चारु-बन्धन-धारी,
कोकिल-कल-निनाद, लोक-लोचन-सुखकारी।
ऐसे नवल रसाल-फूलके अद्भुत सायक,
ग्रहण करेगा कौन ? कहो प्रिय हे मन नायक !

(११)

मधुकर-पंक्ति मनोज ! जिसे तूने अपनाया,
प्रत्यञ्चा बहु बार धनुष की जिसे बनाया।
वनस्थली को आज करुण-रव से भरती है,
मुझको दुःखित देख, रुदन-सा वह करती है ॥

(१२)

धारण कर तनु रुचिर, उठो; मुख मुझे दिखावो,
रति-योजक-उपदेश पिकों को नाथ ! सुनावो।
स-प्रणाम सु-विकम्प सुरत-याचन वह तेरा,
सोच सोच कर, धैर्य नाश होता है मेरा ॥

(१३)

हे रति-कला-प्रवीण ! कुसुम वासन्तिक लेकर,
तुमने किये मदर्थ रचे जो आभूषण-वर।
अङ्ग अङ्ग में उन्हें किये हूँ अब तक धारण,
किन्तु देखती नहीं देह तव उनका कारण !

(१४)

यावक-रस मम वाम पाद में, नाथ, लगावो,
असम्पूर्ण ही छोड़ गये तुम उसको; आवो।
अथवा सुर-सुन्दरी तुम्हें जब तक न लुभावें,
तब तक सुरपुर हमीं, अनल में जलकर, आवें ॥

(१५)

"रति मनसिज के बिना रही पल भर भी जीवित—"
हे मम जीवित-नाथ ! कहेंगे यही सभी नित।
यद्यपि तनु तज, अभी तुम्हें फिर अङ्क भरूँगी,
इस कलङ्क को दूर तदपि किस भाँति करूँगी ?

(१६)

शोक ! शोक !! हा शोक !!! अहो परलोक-निवासी !
अन्त्य कृत्य तक नहीं कर सकी है यह दासी।
अवितर्कित गति हुई हाय ! तेरी हे स्वामी !
जीवन भी तब गया, गया वह तनु भी नामी !

(१७)

गोदी में रख चाप, अहह हे हृदय-विहारी !
सीधा करते हुए विशिख त्रिभुवन-वशकारी।
तुमने ऋतुपति सङ्ग किये जो कथन रसीले,
सब आते हैं स्मरण; नहीं हैं मुझको भूले ॥

(१८)

तव हृदयङ्गम सखा सुमन-धन्वा का दाता, .
कहाँ गया ऋतुराज ? नहीं वह मुझे दिखाता।
क्या उसको भी कुपित शम्भु ने दोषी पाया ?
जो गति तेरी हुई उसी गति को पहुँचाया ?

(१९)

ये विलाप के वचन लगे ऋतुपति को ऐसे,
लगते हैं विष-बाण हृदय के भीतर जैसे।
समझाने के लिए रूप उसने प्रकटाया,
आतुर रति के निकट वहाँ वह तत्क्षण आया ॥

(२०)

रति ने, उसको देख, अश्रु की धार बहाई,
पीडा भी, उर पीट उरोजों को पहुँचाई।
निज-जन-सम्मुख दुःख बहुत ही बढ जाता है,
वह, कपाट से तोड, निकल बाहर आता है ॥

(२१)

बोली वह स भाँति, महा-शोकाकुल बानी,
हे वसन्त ! यह देख मित्र की बची निशानी।
रज में परिणत हुआ पडा वह दिखलाता है,
पवन इधर से उधर उसे अब बिखराता है !

(२२)

हे मन्मथ ! हे मदन ! आय अब दर्शन दीजै,
उत्सुक यह ऋतुराज, अनुग्रह इस पर कीजै।
नारी में नर-प्रेम सर्वदा चल रहता है,
किन्तु मित्र में अचल,—यही सब जग कहता है ॥

(२३)

चाप-रज्जु के लिए कमल के तन्तु मनोहर,
तथा शरों के लिए फूल अति कोमल देकर।
स सहचर ने विश्व सुरासुर-पूरित-सारा,
वशीभूत, सब भाँति, कर दिया नाथ ! तुम्हारा ॥

(२४)

गया सखा तव, दीप पवन से ज्यों जाता है,
बत्ती-सी मै रही, चित्त अति अकुलाता है।
पति-वध ही विधि ने न, किया मम वध भी उसने,
आश्रय-विटप-विहीन लता देखी है किसने ?

(२५)

निशा शशी के सङ्ग, दामिनी घन के जाती,
सङ्ग-गमन की रीति जड़ों में भी दिखलाती।
हे वसन्त ! अतएव कृपा करिए यह मुझ पर,
प्राणनाथ के पास भेजिए मुझे भस्म कर ॥

(२६)

पति-तनु की रज रुचिर कुचों से मैं लिपटाऊँ,
पल्लव-तल्प समान अनल की सेज बनाऊँ।
बहुधा मिला सहाय सुमन-शय्या में तेरा,
प्रस्तुत कर अब चिता; विनय तुझसे यह मेरा ॥

(२७)

फिर मलयानिल छोड जलाना मुझको सत्वर,
मेरे बिना मनोज नही रह सकता पल भर।
देना जल की हमै एक ही अञ्जलि सादर,
उसे करेंगे पान वहाँ हम दोनो मिल कर ॥

(२८)

महा मनोहर फूल आम की डालोवाले,
पल्लव जिनमें लगे मृदुल-तर लाले लाले।
पिण्ड-दान के समय यही रखना मुददायक;
करता है अति प्यार इन्हें मम नागर-नायक॥

(२९)

शुष्क-सरोवर-मध्य मीन मूर्छित मुरझानी,
होती है ज्यों मुदित पाय पावस का पानी।
मरण-हेतु उद्योगवती, त्यों मनसिज-नारी,
सुनकर प्रमुदित हुई व्योम-वाणी सुखकारी॥

(३०)

हे रति! सत्वर तुझे मिलेगा तव मनभाया,
कारण सुन जिस लिए ईश ने उसे जलाया।
उसने विधि का चित्त सुता-अनुरक्त बनाया,
शाप-बद्ध हो, अत, आज फल ऐसा पाया॥

(३१)

जब शिव सङ्ग विवाह करेंगी शैल-कुमारी,
तब अनङ्ग को अङ्ग-दान देंगे त्रिपुरारी।
ब्रह्मा ने, इस भाँति, शाप की अवधि कही है,
कोप अनन्तर कृपा—बड़ों की रीति यही है॥

(३२)

विशदवदनि! इसलिए बना रख यह वपु सुन्दर,
यथा-समय तनु पाय, मिलेगा तेरा प्रियवर।
आतप से जो नदी निर्जला हो जाती है,
पावस में वह नया नीर पुनरपि पाती है॥

(३३)

छिपे छिपे इस भाँति, किसी ने वचन सुनाया,
रति का मरण-विचार शिथिलता को पहुँचाया।
ऋतुनायक ने उसे विविध विध तब समझाया,
समयोचित कह कथा, युक्ति से दुःख घटाया॥

(३४)

तदनन्तर, यों, दुख-दलित वह मदन-वधू अति कृशित-शरीर,
करने लगी प्रतीक्षा पति की किसी भाँति धारण कर धीर।
ज्यों दिन में उत्पन्न शशि-कला छटा-क्षीण सुन्दरता-हीन,
सुखकर सायङ्काल प्रतीक्षा करती है तनु लिये मलीन ॥

इति चतुर्थ सर्ग

पञ्चम सर्ग*

(१)

सम्मुख ही, उस भाँति, शम्भु ने कामदेव का करके दाह,
कर दी विफल साथ ही उसके, निज विषयक गिरिजा की चाह।
अतः उमा ने रम्य-रूप को धिक्कारा बहु बार लजाय,
वही सुघरता सफल समझिए जो प्रियतम को सकै लुभाय ॥

(२)

जाय समाधि अखण्डित तप का अनुष्ठान करके भारी,
सफल उमा ने करना चाहा अपना रूप मनोहारी।
विना यह किये कैसे मिलतो दोनों वातें सुखकारी ?
वैसा प्रेम, और फिर, वैसा मृत्युञ्जय पति त्रिपुरारी ॥

(३)

मेना ने जब सुना कि मेरी कन्या शिव को चहती है;
और उन्हीं के लिए तपस्या, वन में, करने कहती है।
तब मुनियों के कठिन धर्म्म से करती हुई निवारण वह,
वड़े प्रेम से शैलसुता को गले लगा कर वोली यह ॥

(४)

मनमाने घर ही में सुर हैं सुते ! उन्हीं की सेवा कर,
कहाँ क्लेशकारी तप ? तेरा कहाँ कलेवर कोमल-तर ?
अति मृदु सिरस-फूल मधुकर का हलका पद सह सकता है,
पक्षी का पद सह सकने की शक्ति वह नहीं रखता है ॥

---

* तृतीय सर्ग के समान इस सर्ग की मूल कविता वहुत ही मनोहारिणी है। इसलिए, इस सर्ग का भी हमने पूरा अनुवाद किया है। —अनुवादक

(५)

माता ने इस भाँति, उमा से कहा सभी कुछ मनमाना,
किन्तु न रुकी तपस्या से वह, व्यर्थ हुआ सब समझाना।
मन का दृढ़ सङ्कल्प, और जल जो नीचे को गिरता है,
कोटि यत्न करने पर भी वह किसका फेरा फिरता है?

(६)

मनोऽभिलाष जाननेवाले गिरिवर से निज अभिलाषा,
एक बार आली के मुख से शैलसुता ने यों भाखा।
"फल मिलने तक, वन में मुझको, तप-निमित्त रहने दीजै,
यही आपसे मैं चहती हूँ, प्यारे पिता कृपा कीजै"॥

(७)

यह अपने अनुरूप प्रार्थना लगी पिता को अति प्यारी,
दिया निदेश उसी क्षण उसने, मन में मान तोष भारी।
जिस मयूर-मण्डित गिरि ऊपर गौरी तप के लिए गई,
उसको गौरी-शिखर नाम की पावन पदवी मिली नई॥

(८)

अपनी लोल-लरों से चन्दन-लेप मिटानेवाली माल,
दृढ़-निश्चय धारिणी उमा ने तृण समान तजकर तत्काल।
उच्च-कुचों की कठिनाई से फटा हुआ वल्कल अभिराम,
बाल-सूर्य-सम पीत-वर्ण का बाँधा निशिदिन आठों याम॥

(९)

कुञ्चित-कच-कलाप-युत उसके मुख पर थी जो मधुराई,
जटा-जूट रखने पर भी वह रही पूर्ववत ही छाई।
मधुपावली-संग जो शोभा पङ्कज-कलिका पाती है,
सघन-सिवार-सङ्ग में भी वह वैसी ही दिखलाती है॥

(१०)

क्षण क्षण में रोमाच-कारिणी मूँज-मेखला तिहराई,
व्रत-पालन के लिए उमा ने निज कटि को जो पहनाई।
पहले पहल पहनने से वह हुई बहुत ही दुखदायी,
उसके अति-सुकुमार जघन पर कर दी उसने अरुणाई॥

(११)

अधरों के रँगने में अपना अतिशय-कोमल कर न लगाय,
कुच-गत-अङ्गराग से अरुणित कन्दुक मे भी उसे हटाय।
कुश के अंकुर तोड़ तोड़ कर घाव उँगलियों मे उपजाय,
किया अक्षमाला का साथी उसे उमा ने वन में आय॥

(१२)

मूल्यवान शय्या के ऊपर निज केशों से कोमल फूल
गिर कर, जिसको चुभते से थे, होते थे पीडा का मूल।
वही बिछौने बिन वेदी पर तकिया अपनी बाँह बनाय,
सोई और वही बैठी भी तप-साधन में ध्यान लगाय॥

(१३)

व्रत-पालन मे तत्पर उसने "फिर ले लूँगी"—यह मन ठान,
ये दोनों ही इन दोनों को दिये धरोहर-वस्तु समान।
ललित-लताओं को पहले के अपने सब शृङ्गारिक-भाव,
हरिण-नारियों को नयनों की चञ्चलता का सहज स्वभाव॥

(१४)

आश्रम के अनेक पौधों को, आलसता तज, क्लेश उठाय,
बड़ा किया उसने घटरूपी-स्तन का पय स्वयमेव पिलाय।
प्रथम जन्म पाने के कारण जिनका सुत-वात्सल्य विशेष,
पुत्र-शिरोमणि कार्तिकेय भी नहीं कर सकेंगे नि शेष॥

(१५)

नित्य अञ्जली भर,भर पाकर वन के विमल अन्न का दान,
हरिण-यूथ हिल, हुए यहाँ तक गिरिजा में विश्वास-निधान।
कि निज सखी-जन के सम्मुख ही उसने कौतूहल में आय,
उनके अति चञ्चल नयनों मे नापे अपने नयन मिलाय॥

(१६)

शुचि-स्नान कर, डाल गले में वर वल्कल शोभाशाली,
हव्य हुताशन को पहुँचाकर, नित्य पाठ करनेवाली।
उस तापसी उमा का दर्शन करने आये मुनि ज्ञानी,
धर्म्म-वृद्ध में वय की लघुता कही नहीं जाती मानी॥

(१७)

जन्म-विरोधी जीवो ने भी वैर परस्पर त्याग दिया,
फल-फूलो से अतिथि-जनो का तरुओ ने सत्कार किया।
नवल पर्णशालाओ में अति अमल अग्नि रहने लागी,
हुआ महापावन वह माग तपवाला वन वडभागी ॥

(१८)

इतना तप करने पर उसने जी मे जब यह अनुमाना,
कि फल मुझे इतने से अब भी नही मिलैगा मनमाना।
देह-मृदुलता की अनपेक्षा करके तब वह सुकुमारी,
करने लगी उसी क्षण से ही तपो-विधान महा भारी ॥

(१९)

घर पर, गेंद खेलने से भी जिसे थकावट हुई विशे ,
उसी उमा ने मुनीश्वरो के दुर्गम पथ में किया प्रवेश।
कचन के कमलो से निर्म्मित था अवश्य गिरिजा का गात,
मृदुता और कठिनता दोनो जिनकी स्वाभाविक विख्यात ॥

(२०)

उस सुहासिनी सिंहकटी ने, ग्रीष्म-काल में, पावक चार,
अपने चारो ओर जलाकर, मध्य-भाग मे आसन मार।
करके विजय नेत्र-सहारक किरणो की ज्वाला का जाल,
कटक सूर्य्य-बिम्ब को देखा ऊँचा किये हुए निज भाल ॥

(२१)

दिनकर की मरीचि-माला से महा तप्त हो, उक्त प्रकार,
उसके मुख-मण्डल ने पाया सरसिज की शोभा का सार।
अति विशाल दोनो नयनो के केवल कोनों ही के पास,
श्यामलता ने, धीरे धीरे आकर, अपना किया निवास ॥

(२२)

विना याचना के जो कोई स्वय सलिल ले आता था,
सरस शशी का किरण-जाल जो यथा-समय मिल जाता था।
उसे छोडकर शैलसुता ने और न कुछ मुख में डाला,
वृक्षो के समान आकाशी-वृत्ति-व्रत उसने पाला ॥

(२३)

रवि-रूपी आकाश-निवासी, महिवासी इन्धनवाला,
इन दोनों अनलो से उसने अपना तन तपाय डाला।
वर्षा-ऋतु में पहला पानी बरसा जब उसके ऊपर,
तब उसने साथ ही मही के छोड़ी उष्ण भाफ खर-तर॥

(२४)

प्रथम-वृष्टि के बूँद उमा की बरोनियों पर कुछ ठहरे,
फिर, पीडित कर अधर, कुचों पर चूर चूर होकर बिखरे।
तदनन्तर, सुन्दर त्रिवली का क्रम क्रम से उल्लङ्घन कर,
बडी देर में पहुँच सके वे उसकी रुचिर नाभि भीतर॥

(२५)

वायु-वेग के साथ, निरन्तर, हुई वृष्टि जब महा अपार,
तब भी शैल-शिला-ऊपर वह पडी रही छोडे घर-द्वार।
ऐसे तप की सत्य-साक्षिणी नील-निशाओं ने, बहु बार,
उसे, उस समय, मानों देखा चपला-रूपी-चक्षु उघार॥

(२६)

साथ छूट जाने के कारण करुणामय विलापकारी,
चक्रवाक जोडे को करती हुई कृपा का अधिकारी।
जिनमें पवन-सङ्ग पडता था दुख-दायक पाला भारी,
ऐसी पूस-निशायें उसने पानी में काटी सारी॥

(२७)

तुहिन-वृष्टि होने से सरसिज जिस सर के थे गये सुखाय,
उसमें, उस गिरिराजसुता ने रात रात भर खडे बिताय॥
कम्पित-अधर-पत्र से शोभित अपना मुख-सरोज बिकसाय,
पुनरपि किया प्रफुल्लित मानो नये नीरजो का समुदाय॥

(२८)

वृक्षो से जो पीली पत्ती गिर कर नीचे आती है,
उसकी वृत्ति तपश्चर्य्या की सीमा समझी जाती है।
इस प्रकार के जीर्ण पर्ण को भी न पार्वती ने खाया,
इससे उसने नाम 'अपर्णा' इतिहासज्ञो से पाया॥

(२९)

ऐसी कठिन तपस्या से निज कमल-नाल-सम कोमल गात,
अस्थि-शेष होने तक क्रम क्रम करती हुई कृशित दिन रात।
मुनियों के कठोर अंगों से सञ्चित तप को वारम्वार,
मात किया शैलेश-सुता ने अपने तप से भले प्रकार॥

(३०)

लिए मंजु मृग-चर्म्म, और, शुचि किंशुक-दण्ड मनोहारी,
जलता-सा वर ब्रह्म तेज से, बातों में प्रगल्भ भारी।
पावन-ब्रह्मचर्य्य-आश्रम की दिव्य-देह का अनुकारी,
एक बार गिरिजा के वन में आया एक जटाधारी॥

(३१)

भक्ति-भाव-युत शैल-सुता ने पूजा का लेकर सामान,
निज आश्रम से आगे बढ़ कर किया जाय उसका सम्मान।
सब प्रकार से सम होकर भी महा-महिम-जन धर्म्म-निधान,
किसी किसी का, बड़े प्रेम से, करते हैं सत्कार महान॥

(३२)

विधिवत किये गये आदर का हर्ष-सहित करके स्वीकार,
क्षण भर बैठ और कर पथ के श्रम-समूह का भी परिहार।
कुटिल-कटाक्ष-हीन नयनों से शैलनन्दिनी ओर निहार,
किया यथाक्रम उसने अपने मधुमय वचनों का विस्तार॥

(३३)

क्या कुश, समिधादिक सब तुझको यहाँ सुलभ दिखलाता है ?
स्नान-योग्य क्या निर्मल जल भी इस वन में मिल जाता है ?
बल-बाहर तो नहीं तपस्या करती है हे सुकुमारी ?
क्योंकि, देह यह सब धर्म्मों के साधन में सहायकारी॥

(३४)

लाक्षा-रस यद्यपि बहु दिन से पाया नहीं तदपि लाले,
न तेरे अधरों की समता भली भाँति करनेवाले।
तुझसे सींची गई लताओं के नव-पल्लव अरुणारे,
क्या अपनी अपनी डालों में क्षेम-कुशल-युत हैं सारे ?

(३५)

हे नवीन-नीरज-दललोचनि ! निज चञ्चल-लोचन दिखलाय,
तव विलोचनों की समता सी करनेवाले मृग-समुदाय ।
प्रेम-सहित कर-कमलों से कुश छीन छीन कर बारम्बार,
उपजाते तो नहीं चित्त में तेरे कोई कोप-विकार ?

(३६)

"रूपवान जन पाप-वृत्ति के नहीं पास भी जाता है—"
इस प्रकार का कथन सर्वथा सत्य मुझे दिखलाता है ।
तेरा शील विलोकन करके हे उदार-दर्शनवाली !
मिलता है उपदेश उन्हें भी जो अति अद्भुत तपशाली ॥

(३७)

प्रात सप्त ऋषियों के फेंके फूलों को हँसनेवाले,
अमर-लोक से आये सुरसरि-सलिलों से हे गिरिबाले !
हिम-मण्डित यह शैल हिमालय पावन हुआ नहीं उतना,
तेरे महा अमल-चरितों से अपने वंश-सहित जितना ॥

(३८)

हे अति-विशद-मनोरथवाली ! इस त्रिवर्ग में सबका सार
एक धर्म्म ही है—यह मेरे मन में आता है सुविचार ।
क्योंकि, काम के और अर्थ के चिन्तन से वासना हटाय,
केवल धर्म्म-मार्ग का सेवन करती है तू चित्त लगाय ॥

(३९)

तूने आज किया है मेरा हे गिरिजे ! विशेष सम्मान,
अतः मुझे परकीय तुल्य तू अब मत अपने मन में मान ।
विद्वानों का कथन है कि जो हो जावें दस बातें सात,
सुजनों की मित्रता, विश्व में, तो उतने ही से विख्यात ॥

(४०)

मैं द्विज हूँ; इससे मुझमें है स्वाभाविक चञ्चलताई,
अत पूछना चहता हूँ मैं एक बात जो मन आई ।
क्षमावती ! हे तपस्विनी ! यह मम धृष्टता क्षमा कीजै,
बतलाने के योग्य होय जो तो मुझको बतला दीजै ॥

(४१)

निज-उत्पत्ति हिरण्यगर्भ के कुल में तूने पाई है,
त्रिभुवन की सुन्दरता मानों तन में आय समाई है।
यह अतुलित ऐश्वर्य और यह मनोमोहिनी तरुणाई,
तेरा तप होवेगा इसमे अधिक और क्या फलदाई ?

(४२)

किसी महादु सह अनिष्ट से पीड़ित यदि हो जाती है,
मानवती महिलाये ऐसे तप में चित्त लगाती हैं।
किन्तु विचार-मार्ग में अपना मन जब मै दौड़ाता हूँ,
हे कृशोदरी! तुझमें कोई वैसी बात न पाता हूँ॥

(४३)

हे सुन्दरि! यह मधुर मूर्ति तव अपमानादिक योग्य नहीं,
पिता-भवन मे मान-हानि भी हो सकती है भला कहीं ?
यह भी सम्भव नहीं कि तुझको कोई कभी सतावैगा,
भीम-भुजङ्ग-शीश की मणि पर निज कर कौन चलावैगा ?

(४४)

वल्कल सदा बुढापे ही में शोभा को पानेवाला,
आभूषण तज नूतन वय मे क्यो तूने तन पर डाला ?
शशी और तारो से शोभित सायङ्काल निशा-नारी,
रवि-सारथी पास जाने की करती है क्या तैयारी ?

(४५)

देव-लोक चहती है, तो यह निष्फल श्रम-लीला सारी,
तेरा पिता हिमालय ही है देव-भूमि का अधिकारी।
पति पाने की यदि इच्छा है, तो समाप्त कर तप भारी,
ग्राहक नहीं, रत्न ही ढूँडा जाता है हे सुकुमारी!

(४६)

उष्ण साँस लेकर पिछला ही कारण तू बतलाती है,
किन्तु बुद्धि मम संशय में फँस फिर भी चक्कर खाती है।
तव प्रार्थना-योग्य इस विस्तृत विश्व में न है कोई वर,
करने पर प्रार्थना भला फिर नहीं मिलैगा वह क्योंकर ?

(४७)

बिना कमल-कुण्डल क ोल तव सूने-से दिखलाते हैं,
उन पर जो ये लम्बे लम्बे जटा-जाल लहराते है।
इनको तुच्छ समझता है जो युवा स्नेह-भाजन तेरा,
वह अवश्य ही वज्र-हृदय है—यही अटल निश्चय मेरा॥

(४८)

मुनियो के कठोर नियमो से अतिशय कृश होनेवाली,
देह दिवाकर की किरणो से किये हुए काली काली।
दिन में उदित चन्द्र-लेखा-सम गिरिजे! तुझे विलोकन कर,
किस सजीव का हृदय दु:ख से हाय! नही होता जर्जर?

(४९)

कुटिल और काली वरोनियो से जो शोभा पाते है,
अवलोकन के समय चपलता करते जो सकुचाते है।
ऐसे न नयनो के सम्मुख हुआ नही तेरा प्यारा!
निश्चय निज-सौन्दर्य्य-गर्व से ठगा गया वह वेचारा!

(५०)

हे शैलेशनन्दिनी! कब तक किया करेगी श्रम ऐसा?
ब्रह्मचर्य्य-आश्रम का है गा मेरा भी तप थोडा सा।
उसके अर्द्धभाग से अपनी मनोकामना पूरी कर,
किन्तु मुझे बतला तो किसको करना चहती है तू वर॥

(५१)

उस द्विज ने आश्रम के भीतर आकर इस प्रकार भाखा,
गिरितनया परन्तु लज्जा-वश कह न सकी निज अभिलाषा।
अपने कज्जल-हीन विलोचन उसने केवल ऊँचे कर,
वही पासवाली आली को अवलोका उस अवसर पर॥

(५२)

वोली सखी शैलतनया की हे द्विज ब्रह्मचर्य्य-धारी!
यदि सुनना चहता है, सुन तू इसकी कर्म्म-कथा सारी।
धूप न लगै इसलिए कोई कमल-पत्र तानै जैसे,
कहती हूँ क्यो तप का साधक इसने गात किया तैसे॥

(५३)

वरुण, कुवेर और सुरनायक, धर्म्मराज प्रभुताशाली,
कुछ न समझ इन दिक्पालो को यह मन मानवती आली।
काम-नाश करने के कारण जिन्हे न मोहे सुघराई,
ऐसे शिव को किया चाहती है अपना पति सुखदायी ।।

(५४)

अति दुर्धर्ष त्रिलोचन तक जो नही पहुँच पाये उस काल,
उनके हूँ करते ही पीछे फिरना पडा जिन्हे तत्काल ।
मूर्ति-हीन भी मकरध्वज के वे ही महा विलक्षण वाण,
वडे वेग से इसके उर में प्रविशे देकर दुख महान ।।

(५५)

तव से यह निज पिता-सदन में व्यथा काम की सहती थी,
अलको को ललाट चन्दन से मले हुए ही रहती थी।
विमल-वर्फ की भी अति शीतल सुखद शिलाओ के ऊपर,
सच कहती हूँ, इस वाला का चैन न पडती थी क्षण भर ।।

(५६)

किन्नर-कन्याओ को लेकर शम्भु-चरित जब गाती थी,
तव यह आँखों से आँसू की अविरल धार वहाती थी।
अनमिल स्वर गद्गद वाणी से दुख विशेष वढाती थी,
गान-समय की सखियो को भी, अपने साथ रुलाती थी ।।

(५७)

तीन पहर निशि गत होने पर यदि कुछ निद्रा आती थी,
तो, फिर, इसकी आँख तनिक में अकस्मात खुल जाती थी।
मन ही मन श्रीकण्ठ-कण्ठ में वाँह डाल, सुख पाती थी,
"हे हर! कहाँ चले ?" यह कह कर, चौंक चौंक अकुलाती थी ।।

(५८)

"वडे वडे विद्वज्जन तुमको कहते है अन्तर्यामी,
फिर, क्यो नही जान लेते हो मेरा मनोऽभीष्ट स्वामी" ?
अपने ही कर से शङ्कर का चित्र वनाय हृदयहारी,
उनका उपालम्भ करती थी, सी भाँति, यह सुकुमारी ।।

(५९)

उनके मिलने की जब इसको मिली न और युक्ति कोई,
ढूँढ ढूँढ कर हार गई यह, वहुत अवधि इसने खोई।
पाय पिता की अनुमति तव, तज माता तथा सगा भाई,
हम सवको ले, यह तप करने यहाँ तपोवन में आई॥

(६०)

तप के साक्षी तरुवर सने जितने यहाँ लगाये हैं,
उन सवमें, इस समय, देखिए फूल और फल छाये हैं।
किन्तु चन्द्रशेखर-सम्वन्धी इसकी अभिलाषा सुखकर,
अकुर-युत भी नही हुई है, सच कहती हूँ हे द्विजवर!

(६१)

तप से अतिशय कृश यह इसकी देह न देखी जाती है,
सखियो के नयनो से जल की धारा वह वह आती है।
जुती हुई जलती धरती पर सुरपति-सम, वे दुर्लभ हर,
नही जानती कव होवेंगे दयावान सके ऊपर॥

(६२)

शैल-किशोरी का मन पाकर कुछ न सखी ने किया दुराव,
उस साधू को साफ साफ यो सुना दिया सारा सद्भाव।
सुन उसने पूछा गिरिजा से, विना किये ही हर्ष-प्रकाश,
क्या यह सच कहती है, अथवा करती है मुझसे परिहास?

(६३)

इस प्रकार का प्रश्न श्रवण कर वह तापसी शैल-बाला,
पाणि-सरोरुह की मुट्ठी में धारण किये स्फटिक-माला।
"क्या उत्तर दूँ?" यही देर तक रही सोचती मन ही मन,
किसी भाँति सङ्कोच त्याग कर, वोली, फिर, ये अल्प वचन॥

(६४)

हे वेदज्ञ शिरोमणि! इसने सत्य वात वतलाई है,
दुर्लभ-पद पाने की इच्छा मेरे मन में आई है।
इसी लिए, इस तप-साधन में मैंने चित्त लगाया है,
मनोरथों की सीमा का अन्त किसी ने पाया है?

(६५)

बोला चतुर ब्रह्मचारी तब, हाँ मुझको है विदित महेश,
फिर भी तू उनके पाने की इच्छा रखती है सविशेष।
किन्तु, कदापि नही दे सकता तुझको निज अनुमोदन-दान,
क्योंकि, जानता हूँ मैं उनको महा-अमङ्गल-मूल-निधान ॥

(६६)

तुच्छ वस्तु की अभिलाषा में तुझको रत मै पाता हूँ,
तेरी रुचि-विचित्रता को मैं सोच सोच पछताता हूँ।
क्योकर पहले ही, तेरा कर कङ्कण से शोभित होकर,
सहन कर सकेगा सर्पों से लिपटा हुआ शम्भु का कर?

(६७)

कहाँ वधू का वस्त्र मनोहर अति विचित्र पीला पीला?
कहाँ रुधिर टपके है जिससे वह गजराज चर्म्म गीला?
तू ही समझ देख निज मन में कि यह बात क्या कहता है;
न दोनो का साथ सुन्दरी! कभी उचित हो सकता है?

(६८)

अम्बुज बिछे हुए आँगन में जो पद सदा पधारे है;
वही जिन्होने मजु महावर से स्वचिह्न विस्तारे है।
बिखरे केश मसान भूमि में वे ही आवें जावेंगे,
मैं क्या इसे शत्रु भी तेरे कभी न युक्त बतावेंगे!

(६९)

भूतनाथ का यदि आलिङ्गन तुझे मिला भी सुकुमारी!
तू ही बता और क्या होगा इससे अधिक हानिकारी?
हरिचन्दन के योग्य कुचों को तू अति मलिन बनावेगी,
क्योंकि, चिता की भस्म निरन्तर उनमें लग लग जावेगी ॥

(७०)

हे गिरिजे! उत्तम गजेन्द्र के ऊपर होने योग्य सवार!
शुभ विवाह के पीछे तुम्हारा वृद्ध बैल पर चढ़ा [illegible]।
जोहेंगी प्रशस्त पुरजो के [illegible] मे मन्द मन्द मुस्कान,
देख आदि[illegible] मे [illegible] [illegible] [illegible] ॥

(७१)

उस भुजङ्ग-भूषण से सङ्गति होने का कर विनय विधान,
शोचनीय गति को पहुँची हैं ये दोनों ही, साँची जान।
एक चन्द्रमा की चटकीली कला मनोहरता की खान,
विश्व-विलोचन-मोद-दायिनी दूजी तू सौन्दर्य-निधान॥

(७२)

तन कुरूप, दृग तीन विलक्षण, तथा जन्म का भी न ठिकान,
देह-दिगम्बरता से धन का होता है पूरा अनुमान।
मृगनयनी! वर में जितने गुण देखे जाते हैं सविशेष,
उनमें से त्रिनयन में सचमुच नहीं एक का भी लव-लेश॥

(७३)

यह अनुचित अभिलाषा मन से बाहर कर हे सुकुमारी!
सुभग मूर्ति सुन्दरी कहाँ तू? कहाँ अमङ्गल त्रिपुरारी?
यज्ञ-यूप* की वैदिक विधि से जो पूजा की जाती है,
वध-सूचक मसान की सूली उसे कभी क्या पाती है?

(७४)

उस द्विज ने इस भाँति दिया जब उलटा अभिप्राय सारा,
कोप प्रकाशित किया उमा ने कम्पित अधरों के द्वारा॥
खींच भाल के ऊपर भौंहें अति विशाल काली काली,
उसने टेढ़ी की निज आँखें कोनों में लाली लाली॥

(७५)

कहने लगी कि तू शङ्कर को नहीं भली विधि जानै है,
इसी लिए ही उनको मुझसे तू इस भाँति बखानै है।
सत्पुरुषों के चरित अलौकिक मूर्ख बुरा बतलाते हैं,
क्योंकि चरित्र-हेतु ही उनको नहीं समझ में आते हैं॥

(७६)

विपति-नाश अथवा सम्पति का सुख जो सदा मनाते हैं,
वे ही मङ्गल-मयी वस्तु के सेवक देखे जाते हैं।
जिनकी शरण विश्व, बुध जिनको निरभिलाष बतलाते हैं,
आशा से दूषित पदार्थ ये उनको नहीं लुभाते हैं॥

---

*यूप=पशु बाँधने का खम्भ।

(७७)

यदपि निर्धनी, तदपि सभी धन जन्म उन्हीं से पाते हैं,
लोकनाथ होकर मसान में वे नित रहने जाते हैं।
भीम-भेष धारण करके भी शिव सदैव कहलाते हैं,
शशि-शेखर के पूरे ज्ञाता त्रिभुवन में न दिखाते हैं॥

(७८)

आभूषण से भूषित; अथवा, भय-दायक-भुजङ्ग-धारी,
गज का चर्म लिये हैं; अथवा, मृदुल दुकूल मनोहारी।
ब्रह्मा-कपाल युक्त हैं; अथवा, चन्द्रचूड हैं भगवाना,
विश्वमूर्ति उस विश्वेश्वर का मर्म नहीं जाता जाना॥

(७९)

उस जगदीश्वर के शरीर से वह ज्यों ही छू जाती है,
त्यों ही रज अपवित्र चिता की अति पवित्र हो जाती है।
नृत्य-समय, गिर कर उसके कण, भूतल पर जो आते हैं,
दिव्य देवता उन्हें, भाल पर, सादर सदा लगाते हैं॥

(८०)

जो सुरपति प्रमत्त दिग्गज के ऊपर आता-जाता है,
धन-विहीन उस वृष-वाहन को वह भी शीश नवाता है।
उसके चरण-सरोरुह पर वह अपना मुकुट झुकाता है,
मृदु-मन्दार-पराग-पुञ्ज से उँगली अरुण बनाता है॥

(८१)

व्यर्थ दोष कहने की इच्छा तुझमें यदपि समाई है,
एक बात शङ्कर-सम्बन्धी तूने सत्य सुनाई है।
ब्रह्मा का भी कारण जिनको बतलाते हैं विज्ञानी,
कैसे जान सकेगा उनका उद्भव तू हे अज्ञानी?

(८२)

तूने जैसा उन्हें सुना है वैसा होने दे निःशेष,
करना नहीं चाहती हूँ मैं तुझसे वाद-विवाद विशेष।
मैं उनमें अनुरक्त एक ही सरस-भाव से भले प्रकार,
स्वेच्छाचारी-जन कलङ्क का करते नहीं कदापि विचार॥

(८३)

सखी! रोक यह फिर कहने की उत्सुकता दिखलाता है,
देख अधर अपना ऊपर का वार वार फरकाता है।
सत्पुरुषों का निन्दक-जन ही पातक नही कमाता है,
निन्दा का सुननेवाला भी अघ-भागी हो जाता है॥

(८४)

यह कह कर कि यहाँ से मै ही उठ जाऊँगी, वह बाला
उठी सवेग कुचों से खिसका पावन पट वल्कलवाला।
अपना रूप प्रकट करके, तब, परमानन्दित हो, हँस कर,
पकड लिया निज कर से उसको शङ्कर ने उस अवसर पर॥

(८५)

उनको देख, कम्पयुत धारण किये स्वेद के बूँद अनेक,
चलने के निमित्त ऊपर ही लिये हुए अपना पद एक।
शैल मार्ग में आ जाने से आकुल सरिता-तुल्य नितान्त
पर्वत-सुता न चली, न ठहरी, हुई चित्र खीची-सी भ्रान्त॥

(८६)

"हे नत-गात्रि! आज इस दिन से मुझको अपना सेवक मान;
"मोल ले लिया तूने तप से" यों जब बोले शम्भु सुजान॥
तत्क्षण हुआ शैल-तनया के प्रबल परिश्रम का परिहार;
क्लेश समूल भूल जाता है फल मिलने पर मनोऽनुसार॥

(८७)

रायबरेली के अन्तर्गत सुरसरि-तट दौलतपुर ग्राम,
श्रीहनुमन्त-तनय जिसमें थे रामसहाय द्विवेदी नाम।
उनके एकमात्र सुत मैंने यह कुमारसम्भव का सार,
अब के कवियो को प्रणाम कर किया यथामति किसी प्रकार॥

॥ इति ॥

फुटकर रचनायें

सूचना

इस खण्ड में 'आचार्य द्विवेदी की वे सब कवितायें संग्रह की गई हैं जो 'सरस्वती' में समय समय पर छपी हैं। कविताओं के नीचे महीना और साल का निर्देश कर दिया गया है।

फुटकर रचनायें

१—कोकिल

(१)

कोकिल अति सुन्दर चिडिया है,
सच कहते है अति वडिया है।
जिस रङ्गत के कुँवर कन्हाई,
उसने भी वह रङ्गत पाई ॥

(२)

अथवा जामुन का रँग जैसे,
इसका भी होता है तैसे।
ज्यो ही चैत मास लगता है,
जाडा अपने घर भगता है ॥

(३)

त्यो ही यह अति मीठी वानी,
नित्य बोलती है रससानी।
आम-मौर सको अति प्यारा,
सत्य सत्य यह वचन हमारा ॥

(४)

मौरो के सुगन्ध की माती,
कुहू कुहू यह सब दिन गाती।
मन प्रसन्न होता है सुनकर,
इसके मीठे बोल मनोहर ॥

(५)

सम्मुख आमवृक्ष के ऊपर,
देखो वह आती है उडकर।
बोलो मत; उँगली न उठाओ,
आओ वही चलें सब, आओ ॥

(३)

कमलिनी दिन माहिं नई नई,
कुमुदिनी निशि में नव तें छई ।
जल सुगन्धित तालन को भयो,
रहि कहूँ न मलीनपनो गयो ।।

(४)

जहँ लखो तहँ पेड़न पै चहूँ,
सुमन लाल कहूँ, पियरे कहूँ ।
खिलि रहे सुषमा सरसावही,
महक मोहक मन्जु उडावही ।।

(५)

अरुण रंग मनोहर तें रँगे,
कुसुम लाल पलाशन में लगे ।
लखि जिन्हें मन में यह आवई,
कह इन्हें वन-आगि जरावई ? ।।

(६)

ऋतु वसन्तहिं पात सडे गले,
जिन दये उन पेडन पै भले ।
नवल पल्लव सुन्दर सोहही;
सव मनुष्यन के मन मोहही ।।

(७)

हम तुम्हे यह सत्य सुनावही,
सुनहु, वालक ! दान वृथा नही ।
जिन पुरातन दीन्ह तिन्हें नयो,
लखहु, पेड़नहू मिलि ही गयो ।।

अक्टूबर, १९०१

२—ईश्वर की महिमा

(१)

हे हे महाप्रभु ! महा महिमा तुम्हारी,
जिह्वा नही कह सुना सकती हमारी ।
सौ वर्ष भी यदि सदा तव कीर्ति गावै,
तो भी कभी न उसके वह पार जावै ॥

(२)

पृथ्वी, समुद्र, सर, पेड, पहाड, सारे,
हैं सत्य सत्य जगदीश ! दिये तुम्हारे ।
हे नाथ ! आप यदि सूर्य हमे न देते,
पक्षी, मनुष्य, पशु, जीव न एक जीते ॥

(३)

जो ये अनेक फल हैं हमको दिखाते,
खाने नही हम कभी जिनको अघाते ।
जो फूल नेत्र सुखदायक ये खिले हैं,
सो भी सभी तव कृपा-कण से मिले है ॥

(४)

देते न जो तुम हमें अनमोल आँख,
पाते उन्हे न करते यदि यत्न लाख ।
हे दीनबन्धु ! गुणसिन्धु ! पवित्रनाम
हे नाथ ! हे अति कृपालु ! तुम्हे प्रणाम ॥

(५)

जो जो छिपाय हम काम बुरे करे हैं,
जानैं न और, इससे मन में डरै है ।
सो सो सदा तुम उसी क्षण जान लेते,
तत्काल दण्ड हमको जगदीश ! देते ॥

(६)

जो झूठ बात हम, हे प्रभु ! बोलते है,
अच्छे-बुरे विषय में मुँह खोलते है ।

सो भी कभी न तुमसे छिपती छिपाये,
होते अनेक हमसे अपराध आये ॥

(७)

है हे दयालु ! हम हाथ जोड़ते हैं,
सारी कुचाल सबसे हम छोड़ते हैं ।
जो भूल-चूक परमेश्वर ! हो हमारी,
कीजे क्षमा, शरण में हम हैं तुम्हारी ॥

दिसम्बर, १९०१

४—भारत की परमेश्वर से प्रार्थना

(१)

हे दीनपालक ! दयामय ! दुःखहारी !
हे हे महा-महिम ! मङ्गल-मूल-कारी !
हे प्रेम-मूर्ति ! परमेश्वर नाम-धारी !
थोड़ी विनीत विनती सुनिए हमारी ॥

(२)

आलस्य, मोह, मद, मत्सर में हमारे,
जा ये मनुष्य सब डूब गये विचारे ।
सो तो गये, न उनका अब आसरा है,
हे नाथ ! हाल उनका अति ही बुरा है ॥

(३)

जो ये, परन्तु, सब बालक हैं दिखाते,
माता, पिता, गुरु जिन्हें श्रम से सिखाते ।
सन्मार्ग में तुम सदा उनको चलावो,
ए हो दयामय ! दया इतनी दिखावो ॥

(४)

हो बात सत्य इनको सब काल प्यारी,
हे दीनबन्धु ! अभिलाष यही हमारी ।

बोलें न झूठ, उससे अति दूर भागें,
राखें सु-संग, खल संगति में न लागें ॥

(५)

आलस्य, फूट, मदिरा, मद दोष सारे,
छाये यहाँ सब कहीं टरते न टारे ।
हे भक्तवत्सल ! न्हें उनसे बचावो,
हस्तारविन्द उनके सिर पै लगावो ॥

(६)

जो ये कुरीति-समुदाय नये, पुराने,
नाना प्रकार, बहुधा सबमें समाने ।
हे सत्यसिन्धु ! उनमें इनको उबारो,
है हानि, हाय, कितनी ! तुमही विचारो ॥

(७)

उद्योग और श्रम, शिल्प कला सिखावो,
व्यापार में मन सदा इनका लगावो ।
विद्या, विवेक, धन-धान्य, सभी बढ़ावो,
आरोग्य और बलवान न्हें बनावो ॥

(८)

देखो यहाँ सकल बालक ये खड़े हैं,
छोटे अनेक, दस-पाँच कहीं बड़े हैं ।
हे हे दयालु; इनका कर थाम लीजै,
कीजै कृपा, अब न्हें मत छोड़ दीजै ॥

(९)

है एक और विनती तुमसे हमारी,
सो भी करो सफल हे प्रभु पापहारी ।
ये सातवें नृप नये यडवर्ड देव,
रानी-समेत चिरजीव रहैं सदैव ॥

फरवरी सन् १९०२

५—'सरस्वती' की विनय

(१)

विश्वाधार ! विशाल-विश्व-बाधा-संहारक !
प्रेममूर्ति ! परमेश ! अवल-अवला-हितकारक !
सरस्वती बालिका विनय करती है; सुनिए,
सकल-मंगलागार ! अमंगल सारे हनिए ॥

(२)

अब तक निज कर्तव्य किये जो मैंने प्रभुवर !
वर-विषयों से यथाशक्ति भूषित हो हो कर ।
उसके लिए सहर्ष शीश निज नीचा करके,
भक्ति-भाव-संयुक्त रातल-ऊपर धरके ॥

(३)

न्यवाद शत बार देव ! देती हूँ लीजै,
कृपा-कोर मम ओर अहर्निश हे प्रभु ! कीजै ।
बिना तुम्हारी कृपा न कुछ भी हो सकता है,
महा तुच्छ भी कार्य न कोई कर सकता है ॥

(४)

मेरे वाचक-वृन्द, तथा ग्राहक विज्ञाता,
विवि भाँति उत्साह और लेखों के दाता ।
सम्पादक जो हुए आज तक मेरे बुध-वर,
सुखी रहें सब काल विनय यह है हे ईश्वर !

(५)

अपनी दशा दुरन्त नाथ ! तुमसे कहती हूँ,
जब से हुई सदैव दुःख सहती रहती हूँ ।
प्रतिदिन किया प्रयत्न यदपि मैंने बहुतेरा,
गया न दिवस परन्तु एक भी सुख से मेरा ॥

(६)

यद्यपि वेश सदैव मनोमोहक धरती हूँ,
वचनों की बहु भाँति रुचिर रचना करती हूँ।
उदर-हेत मैं अन्न नही तिस पर पाती हूँ,
हाय ! हाय ! आजन्म दुःख सहती आती हूँ ॥

(७)

पडता कही अकाल वर्ष भर जो जगदीश्वर !
कितना दारुण दुःख लोग पाते हैं भू-पर।
तीन वर्ग से कष्ट उसी विध मैं सहती हूँ,
शपथ तुम्हारी नाथ ! सत्य यह मैं कहती हूँ ॥

(८)

हिन्दी जिनकी मधुर मातृ-भाषा मुददायी,
ऐसी यहाँ अनन्त लोक-सख्या है छाई।
निराहार यदि मुझे नाथ ! तुम तिस पर पावौ,
अति लज्जा की बात, या नही, तुम्ही बतावौ ॥

(९)

अहो ! देव अतएव विनय मम मन में लावौ,
जन-समूह उर-बीच प्रीति मेरी प्रकटावौ।
जिसमे कुछ तो प्रेम मातृभाषा पर जागै,
अबला-बध-उत्पन्न पाप भी इन्हें न लागै ॥

(१०)

जो इनमें जगदीश ! न तुम करुणा उपजैहौ,
इस वत्सर के अन्त मुझे नहि जीवित पैहौ।
तब मेरे गुण-दोष चित्त मे ये लावैंगे,
सम्भव है उस समय कदाचित पछतावैंगे ॥

(११)

उन्नतिउन्नति उच्च सदा जो चिल्लाते हैं,
मुझमें विवि प्रकार न्यूनता बतलाते हैं।
उनसे विनय विनीत यही मेरा, मन लावें,
"भूखे भक्ति" विशे वही करके दिखलावें ॥

(१२)

इतना ही वक्तव्य आज मेरा है स्वामी !
बार बार कर जोड़ भक्ति-युत तुम्हें नमामी।
करुणासिन्धु ! कृपालु ! सुजन-भय-भंजनहारी,
'सरस्वती' सब भाँति दयामय ! शरण तुम्हारी ॥

फरवरी-मार्च, १९०३

६—जन्मभूमि

(१)

देखी वस्तु विश्व की सारी,
जन्मभूमि सम एक न न्यारी ॥
हे "सरस्वती' के हितकारी !
सुनिए, सुनिए बात हमारी ॥

(२)

जहाँ बालपन सकल बिताया,
जहाँ खेल खेला मनभाया।
जहाँ रहें भगिनी, प्रिय भ्राता,
पिता और सुत-वत्सल माता ॥

(३)

ऐसा कौन निपट अज्ञानी,
महामूढ़, जड़, पामर प्राणी।
जो शठ उसे भूल जावैगा,
बन कृतघ्न, मुख दिखलावैगा ॥

(४)

पशु, पक्षी जो जीवन-धारी,
जन्मभूमि उनको भी प्यारी।
यदि वे बेच दिये जाते हैं,
दौड़ दौड़ फिर फिर आते हैं ॥

(५)

जल अथवा थल के चारी,
घास-पात आदिक आहारी।
जीव जगत में जो रहते है,
जन्मभूमि को सब चहते है॥

(६)

महा असभ्य मनुष्याहारी,
अफरीका के भी वनचारी।
जन्मभूमि से स्नेह लगावे,
वहीं रहें, आनन्द मनावें॥

(७)

जग में जन्म-भूमि सुखदायी,
जिस नर-पशु के मन न समाई।
उसके मुख-दर्शक नर-नारी,
होते है अघ के अधिकारी॥

(८)

एक गेह में जो रहते हैं,
दुख न विशेष कभी सहते हैं।
प्रीति परस्पर वे रखते है,
जिसका फल मीठा चखते है॥

(९)

दुखी एक को जो पाते है,
सभी सहायक हो जाते हैं।
हित की बातें बतलाते हैं,
स्वयं अनेक काम आते हैं॥

(१०)

विविध भांति श्रम मनुज उठावें,
निज कुटुम्ब को सुखी बनावें।
सबको सुखी देख सुख पावें,
सत्य सत्य हम सत्य सुनावें॥

(११)

यह जो भारत-भूमि हमारी,
    जन्मभूमि हम सबकी प्यारी ।
एक गेह, सब हिन्दू सारा,
    प्रजा कुटुम्ब हुआ है भारी ॥

(१२)

इसको देख विपत्ति-विभागी,
    निर्धन, अपढ़, निर्बल, अभागी ।
जिसका हृदय न व्यथा दुखाती,
    लज्जा भी क्या उसे न आती ?

(१३)

यदि कोई पीड़ित होता है,
    उसे देख सब घर रोता है ।
देश-दशा पर प्यारे भाई !
    आई कितनी बार रुलाई ?

(१४)

सुख-समृद्ध-शाली करने मे,
    निज घर को धन से भरने मे ।
कौन न श्रम सब दिन करता है,
    तनिक नही उसमे डरता है ॥

(१५)

थोडा भी श्रम यदपि उठाते,
    जन्मभूमि को तुम न भुलाते ।
तो अब तक निहाल हो जाती,
    शोभामयी दिव्य दिखलाती ॥

(१६)

जो कुछ अब तक हुआ, भुलावो,
    अब इसका सम्मान बढाओ ।
मान लीजिए वचन हमारे,
    इसकी लज्जा हाथ तुम्हारे ॥

(१७)

जन्मभूमि की वलिहारी है,
यह सुरपुर से भी प्यारी है ।
सकी महिमा अति भारी है,
सुधि भी इसकी सुखकारी है ॥

फरवरी-मार्च, १९०३

७—स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार

(१)

कलम को कँपकँपी-सी आ रही है,
हमारी वुद्धि चक्कर खा रही है ।
लिखें हम क्या नही कुछ याद आता,
अजव हालत हमारी है विधाता !

(२)

विदेशी वस्त्र क्यो हम ले रहे है ?
वृथा धन देश का क्यो दे रहे है ?
न सूझै है अरे भारत भिखारी !
गई है हाय तेरी वुद्धि मारी !

(३)

हजारो लोग भूखो मर रहे है,
पडे वे आज या कल कर रहे है ।
इधर तू मजु मलमल ढूँढता है !
न इससे और वढ कर मूढता है ॥

(४)

महा अन्याय हा हा हो रहा है,
कहे क्या कुछ नही जाता कहा है ।
मरैं, असगर, विसेसर और काजी,
भरैं घर ग्रान्ट, ग्राहक और राली ॥

(५)

स्वदेशी वस्त्र की हमको बडाई,
विदेशी लाट ने भी है सुनाई ।
न तिस पर भी हमें जो लाज आवै,
किया क्या हाय हे जगदीश ! जावै ।।

(६)

चमकते रग है हमको भुलाते,
अनोखे बेल-बूटे भी लुभाते ।
नही हम देखते है पायदारी,
हमारी है बडी यह भूल भारी ।।

(७)

विदेशी धोबियो तक ने हमारी,
समझ पर है कलप की ईट मारी ।
पहनते धोतियाँ, सबको दिखाते,
न नकी चाल भी हम चित्त लाते ।।

(८)

धराधर धार रुपयो की बही है,
विलायत ओर सीधी जा रही है ।
न कश्मीर। न मखमल छोडते हम,
न फ्लैनल, फ्यल्ट से मुख मोडते हम ।।

(९)

रुई होती यहाँ कुछ कम नही है,
न इतनी और देशो में कही है ।
उसे दे हम सडे कपडे मँगावे,
जिन्हे ले एक के दो-दो गँवावें ।।

(१०)

न काशी और चन्देरी हमारी,
न ढाका, नागपुर नगरी विचारी ।
गई है नप्ट हो; जो देश भाई !
दया उनकी तुम्हें कुछ भी न आई ।।

(११)

अकेला एक लुधियाना हमारा,
चला सकता अभी है काम सारा।
फिरैं, तिस पर, भला, जो और के द्वार,
हमैं, फिर, क्यों नहीं सौ वार धिक्कार ?

(१२)

स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार कीजै,
विनय इतना हमारा मान लीजै।
शपथ करके विदेशी वस्त्र त्यागो,
न जावो पास, उससे दूर भागो॥

(१३)

अरे भाई! अरे प्यारे! सुनो बात,
स्वदेशी वस्त्र से शोभित करो गात।
वृथा क्यों फूँकते हो देश का दाम,
करो मत और अपना नाम बदनाम॥

जुलाई १९०३

८—श्री हार्नेली-पंचक

(१)

विद्या-निधान-वर, विज्ञ-जन-प्रदान,
शोभायमान जग में सविता-समान।
वाणी न जासु मुख ते क्षणहू टली है,
सोई गुणी-गण-शिरोमणि हार्नेली है॥

(२)

भाषा न एकहु भली विधि लोक माहीं,
जानैं मनुष्य तउ गर्व वहैं वृथा ही।
भाषा अनन्त मुख जासु वसैं सदाहीं,
माहात्म्य तासु कहि को कवि पार जाहीं॥

(३)

शेषावतार परिपूर्ण मही-मझार ?
किंवा गणेश गुणिनायक कोऽवतार ?
विद्या-विभुत्व न भाँति महा विशाल,
पाया गया न पृथिवी-तल पै त्रिकाल ॥

(४)

हेमेन्दु औ वररुचि प्रति जो अपारा,
श्रद्धा-प्रकार सुपवित्र अहै हमारा ।
ताते विशेष तव ऊपर भक्ति-भाव,
हे हार्नली ! इमि कहैं सब सत्स्वभाव ॥

(५)

सौजन्य-सिन्धु, बुध-बन्धु, मनोज्ञ-रूप,
विज्ञात तत्त्व यह पंडित है अनूप ।
विद्या-समृद्धि सन ही सुमहाधनी है,
औ शब्द-शास्त्र महँ सम्प्रति पाणिनी है ॥

अक्टूबर १९०३

६—विचार करने योग्य बातें

(१)

मैं कौन हूँ ? किस लिए यह जन्म पाया,
क्या क्या विचार मन में किसने पठाया ?
माया किसे, मन किसे, किसको शरीर,
आत्मा किसे कह रहे सब धर्मधीर ?

(२)

क्यों पाप-पुण्य-रगड़ा जगबीच छाया ?
माया-प्रपंच रच क्यों सबको भुलाया ?
आया मनुष्य फिर अन्त कहाँ सिधारै,
ये प्रश्न क्यों न जड़ जीव सदा विचारै ?

(३)

नाना प्रकार जग मे जन जन्म पाते,
पीते तथा नित यथाविधि खाद्य खाते।
तौ भी सदैव मरते सब जीवधारी,
क्यो अल्पकालिक हुई फिर सृष्टि सारी ?

(४)

क्या वस्तु मृत्यु ? जिसके भय से विचारे,
होते प्रकम्प-परिपूर्ण मनुष्य सारे।
क्या वाघ है ? विशिष है ? अहि है विषारी ?
किं वा विशाल-तम तोप दृढागधारी ?

(५)

पृथ्वी-समुद्र-सरिता-नग-नाग-सृष्टि,
मागल्य-मूल-मय वारिद-वारि-वृष्टि।
कर्तार कौन इनका ? किस हेतु नाना,
व्यापार-भार सहता रहता महाना ?

(६)

विस्तीर्ण विश्व रच लाभ न जो उठाता,
स्रष्टा समर्थ फिर क्यो उसको बनाता ?
जो हानि-लाभ कुछ भी उसको न होता,
तो मूल्यवान फिर क्यो निज काल खोता ?

(७)

कोई सदैव सुख-युक्त करे विहार,
कोई अनेक विधि दु ख सहे अपार।
जो भेद-भाव सवमे यह विद्यमान,
क्या वीजवस्तु उसकी जग मे प्रधान ?

(८)

तेजोनिधान रवि-बिम्ब सुदीप्ति-धारी,
आह्लादकारक शशी निशि तापहारी।
जो ये प्रकाशमय पिण्ड गये वनाये,
तो व्योम-बीच कव ये किस भाँति आये ?

(९)

क्यो एक देश सहसा बल-वृद्धि पाता ?
क्यो अन्य दीर्घ-दुख-सागर में समाता ?
ये खेल कौन, किस कारण, खेलता है ?
क्यो नित्य नित्य सुख मे दुख मेलता है ?

(१०)

ये है महत्त्व-परिपूरित प्रश्न-भार,
एकान्त जो नर करैं नका विचार।
होवैं अवश्य जन वे जग मे महान,
सज्ञान और वर-बुद्धि-विवेकवान ॥

फरवरी १९०४

१०—ग्रंथकारों से विनय

(१)

हे ग्रथकार, आगार गुणो के, ज्ञाता,
अति रुचिर मनोरम गद्य-पद्य-निर्म्माता।
क्षण भर के लिए समेट काम निज सारा,
सुनिए यह इतना विनय विनीत हमारा ॥

(२)

भाषा है रमणी-रत्न महा-सुखकारी,
भूषण है उसके ग्रथ लोक-उपकारी।
इनको लिख उसकी तृप्ति भली विधि कीजै,
अति विमल-सुयश की राशि क्यो न ले लीजै ? ॥

(३)

सत्काव्य, तथा इतिहास, और विज्ञान,
सत्पुरुषो के जो चरित्र विचित्र-विधान।
लिखिए हे लेखन-कला-कुशलतावान !
इनमें ही है सब भाँति देश-कल्यान ॥

(४)

वर रत्न, कनक कमनीय, कान्ति के वर्द्धक,
इस भूषण-रचना-हेत नही आवश्यक ।
इस कारण देश-विदेश नही जाना है,
शारीरिक श्रम भी नही बहुत पाना है ।।

(५)

सुविचार-राशि है रत्न रुचिरताधारी,
है सुन्दर वर्ण सुवर्ण; कर्ण सुखकारी ।
घर ही मे बैठ विचार प्रकट करना है,
पुस्तक के पृष्ठ सहर्ष वही भरना है ।।

(६)

जो वस्तु और की विना कहे लेता है,
सब कोई उसको "चोर" सदा कहता है ।
औरो के चारु विचार तथापि मनोहर,
ले लेने में कुछ दो नही, हे बुधवर ! ।।

(७)

इँग्लिश का ग्रथ-समूह बहुत भारी है,
अति-विस्तृत-जलधि समान देहधारी है ।
सस्कृत भी सबके लिए सौख्यकारी है,
उसका भी ज्ञानागार हृदयहारी है ।।

(८)

इन दोनो मे से अर्थ-रत्न ले लीजै,
हिन्दी के अर्पण उन्हे प्रेमयुत कीजै ।
वह माता-सम सब भाँति स्नेह-अधिकारी,
तनी ही विनती आज विनम्र हमारी ।।

(९)

माता है जैसी पूज्य सुनो हे भाई !
भाषा है उसी प्रकार महा-मुद-दायी ।
माता से पूज्य विशेष देश-भाषा है,
मिथ्या यह हमने वचन नही भाखा है ।।

(१०)

माता से जग के बीच जन्म मिलता है,
भापा से सब व्यवहार सदा चलता है।
इससे ही उसकी कीर्ति विज्ञ गाने हैं,
तत्सेवा कर आनन्द अमित पाते हैं॥

(११)

इसलिए स्वभा ा-भक्ति, देश-हितकारी।
कर, भली भाँति, हूजिए पुण्य-अधिकारी।
रचिए गुण-गौरव-पूर्ण-ग्रथ-गण सारा,
बस, यही आपमे विनय विनीत हमारा॥

फरवरी १९०५

११—रम्भा

(१)

रूपवती यह रम्भा नारी,
सुरपति तक को यह अति प्यारी।
रति, धृति भी, दोनों बेचारी,
इसे देख मन में हैं हारी॥

(२)

इसके हाव हृदयहारी हैं,
हारी इससे सुरनारी हैं।
गति इसकी सबसे न्यारी है,
छवि नयनों को सुखकारी है॥

(३)

जब यह अद्भुत नाच नचाती,
वसन उधर से इधर हटाती।
नाभि-नवल-नीरज दिखलाती,
स्तनतट से पट को खिसकाती॥

(४)

इसके देख केश घुँघुराले,
सुमन-सुवासित सुन्दर काले।
नाग-नारियाँ छिप जाती हैं,
महा-अनूपम रूप बना है।

(५)

नयन नील-नीरज-छविहारी,
श्रुति-पर्य्यन्त-पर्य्यटनकारी।
इसके भृकुटी-भय का मारा,
लोप शरासन है बेचारा॥

(६)

इसके अधर देख जब पाते,
शुष्क गुलाब फूल हो जाते।
कोमल इसकी देह-लता है,
मूर्तिमती यह सुन्दरता है॥

(७)

बाहर सायंकाल हमेशा,
फिरती यह पति साथ हमेशा।
कड़े छड़े की चाह नहीं है,
परदे की परवाह नहीं है॥

(८)

पढ़ती भी लिखती भी है यह,
घर सज्जित रखती भी है यह।
जब यह सूई हाथ उठाती,
नये नये कौशल दिखलाती॥

(९)

घर में सबको भाती है यह,
पति का चित्त चुराती है यह।
सखियों में जब आती है यह,
मधु मीठा टपकाती है यह॥

(१०)

यह शिक्षिता गुर्जरी नारी,
इसको प्रिय है नीली सारी।
इसकी छवि-लोचन-सुखकारी,
रविवर्मा ने खूब उतारी ॥

अगस्त १९०५

१३—महाश्वेता

(१)

यह सुन्दरी कहाँ से आई,
सुन्दरता अति अद्भुत पाई।
सूरत इसकी अति भोली है,
और न इसकी हमजोली है।

(२)

इसका चरित वाण ने गाया,
जिसने कादम्बरी बनाया।
यह कोमल किन्नर-कन्या है,
रूप-राशि गुण-गण-धन्या है ॥

(३)

हेमकूट पर्वत के ऊपर,
उपवन एक चैत्ररथ सुन्दर।
वही विमल अच्छोद सरोवर,
उसके तट शिव-भवन मनोहर ॥

(४)

वहाँ एक दिन यह जाती थी,
मग मे निज छवि छिटकाती थी।
युवा तपस्वी पुण्डरीक ने,
कुसुम-कली को चञ्चरीक ने ॥

(५)

देख इसे सब सुधि बुधि खोई,
शुद्ध-शीलता सारी धोई ।
इसने भी अनुराग दिखाया,
हार उसे अपना पहनाया ॥

(६)

लौट गेह निज जब यह आई,
पीड़ा पुण्डरीक ने पाई ।
विरह-वह्नि ने उसे जलाया,
इससे वह परलोक सिधाया ॥

(७)

इस विपत्ति से यह अकुलानी,
हुई उसी क्षण से दीवानी ।
पिता और माता को छोड़ा,
सब सम्बन्ध जगत से छोड़ा ॥

(८)

प्रिय से प्रेम लगाया इसने,
अंग विभूत रमाया इसने ।
जटा-जूट लटकाया इसने,
मुनिवर भेष बनाया इसने ॥

(९)

पहनी पुण्डरीक की माला,
आई उसी विपिन में बाला ।
पशुपति की पूजा आराधी,
महा कठोर साधना साधी ॥

(१०)

कर वीणा ले नित्य बजाती,
हर-गिरिजा को नित्य रिझाती ।
नित्य नये उनके गुण गाती,
कन्द-मूल खाकर रह जाती ॥

करें निज हित लगाकर दिल को हम सब
यह अवसर खूब ही है हाथ आया ॥ ४ ॥
झुकावें शीश हम ईश्वर को पहले
कि जो घट घट में है सबके समाया ॥ ५ ॥

(२)

विद्यामृत पान करो चित्त को लगाई
जीवित-साफल्य हेत अतिशय गुणदाई—
विद्या की आदि-देव स्त्री ही जग में प्रसिद्ध
देख के हमारी वह घोर मूर्खताई ॥ १ ॥
पावैगी खेद बहुत, बहनो, संदेह नहीं
कुछ न कोई कर सकैगा भगिनी या भाई ॥ २ ॥
आओ; सप्रेम उसे नेम से प्रसन्न करें
अपनी उन्नति ही से है सभी भलाई ॥ ३ ॥
विद्या से नीति-रीति होती सब भाँति शुद्ध
मन-वच भी पावन हो होते सुखदाई ॥ ४ ॥
होंगे तब हमसे गुन कान सहज में ही सब
छिपी नहीं जग में है ज्ञान की बड़ाई ॥ ५ ॥

(३)

अज्ञान अंधकार में पड़ी है हाय हम
कर ज्ञान का प्रकाश उसे दें नसाय हम—
आओ पवित्र आचरण सीखें नये नये;
राखें सुखी कुटुम्ब मनो-वाक्-काय हम ॥ १ ॥
महिला अनेक महि की भूषण हैं हो गई,
उनकी सुचाल को ही चलें चित्त लाय हम ॥ २ ॥
उनके सदाचरण ने उन्हें कर दिया अमर,
उनका ही सा चलो करें अपना सुभाय हम ॥ ३ ॥
जो काम देश के नहीं पूरे वे कर सकीं;
आओ करें उन्हीं को हिये हर्ष छाय हम ॥ ४ ॥
छोड़ें विचार लाज से अपने पराये का,
सोचें गुणों के सिर्फ़ ग्रहण का उपाय हम ॥ ५ ॥

(४)

प्यारा है सबसे हमको हिन्दुस्तान हमारा
सुख दुख मे हमेशा मेहरवान हमारा—
विद्या नही है, वल नही है, धन भी नही है,
क्या से हुआ है क्या यह गुलिस्तान हमारा ॥ १ ॥

पढती थी वेद तक जहाँ महिला सदैव ही,
नारी-समूह है वही अज्ञान हमारा ॥ २ ॥

विद्या धनो का मूल है प उस तरफ बहन
अव तक गया नही है कभी ध्यान हमारा ॥ ३ ॥

आओ करे प्रयत्न आज से लगा के दिल,
वढ जाय जिससे ज्ञान और मान हमारा ॥ ४ ॥

विद्या विना स्वदेश की सेवा न हो सके,
विद्या ही से है सव तरह कल्याण हमारा ॥ ५ ॥

३० दिसम्बर१९०५को काशी की महिला परिषद् मे गाये जाने के लिए रचित
जनवरी १९०६

१५—वन्दे मातरम् !

वन्दे मातरम् ।

पानी की कुछ कमी नही है, हरियाली लहराती है,
फल औ फूल वहुत होते है, रम्य रात छवि छाती है ।
मलयानिल मृदु मृदु वहती है शीतलता अधिकाती है,
सुखदायिनि वरदायिनि तेरी, मूर्ति मुझे अति भाती है ॥

वन्दे मातरम् ।

तीस कोटि लोगो की कलकल सुनी जहाँ पर जाती है,
उसकी दुगुन खड्ग-धारा की द्युति विकाश जहँ पाती है ।
तिस पर भी 'तू अवला है' यह वात व्यथा उपजाती है,
हे तारिनि ! हे वहुवल-धारिनि ! रिपु तू काट गिराती है ॥

वन्दे मातरम्।

तू ही धर्म्म, कर्म्म भी तू ही, तू ही विद्यावानी है,
तू ही हृदय, प्राण भी तू ही, तू ही गुण-गण-खानी है।
बाहु-शक्ति तू ही मम, तेरी भक्ति महा मन मानी है,
प्रतिघट, प्रतिमन्दिर के भीतर तू ही सदा समानी है॥

वन्दे मातरम्।

हे दुर्गे! दस भुजा तुम्हारी दुर्गति-नाश-निशानी है,
हे कमले! हे अमले! अचले! तू सब सुख की खानी है।
नहीं एक भी भरतखड मे ऐसा पापी प्रानी है,
कहै न जो नित, "यही हमारी महामहिम महरानी है॥"

वन्दे मातरम्।

जनवरी, १९०६

१६—ऊषा-स्वप्न

(१)

वाणासुर की सुता सयानी,
रति भी जिसको देख लजानी।
रुचिर नाम ऊषा उसका है,
विशद वेश-भूषा उसका है॥

(२)

जब वह हुई षोडशी वाला,
पडा काम से उसका पाला।
मन्मथ ने शायक सन्धाना,
ऊषा उसका हुई निशाना॥

(३)

दुर्निवार मनसिज की मारी,
व्यथित हुई जब वह सुकुमारी।
उसने और न लडना चाहा,
पति का प्राण पकडना चाहा॥

(४)

निज आगमन जनानेवाला,
मधु में जीवन लानेवाला ।
जब न यहाँ भी पाऊँगी मैं,
तो मोहित मर जाऊँगी मैं ॥

(५)

यों रह रह घबराने तब वह—
रोती विदीन मनाने तब वह ।
दुःख अत्यधिक पाने तब वह,
तनु को कम्पित बनाने तब वह ॥

(६)

बहुत रात सोने पर उसको,
एक बार सोने पर उसको ।
हुआ स्वप्न सुखदायक उसको,
मिला एक नव नायक उसका ॥

(७)

यदुवंशी अनिरुद्ध कुमारा,
रूप-राशि शोभा आगारा ।
पास स्वप्न में उसके आया,
जी से वह ऊषा को भाया ॥

(८)

सुन्दरता भी शरमा जावे;
यदि वह उसके सम्मुख आवे।
वदन नील-नीरद सम काला,
अति विशाल गल-मुक्ता-माला ॥

(९)

उसे देख मन बहुत सँभाला,
तदपि हो गई मोहित बाला ।
यदपि न मुँह से वचन निकाला,
दिल अपना उसने दे डाला ॥

(१०)

ऊषा को जब ऐसा पाया,
युवा पास तब उसके आया।
बैठ गया, मन मोद बढाया;
विधु-वदनी का हाथ उठाया॥

(११)

रस इस तरह बढाया उसने,
मनोमुकुल विकसाया उसने।
सुधासलिल बरसाया उसने,
तनु कण्टकित बनाया उसने॥

(१२)

कि वह भूल अपने को गई,
सत्य समझ सपने को गई।
कर-स्पर्श-सुख-सिन्धु समानी,
रतिपति के वह हाथ बिकानी॥

(१३)

उसके मुख-मयक की शोभा,
देख युवा का भी मन मोहा।
सुषमा-सर उसने अवगाहा,
अरुणाधर रस चखना चाहा॥

(१४)

ऊषा ने भी की मन-भाई,
उत्सुकता अतिशय दिखलाई।
पर ज्योही वह भुजा उठाने,
चली, युवा को गले लगाने॥

(१५)

नीद दृ ो से ज्योही भागी,
कही नही कुछ, जब वह जागी।
इससे जो दुख उसने पाया,
गया पुराणो में है गाया॥

(१६)

चित्रकार-वर रविवर्म्मा हैं;
निज गु मे अनन्यकर्मा हैं।
उसने ऊषा-स्वप्न उतारा,
खूब सुयश अपना विस्तारा॥

जनवरी १९०६

१७—सरगौ नरक ठेकाना नाहिं

(आल्हा)

(१)

देवी सारदा तुमका सँवरौं मनियाँ देउ महोब्रे क्यार,
तुमही रच्छक हौ सब जग के बेडा खेइ लगायौ पार।
आपनि कथा सुनाब्रौं तुमका सुनियौ ज्वानौ कान लगाय,
जब सुधि आवै उन बातन कै जियरा कलपि कलपि रहि जाय॥

(२)

सात पुस्ति ते पुरिखा हमरे बसे गाँऊँ मा घर बनवाय,
निगुरन के पुरवा माँ आजौ ठाढि हमारि मडैया आय।
पैदा हुवै भैन हम भैय्या ख्याला खावा नित उठि रोजु,
दिन दिनु भरि हम घरै न आयन बाप न पावा रचौ खोजु॥

(३)

मूड कै धरती बहुत उठावा तब भै दादा के मन ऊब;
हाथु पकरि घसिलायन हमका, कीन्हेन लालि कनगुदी खूब।
रहे पढावत लरिका याकै लाला नाँउँ मदारीलाल;
हुवैं गैन बैठाये हमहूँ अब आगे के सुनौ हवाल॥

(४)

एक्का एकु पढै हम लागेन परै लागि नित हम पर मार,
छिन छिन मै हाँ लाला जीकै—"कलुआ आपन हाथु निकारु"।
छरी तडातड हम पर बरसै लागी नित कम ते कम बीस,
अटई डडा तहूँ न छाँडा भैय्या अस हम रहेन खबीस॥

(५)

ज्यों त्यों कै हम पढा मोहल्ला, फिरि खरीदि औ बेंचु, वियाजु,
पिचमित, तरकुन मन्त्र पढायनि लाला रोजु ढोवायनि नाजु।
फिरि हम गैन भञ्भराखेरे मच्छू मियाँ मोलवी पास,
लागेन पढै अलिव्वे हौवा धरमु करमु भा सत्यानास॥

(६)

परेन प्याँच माँ जेर-जवर के हालि हालि लागेन अभुवाय,
घर माँ जानै पढी पारसी चिलमै भरत दिनौंना जाय।
पढा करीमा, आमदनामा, खालिकवारी वारा दाँय,
दस्तूरुसुबियो पढि डारा जिनके पढे पितर तरि जाँयँ॥

(७)

यहू के आगे औरु वढेन हम पढ़ी कितावैं हम छा-सात,
मनु तौ रहै अरव माँ अरवी पढी जाय—पैं वदे कै वात।
घर माँ कहै लाग सव कोऊ—"कल्लू वन्द करौ यहु खेलु
वहुत पारसी जो तुम पढिहौ तुम्हे परी व्याँचै का तेलु"॥

(८)

भैंसि-भवानी कै तव सेवा लागेन करै पढ़नुगा छूटि,
वटुवन दूधु दुहा इन हाथन धार न कवौं दुहत माँ टूटि।
मोटरिन कटिया भयुरा सानी कीन रोजु हम वाँह चढाय,
मस्त भैन तव आल्हा गावा उपर दुहत्था हाथु उठाय॥

(९)

होत वनियई आई हमरे, को अव तुमते झूठ वताय,
हमहूँ घिउ वरसन व्याँचा है छोटी वडी वजारन जाय।
हियाँ की वातैं हियैं रहि गईं अव आगे के सुनौ हवाल,
गाँउ छाँडि हम सहर सिधायन लागेन लिखै चुटकुला ख्याल॥

(१०)

अचकनु पहिरि वू॰ हम डाटा वावू वनेन डेरात डेरात,
लागेन आवै जाय सभन माँ, कण्ठु फूट, तब वना वतात।
जव तक हमरे तन माँ तनिकौ रहा गाँउँ के रस का अंसु,
तव तक हम अखवार कितावै लिखि लिखि कीन उजागर वंसु॥

(११)

जहाँ गाँउँ का खुनु खतम भा तहाँ फूटिगै भागि हमारि,
अक्किल सासु छाँडिगै हमका दुर्गति केहितेक हन पुकारि।
कुंभी पाक नरकु असि लाखन जाजम्नर जहँ परे गँधायँ,
गटरन ते भुंइ पेलि परी हैं मनई चलत फिरत धँसि जायँ॥

(१२)

आठौ पहर भकाभक निकरै धुँवाँ जहाँ अक्कास उडाय,
कौनी तना, बताओ तुमही अक्किल रहै लहुरवा भाय।
ऐसे बुरे सहर माँ रहिकै पाकि उठा सब मगजु हमार,
नीक नकाग हमै न सूझै मुँहुँ ह्वैगा भुंजवा का भार॥

(१३)

जिनका निमक मुद्दतिन खावा तानि पट्टा स्वावा भाय,
कलम कुदारी लै उनहिन की जरै वगारै लागेन हाय।
जिन वभनन का पुरिखन पूजा हमहूँ जिनके ज्वारा हाँथ,
हमरी गारिन के फूलन ते उनहिन के भे बोझिलि माँथ॥

(१४)

घेरे रहै गाँउ वाले जो मदति देइँ औ राखै प्रीति,
उनहिन का हम उठि गरियाई असि हमारी भै उलटी रीति।
अपने करमन कै सुधि आये हियरा टूकु टूकु ह्वै जाय,
धरती माता जो तुम फाटौ मै मुँह के वल जाउँ समाय॥

(१५)

गुन जसु मानवु कौनि चीज है सो हम सपन्यौ जानित नाहि,
अस किरतघ्न और जो ढूँढै, मिली न सात बिलाइति माँहि।
जो हमारि सगी साथी है सुख दुख माँ जो सदाँ सहाँय,
उनहुन का अपिमानु करी हम वीच बजार बैठि गोहराय॥

(१६)

घिन लागै अपने मनइन ते उनका पास न आवै ध्यान,
जो कोउ भूलि गाँउँ ते आवै वहिका आडे हाँथन ल्यान।
कोऊ न जानै को इनके हैं भ्नासरि भाई वन्द भकवास,
यही ते कामु परै पर हमहीं घर का दौरी दुइसै क्वास॥

(१७)

अपने मतलब का हम जिनकी चेरिया विनती करी हजारु,
उनहिन के पीछे परि जाई चाहै हमैं सकलु ससारु।
पढा गुना हम कुछौ नही ना, जो कुछु लिखा राम का नाउँ,
तहूँ बिरस्पति जो कुछु ब्वालैं वहिमाँ दौरि घुसारी पाउँ॥

(१८)

हमरी नस नस बीच वियापै इरखा औरु लोभ महराज,
उनहिन की दीन्ही खाइत है रोटी, छाँडि लोक कै लाज।
जहिका चही चढाई ऊपर जहिका चही गिराई कीच,
हाय हाय अस हमैं बेगारा सहरु ससुरु यहु है अस नीच॥

(१९)

साफ कहित है हम ऐसेन का सरगौ नरक ठेकाना नाहिं,
बूडि मरी जो हम गङ्गा माँ तौ हत्या लागै हम काहिं।
हे भगवान उबारौ हमका दीनदयाल धर्म्म के नाथ,
तुम्हरे पाँयन माँ हम आपन पटकित है यहु फुटहा माथ॥

(२०)

जो हम जनतेन असि गति होई तौ हम हाय न छँडतेन गाँउँ,
भूँखन चहै मरित, ना लेइत भूलिउ कवौं सहर का नाँउँ।
देखि हमारि हाल जो कोऊ फिरिउ सहर के आई पास,
तनिकौ चलन कही हम, होई वहिका सब विधि सत्यानास॥

जनवरी १९०६

१८—प्यारा वतन

(१)

प्यारे वतन हमारे प्यारे,
आजा, आजा, पास हमारे।
या तू अपने पास बुलाकर,
रख छाती से हमें लगाकर॥

(२)

जब तू मुझे याद आता है,
तब दिल मेरा घबराता है।
आँखे आँसू बरसाती है,
रोते रोते थक जाती है ॥

(३)

तुझसे जो आराम मिला है,
दिल पर उसका नक्श हुआ है।
उसे याद कर मै रोता हूँ,
रो रोकर आँखे धोता हूँ ॥

(४)

कच्चा घर जो छोटा-सा था,
पक्के महलो मे अच्छा था।
पेड नीम का दरवाज़े पर,
सायबान से था वह बेहतर ॥

(५)

सब्ज़ खेत जो लहराते थे,
दिल को वे कैसे भाते थे।
फर्श मखमली जो बिछते है,
नही मुझे अच्छे लगते है ॥

(६)

वह जगल की हवा कहाँ है ?
वह इस दिल की दवा कहाँ है ?
कहाँ टहलने का रमना है ?
लहरा रही कहाँ जमना है ? ॥

(७)

वह मोरो का शोर कहाँ है ?
श्याम घटा घनघोर कहाँ है ?
कोयल की मीठी तानो को,
सुन सुख देते थे कानो को ॥

(८)

ज्यों ही आम पेड़ से टपका,
मैं फौरन लेने को लपका।
चढ़ा उचक कर डाली डाली,
खाईं जामन काली काली ॥

(९)

जब यह मुझे याद आता है,
नहीं मुझे तब कुछ भाता है।
वे दिन क्या फिर कभी मिलेंगे?
क्या फिर अपने दिन पलटेंगे? ॥

(१०)

वे लँगोटिये यार कहाँ है?
वे सच्चे ग़मख्वार कहाँ हैं?
वह घर वह बैठक मन भाई,
क्या फिर कभी मिलेगी भाई? ॥

(११)

आँख-मिचौनी की वे घातें;
खेल-कूद के दिन और रातें।
हाय कहाँ हैं! हाय कहाँ हैं!
कहाँ मिलें जो ढूंढ़ा चाहें? ॥

(१२)

बिछड़ा वतन हुआ यह बेजा,
फटता है सुध किये कलेजा।
ठाठ अमीरी के सब तुझ पर,
मिलै अगर तू, करें निछावर ॥

फरवरी १९०६

———

१९—जम्बुकी न्याय

एक बाग मे बहुत पुराना,
पाँच परिन्दो का था थाना ।
बक, बटेर, कौवा, चण्डूल,
दिवाभीत भी नामाकूल ॥१॥

एक घोसला खाली पाया,
सबने उस पर दाँत लगाया ।
अपना अपना हक दिखलाने,
लगे कूदने शोर मचाने ॥२॥

कई रोज़ तक हुई लडाई,
जीत किसी के हाथ न आई ।
बुड्ढा जम्बुक एक वहाँ पर,
रहत था अपने बिल भीतर ॥३॥

कुनबा भी था उसका वहाँ,
था जिसका वह शाहेजहाँ ।
पास परिन्द उसी के आये,
चोचे खोले शीश झुकाये ॥४॥

बैठ सब डालो पर दूर,
झपट न मारे कही हुजूर ।
झटपट उन चिडियो ने एक,
अर्ज़ी दी, कर अर्ज़ अनेक ॥५॥

जरठ-शिरोमणि, जम्बुकराज,
न्यायमूर्ति महराजधिराज ।
कर इन्साफ हमारा दीजै,
दया-दृष्टि प्रभु हम पर कीजै ॥६॥

दया जब जम्बुक को आई,
दुम उसने उठ खूब हिलाई ।
बोला वह मै न्याय करूँगा,
शेर बब्बर से भी न डरूँगा ॥७॥

अपनी अपनी बात सुनावो,
एक एक सब सन्मुख आवो।
तब बटेर बढ आगे आई,
उसने यों कह कथा सुनाई॥८॥

हे जम्बुक जी, मैं नारी हूँ,
नाजुक-बदनो की प्यारी हूँ।
ऊँचा नीचा मेरा ग्राम,
रम्य रूपिणी मेरा नाम॥९॥

खुशबू से लिपटी रहती हूँ,
मुँह से जो निकला कहती हूँ।
नव्वाबो की पाली हूँ मै,
काली होकर लाली हूँ मै॥१०॥

शुरू शुरू मे मेरा बोल,
था थोड़ा ही गोलं गोल।
अब तो खूब बोलती हूँ मै,
घर गुलकन्द घोलती हूँ मै॥११॥

तीतर की परवाह न मुझको,
मोरो की भी चाह न मुझको।
इनको कभी न मैंने देखा,
पर इन सबका रखती लेखा॥१२॥

लडने में हे जम्बक ज्ञानी,
नही कहीं भी मेरा सानी।
सबको मैं मृदु वचन सुनाऊँ,
दुम अपनी दिन रात हिलाऊँ॥१३॥

मैं अपनी कह चुकी कहानी,
याद पडी जो नई पुरानी।
कृपा महाप्रभु मुझ पर कीजै,
मुझे घोसला दिलवा दीजै॥१४॥

यह सुन बुड्ढा जम्बक बोला,
सब बातो को उसने तोला।

वाह कहे या कोई आह,
इसकी नही मुझे परवाह।
समझ पडे या नही कलाम,
मुझे बोलने से है काम ॥२३॥

पहर पहर भर मे हे तात,
निकलै मेरे मुह से बात।
चारा पानी अगर न पाऊँ,
बरसो तक मै चुप हो जाऊँ ॥ २४॥

मै हूँ महामहिम चण्डूल,
तूल बहुत क्यो करूँ फिजूल।
मै ही क्यो न घोसला पाऊँ,
उस पर अपना दखल जमाऊँ ॥ २५॥

यह सुन बुड्ढा जम्बुक बोला,
सब बातो को उसने तोला।
"वाह न अब कुछ बाकी रहा,
खूब कहा जी खूब कहा" ॥२६॥

तब कुनबे के जम्बुक सारे,
खडे हो गये न्यारे न्यारे।
"हुआ हुआ जी खूब हुआ,"
कह बुड्ढे का कदम छुआ ॥२७॥

काकदेव तब सन्मुख आये,
पैर उठाये पर फैलाये।
मै विजयी जयन्त का नाती,
वक्र चाल मुझको अति भाती ॥२८॥

सब चिडियो से रहूँ निराला,
तन है आबनूस-सा काला।
मन मेरा अति ही निर्म्मल है,
तरु खोखला विहार-स्थल है ॥२९॥

त्रेतायुग की है यह काया,
मैने गिना हिसाब लगाया।

यद्यपि इतना दूर उड़ाऊँ,
बाग बगीचों में अठिलाऊँ ॥३०॥

नागारि के मुँह में पैठा,
बगुले का पेट में बैठा।
लेना खाया मजे उड़ाया;
जब भी ऊबा बाहर आया ॥३१॥

जहाँ कहीं मैं कुछ गुन पाऊँ,
और कोई करके घुस जाऊँ।
ऊँची गर्दन कर चिल्लाऊँ,
अपनी खिचड़ी अलग पकाऊँ ॥३२॥

कुछ चिड़ियों में जाता हूँ मैं,
अपनी चाल दिखाता हूँ मैं।
यदि मार खा जाता हूँ मैं,
अति कृतार्थ हो जाता हूँ मैं ॥३३॥

एक बात से मैं घबराऊँ,
खाने को न पेट भर पाऊँ।
इससे मैं सब दिवस भटकता,
सिर अपना सब कहीं पटकता ॥३४॥

मास मुझे यदि मिल जाता है,
दिल मेरा खुश हो जाता है।
वरना घर ही में मर जाऊँ,
या दुबला हो बाहर आऊँ ॥३५॥

पहले था मैं बडा बहादर,
करते थे सब मेरा आदर।
पञ्चतन्त्र में महापुरानी,
मेरी भी है एक कहानी ॥३६॥

एक बार उल्लू उड सारे,
घुसे एक बिल में बचारे।
उसमें आग लगाई मैंने,
सबकी खाक बनाई, मैंने ॥३७॥

जो कहना था तुम्हे सुनाया,
जम्वक जी कुछ नही छिपाया।
जो न घोसला पाऊँगा मैं,
आफत भारी ढाऊँगा मैं ॥३८॥

यह सुन बुड्ढा जम्बुक वोला,
सब बातो को उसने तोला।
"वाह न अब कुछ वाकी रहा,
खूब कहा जी खूब कहा" ॥३९॥

तब कुनबे के जम्बुक सारे,
खडे हो गये न्यारे न्यारे।
"हुआ हुआ जी खूब हुआ"—
कह, बुड्ढे का कदम छुआ ॥४०॥

वीर वकासुर मेरा नाम,
मुनियो का-सा मेरा काम।
धाम बताऊँ अपना कहाँ,
जहाँ मुझे देखो मैं वहाँ ॥४१॥

गङ्गा, यमुना, या तालाब,
जहाँ कही थोडा भी आब।
वही पहुँच झट जाता हूँ मैं,
जाकर घात लगाता हूँ मैं ॥४२॥

पानी यदि कम हो जाता है,
मेरा भी दिल फट जाता है।
और कही मैं उड जाता हूँ,
सजल देख फिर आ जाता हूँ ॥४३॥

अद्भुत मेरी सुन्दरताई,
मूर्ति मनोहर मैने पाई।
नव पल्लव-से पैर लाल हैं,
चिपटी चोच सफेद वाल है ॥४४॥

मछली मुझे सुधा-सी भाती,
मुँह में रखते ही धँस जाती।

यदि मेंढकी सामने आती,
वह भी कभी न वचने पाती ॥४५॥

मुझसे कोई ताल न वचता,
पहुँच महाभारत मैं रचता।
जीव-जन्तु ग़ारत हो जाते,
आर्त्तनाद करते चिल्लाते ॥४६॥

जव मुझको कुछ दिन हो जाते,
घोंघे तक न मुझे पतियाते।
तव मैं उन्हे छोड देता हूँ,
और कही का पथ लेता हूँ ॥४७॥

देख मुनिवरो का-सा ध्यान,
मिलै नही मेरी पहचान।
धीरे धीरे खुलता भेद,
तव पाता मैं खरतर खेद ॥४८॥

देख रूप, सुन मधुरी वानी,
चिडियाँ मुझे वताती ज्ञानी।
पर क्या हूँ, सो मै ही जानूँ,
मै ही अपने को पहचानूँ ॥४९॥

एक वार मैं गया फँसाया,
चिडीमार ने जाल विछाया।
वहुत दिनो तक मुझे सताया,
रो रो मैंने प्राण वचाया ॥५०॥

हसो से है मेरा नाता,
चिडियो को मैं यही सुझाता।
यदि कोई खिलाफ कुछ कहता,
मैं उसको खा जाना चहता ॥५१॥

हे जम्वुक, हे सुघर शृगाल,
इतना ही है मेरा हाल।
वह घोसला मुझे दिलवावो,
महाप्रलय तक यश फैलावो ॥५२॥

यह सुन बुड्ढा जम्बुक बोला,
सब बातो को उसने तोला।
"वाह न अब कुछ बाकी रहा,
खूब कहा जी खूब कहा" ॥५३॥

तब कुनबे के जम्बुक सारे,
खडे हो गये न्यारे न्यारे।
"हुआ हुआ जी खूब हुआ"—
कह बुड्ढे का कदम छुआ ॥५४॥

हा! हा! हा! यह मैं अब आया,
मेरा रूप मुझी को भाया।
सुनो जरा तुम मेरी बात,
बडे मियाँ जी तसलीमात ॥५५॥

मेरा रग ज़रा कुछ काला,
घुग्घू हूँ मै सब घर घाला।
पन्थ चलाया मैंने कामिल,
अक्लमन्द सब उसमे शामिल ॥५६॥

छिपा रहा मै बालकपन मे,
पड़ा हुआ था निर्ज्जन वन में।
बडा हुआ तब बाहर आया।
उडना मुझको गया सिखाया ॥५७॥

एक गाँव का ऊँचा खँडहर,
जन्मभूमि मेरी है सुन्दर।
खाक वहाँ की मैंने छानी,
हुआ कही तब इतना ज्ञानी ॥५८॥

छोडा मैंने अपना थान,
पहुँचा जहाँ स्फटिक की खान।
रात हुई मैं उसमे पैठा,
दर्ज देख भीतर घुस बैठा ॥५९॥

गिरी एक पत्थर की ढेरी,
टूट गई कुछ बाजू मेरी।

शुक, पिक अगर सामने आवे,
मुझे देखकर घबरा जावें।
मोरो को भी मैं फटकारूँ,
दौड दौड़कर चोचें मारूँ॥६८॥

लेकिन कोई और परिन्दा,
गर इनको दिखलावै दन्दाँ।
उसको मै कच्चा खा जाऊँ,
ज़रा नही मै दया दिखाऊँ॥६९॥

है ये सब मेरा ही माल,
मै ही हूँ इन सबका काल।
पास और जो इनके जावे,
वह मेरा शिकार हो जावे॥७०॥

चिमगादड को गर मैं पाऊँ,
उसकी खता माफ फरमाऊँ।
मेरा वही हकीकी भाई,
सच कहता हूँ राम-दुहाई॥७१॥

जिसने जानी मेरी किल्ली,
उससे मैं हो जाता बिल्ली।
सत्य सूर्य्य जब मुझे दिखाता,
अन्धकार में मै छिप जाता॥७२॥

यह सुन बुड्ढा जम्बुक बोला,
सब बातो को उसने तोला।
"अब न और तकलीफ उठावो,
डिगरी लेकर घर भग जाओ"॥७३॥

तब कुनबे के जम्बुक सारे,
खडे हो गये न्यारे न्यारे।
"हुआ हुआ जी खूब हुआ"—
कह बुड्ढे का कदम छुआ॥७४॥

गिरगिट एक वही रहता था,
ज्ञानी अपने को कहता था।

वदल वदल कर रग हजार,
उंमे हुआ था बुद्धि-विकार ॥७५॥

उसकी प्रिया छिपकली काली,
सुन्दरता-मद से मतवाली ।
उसने अण्डे देना चाहा,
वोली मेरे आलीजाहा ॥७६॥

जिसके जो कुछ जी मे आया,
अपना राग सभी ने गाया ।
दिवाभीत ने डिगरी पाई,
यह सुन मुझे रुलाई आई ॥७७॥

है घोसला वहुत वह सुन्दर,
अण्डे देती उसके भीतर ।
ज्ञान कहाँ सव तुमने खोया,
किस रगत में उसे डुवोया ॥७८॥

पास दौड जम्वुक के जावो,
अपना ज्ञानीपन दिखलावो।
लावो छीन घोसला मेरा,
लगै उसी मे कल से डेरा ॥७९॥

तव गिरगिट ने शीग उठाया,
गिनकर वारह वार हिलाया।
कहा इसी दम मैं जाता हूँ,
छीन घोसला ले आता हूँ ॥८०॥

जन्तु सृष्टि के सारे ज्ञानी,
मेरे हाथो पीते पानी ।
वर मैंने गिरिघर से पाया,
विना पढे सव मुझको आया ॥ १॥

यह कह, वह जम्वुक के घर,
दौडा सरपट सर सर सर।
द्विजपति वैनतेय विख्यात,
मिले उंमे, भावी की वात ॥८२॥

उनका पैर पड गया उस पर,
उखडी दुम दो टुकडे होकर।
गिरगिट भगा छिपकली पास,
हुए वास्ता होश-हवास ॥८३॥

छोड़ी सब डिगरी की आस-
हुआ पूँछ का सत्यानाश।
मरहमपट्टी खूब चढाई,
किसी तरह से जान बचाई ॥८४॥

हुआ जम्बुकी न्याय तमाम,
सब सन्तो को मेरा सलाम।
भूल चूक कर दीजे माफ,
बात सदा मैं कहता साफ ॥८५॥

मार्च १९०६

२०—गौरी

(१)

पर्वतपति-मेना की प्यारी,
है यह शैलसुता सुकुमारी।
रुचिर रूप अति इसने पाया,
विधि ने स्वयं इसे निर्माया॥

(२)

हिमकर में जो सुन्दरता है,
कमलो में जो कोमलता है।
जहाँ जहाँ लावण्यता है,
जिसमें जितनी गुण-गुरुता है॥

(३)

जब एकत्र उन्हे कर पाया,
तब विधि ने अभ्यास बढाया।

फिर उसने यह रूप वनाया,
सुन्दरता-समूह उपजाया ॥

(४)

हर को इसने वरना चाहा,
मोहित उनको करना चाहा।
वहुविधि हाव-भाव कर हारी,
विफल हुई पर इच्छा सारी ॥

(५)

शिव ने काम भस्म कर डाला,
वहुत निराश हुई तव वाला।
कठिन तपस्या तव विस्तारी,
गौरी गौरी-शिखर सिधारी ॥

(६)

वरसो वही विताया इसने,
क्लेश कठोर उठाया इसने।
तप से गात सुखाया इसने,
मुनियो को शर्माया इसने ॥

(७)

इसकी देख तपस्या भारी,
हुए द्रवित कैलाशविहारी।
की तव सव इसकी मनभाई,
कुछ दिन मे यह हर-घर आई ॥

(८)

मृत्युञ्जय पति इसने पाया,
प्रेमपाश से वद्ध वनाया।
तन पति का आधा अपनाया,
अपना अति सौभाग्य वढाया ॥

(९)

तव से त्रिभुवन में विख्याता,
गौरी हुई जगत की माता।

दिन दिन महिमा अधिकाती है,
घर-घर में पूजी जाती है ।।

(१०)

इसका चित्र मनोहारी है,
कौशल इसमे अति भारी है।
रविवर्मा की वलिहारी है,
जिसकी ऐसी कृति कारी है।

मार्च, १९०६

२१---आर्य्य-भूमि

["Message to young men" नामक दसवें नम्बर के मराठी पत्र का भावार्थ।]

(१)

जहाँ हुए व्यास मुनि-प्रधान,
रामादि राजा अति कीर्तिमान।
जो थी जगत्पूजित धन्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ।।

(२)

जहाँ हुए साधु महा महान्,
थे लोग सारे धन-धर्म्मवान्।
जो थी जगत्पूजित धर्म्म-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ।।

(३)

जहाँ सभी थे निज धर्म्मधारी,
स्वदेश का भी अभिमान भारी।
जो थी जगत्पूजित पूज्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ।।

(४)

हुए प्रजापाल नरेश नाना,
प्रजा जिन्होंने सुत-तुल्य जाना ।
जो थी जगत्पूजित नीति-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ॥

(५)

वीराङ्गना भारत-भामिनी थीं,
वीरप्रसू भी कुल-कामिनी थीं ।
जो थी जगत्पूजित वीर-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ॥

(६)

स्वदेश-सेवी जन लक्ष लक्ष,
हुए जहाँ हैं निज-कार्य्य दक्ष ।
जो थी जगत्पूजित कार्य्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ॥

(७)

स्वदेश-कल्याण सुपुण्य जान,
जहाँ हुए यत्न सदा महान ।
जो थी जगत्पूजित पुण्य भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ॥

(८)

न स्वार्थ का लेश जरा कहीं था,
देशार्थ का त्याग कहीं नहीं था ।
जो थी जगत्पूजित श्रेष्ठ-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ॥

(९)

कोई कभी धीर न छोडता था,
न मृत्यु से भी मुँह मोडता था ।
जो थी जगत्पूजित धैर्य्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ॥

(१०)

स्वदेश के शत्रु स्वशत्रु माने,
जहाँ सभी ने शर-चाप ताने ।
जो थी जगत्पूजित शौर्य्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ॥

(११)

अनेक थे वर्ण तथापि सारे,
थे एकताबद्ध जहाँ हमारे ।
जो थी जगत्पूजित ऐक्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ॥

(१२)

थी मातृ-भूमि-व्रत-भक्ति भारी,
जहाँ हुए शूर यशोऽधिकारी ।
जो थी जगत्पूजित कीर्त्ति-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ॥

(१३)

दिव्यास्त्र विद्या बल, दिव्य यान,
छाया जहाँ था अति दिव्य ज्ञान ।
जो थी जगत्पूजित दिव्य भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ॥

(१४)

नये नये देश जहाँ अनेक,
जीते गये थे नित एक एक ।
जो थी जगत्पूजित भाग्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्य्य-भूमि ॥

(१५)

विचार ऐसे जब चित्त आते,
विषाद पैदा करते, सताते ।
न क्या कभी देव दया करेंगे ?
न क्या हमारे दिन भी फिरेंगे ? ॥

——

अप्रैल १९०६

२२—शहर और गाँव

(१)

शहर गाँव से बोला भाई।
मुझको तुझ पर मिली बड़ाई॥
मुझसे सबको बहुत नफा है।
तुझसे तो हर शख्स खफा है॥

(२)

मैं आराम बहुत देता हूँ।
काम बहुत से मैं करता हूँ॥
अच्छे अच्छे माल बनाकर।
रख देता हूँ सजा सजा कर॥

(३)

मैं पूरी पकवान, मिठाई।
देता हूँ सब बनी-बनाई॥
बिसकुट, रोटी, नानख़ताई।
मक्खन, रबड़ी, दूध, मलाई॥

(४)

और बहुत से उम्दा खाने।
सबको देता हूँ मनमाने॥
रात-बिरात किसी दम आवे।
थका मुसाफिर खाना पावे॥

(७)

लोई, धुस्सा, शाल, दुशाला।
मिले एक से एक निराला॥
मोती मूँगा, चाँदी, सोना।
जेवर, बरतन और खिलौना॥

(८)

तेरा भी हूँ बहुत सहारा।
मुझसे तेरा बडा गुज़ारा॥
लेकर पैदावारी तेरी।
देता हूँ दौलत बहुतेरी॥

(९)

कर्ज तभी सिर से टलता है।
काम तभी तेरा चलता है॥
तेरे हैं बहुतेरे दुश्मन।
चोर, लुटेरे, साह-महाजन॥

(१०)

मुझ विन तुझे चैन से रहना।
भाई मुश्किल है, सच कहना॥
जजी मुन्सिफी, मैजिस्ट्रेटी।
मैंने तेरे लिए समेटी॥

(११)

हाकिम, अहलकार, बैरिस्टर।
सब बिठलाये तेरी खातर॥
बैद, हकीम डाक्टर, सरजन।
जो हैं सब रोगी के दुश्मन॥

(१२)

ये सब तुझे मदद देते हैं।
विगडा काम बना देते हैं॥
जो मेरा एहसान न माना।
तो है तू पूरा दीवाना॥

(१९)

खुली, साफ बेरोग हवा में।
जो गुन है, वह नही दवा में ॥
पहले तुम थे कहाँ ? बताओ।
कौन काम था रुका ? जताओ ॥

(२०)

किसको क्या तकलीफ रही थी ?
किसको क्या उस वक्त कमी थी ॥
खुली हवा में रहते थे सब।
खाते, पीते, सोते थे सब ॥

(२१)

सब चगे थे, रोग नही था ।
जूडी, प्लेग, बुखार नही था ॥
सादा खाना सब खाते थे ।
पच जाता था, सुख पाते थे ॥

(२२)

दूध दही की कमी नही थी।
गाय-भैस की क्या गिनती थी ॥
तुमने अब जो चाट लगाई।
उसने बीमारी फैलाई ॥

(२३)

तब वैदो की चाह नही थी ।
रोग न थे, परवाह नही थी ॥
जड, फल, फूल, राह में चुनकर ।
भर लेते थे पेट मुसाफिर ॥

(२४)

अब भी मेरा हाल वही है।
सीधी-सादी चाल वही है ॥
तुमसे क्या आराम किसी को ?
दुख ही दुख है सबके जी को ॥

२३—शरीररक्षा

धर्म्मार्थकाममोक्षाणामारोग्य मूलमुत्तमम्।
—चरक

शरीरमाद्य खलु धर्म्मसाधनम्।
—कालिदास।

(१)

शरीर ही के हित काम सारे,
शरीर ही से सुख है हमारे।
आत्मा नही धार्य्य बिना शरीर—
जैसे बिना पिञ्जरबद्ध कीर॥

(२)

शरीर से पुण्य, परोपकार,
शरीर ही है गुण का अगार।
शरीर ही है सुर-लोक-द्वार,
शरीर ही से सुविचार-सार॥

(३)

शरीर ही से पुरुषार्थ चार
शरीर की है महिमा अपार।
शरीर-रक्षा पर ध्यान दीजै,
शरीर-सेवा सब छोड कीजै॥

मई १९०६

२४—गंगा-भीष्म

(१)

पाठक, सुनिए कथा पुरानी,
थे मुनिवर वसिष्ठ विज्ञानी।
पास अष्ट वसु उनके आये,
उनसे गये मुनीश सताये॥

(२)

क्रोध उन्हे इससे हो आया,
वसुओ को यह शाप सुनाया।
"जन्म जगत में लो तुम सारे,
वचन अन्यथा नही हमारे" ॥

(३)

यह सुनकर वे सब घबराये,
कम्पित हुए होश में आये।
भागीरथी समीप सिधाये,
वचन विशेष विनीत सुनाये ॥

(४)

"हे सुरसरि! विपत्ति के मारे,
आये है हम पास तुम्हारे।
जग मे जननी बनो हमारी,
करो हमे निज कृपाधिकारी" ॥

(५)

सुरसरि ने इनको स्वीकारा,
वसु-गण अपनी पुरी पधारा।
हुई जह्नु-तनया तब नारी,
रूप-राशि अद्भुत विस्तारी ॥

(६)

देखा नृप शान्तनु ने उसको,
मदन-विमर्दित-तनु ने उसको।
तब वह उस नरेश की रानी,
हुई, बहुत उसके मनमानी ॥

(७)

हुए सात उसके सुत सुन्दर,
वसुओ के औतार मनोहर।
उनको उसने जल में डाला,
पहले किया हुआ प्रण पाला ॥

(८)

जब देवव्रत अष्टम बालक,
प्रकटा भीष्म-प्रतिज्ञा-पालक ।
सुत-स्नेह से नृप घबराया,
सुरसरि को बहुविधि समझाया ॥

(९)

सूक्ति-युक्त सुन उसकी वाणी,
द्रवित हो गई गंगा रानी ।
उसने वह सुत हाथ उठाया,
इस प्रकार वर-वचन सुनाया ॥

(१०)

"हे नृप मुझको सुरसरि जानो,
बात सत्य यह मेरी मानो ।
कारण-वश जग मे आई मैं
यहाँ तुम्हारे मन भाई मैं ॥

(११)

"अब मैं अपने घर जाती हूँ,
नही यहाँ रहने पाती हूँ ।
सुनो बात जो बतलाती हूँ,
यह सुत तुम्हे दिये जाती हूँ ॥

(१२)

"वैरी इससे घबड़ावेंगे,
पार नही इससे पावेगे ।
यदि कोई सम्मुख आवेगे,
तत्क्षण ही मारे जावेंगे ॥

(१३)

ब्रह्मचर्य्य व्रत इसका होगा,
यश न कभी मृत इसका होगा,
पण्डित होगा, सच कहती हूँ,
अनुमति चलने की चहती हूँ ॥

[illegible] मुरारि ने चुन दिया,
कुसुम [illegible] पर उसने लिया।
उसका [illegible] विचित्र बना है,
[illegible] की रचना है॥

मई, १९०६

२५—कर्तव्य पञ्चदशी

["Message to youngiren" नामक चौथे नम्बर के मराठी पत्रक का भावार्थ]

(१)

दुर्भिक्ष-राक्षस जहाँ सबको सताता,
लाखों मनुष्य यह प्लेग-कृतान्त खाता।
नाना विपत्ति-अभिभूत प्रजा जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है?

(२)

भूखों जहाँ मर रहे नर है करोर,
बे-वस्त्र लोग सहते नित शीत घोर।
दारिद्र-दुःख नित ही बढता जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है?

(३)

आरोग्य-युक्त बलयुक्त सपुष्ट-गाता,
ऐसा जहाँ युवक एक न दृष्टि आता।
सारी प्रजा निपट दीन दुखी जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है?

(४)

वीर्य्यादि दिव्य गुण का न जहाँ ठिकाना,
द्रोहादि दुर्गुण जहाँ सब ओर नाना।
धैर्य्यादि का अति अभाव सदा जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है?

(५)

सेवा स्ववृत्ति सब काल जहाँ हमारी,
फैली जहाँ पर विदेशज वस्तु सारी।
देशी कला सकल नष्ट हुई जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है?

(६)

पाता न शिक्षण जहाँ शिशु-वृन्द सारा,
बाला-समूह सब मूर्ख जहाँ हमारा।
नाना कला-कुशलता न कहीं जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है?

(७)

विद्वज्जन-प्रिय जहाँ परकीय भाषा,
होती तिरस्कृत जहाँ निज मातृ-भाषा।
ऐसी अनर्थकर-रीति भला जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है?

(८)

सानन्द और सुख-युक्त जहाँ न नारी,
पाते जहाँ पुरुष भी नित कष्ट भारी।
तेजोविहीन शिशु-वृन्द अहो! जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है?

(९)

स्वीकार लोग करते न नई सु-रीति,
प्राचीन है—न तजते इससे कु-रीति।
दुर्दैव-योग यह फैल रहा जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है?

(१०)

स्वाधीन-राग धन-राग जहाँ न प्यारे,
संसार में जन जहाँ स्वमान मारे।
प्रमाद-दुर्गुण निमग्न सभी जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है ?

(११)

अन्योन्य-वैर-रत गण जहाँ समग्न,
ज्ञानी, अज्ञान सब हैं कलह-प्रसन्न।
साम्राज्य मोह-मद-मत्सर का जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है ?

(१२)

उत्साह-हीन कृति-विमुख लोक-नेता,
औदास्य-भाव अति दुःसह दुःख देता।
है धर्म्म क्या ? न यह ज्ञान कहीं जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है ?

(१३)

कर्तव्य लोग करते न जहाँ सदैव,
होता सहायक वहाँ न कदापि दैव।
पाता न मान यह तत्त्व भला जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है ?

(१४)

है भूतकाल सब स्वप्न-कथा-समान,
चिन्ता-निमग्न निशि-वासर वर्तमान।
नैराश्यपूर्ण अगली गति भी जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है ?

(१५)

अत्यन्त दीन यह भारतवर्ष देश,
दुःखाग्नि-दग्ध विनती करता विशेष।
अत्यल्प भक्ति मम हाय ! नहीं जहाँ है,
कर्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है ?

जून १९०६

२६—कवि और स्वतंत्रता

(भावार्थ)

(१)

कवि—हे स्वतन्त्रते ! जन्म तुम्हारा
कहाँ ? बता, यह प्रश्न हमारा।
स्वतन्त्रता—शूर देश-हित तजते जहाँ
प्राण, जन्म मेरा है वहाँ ।

(२)

कवि—बता, निवास कहाँ तेरा है ?
यह भी एक प्रश्न मेरा है।
स्वतन्त्रता—उष्ण रक्त जिन हृदयो भीतर
बहता, वही वास मम सुन्दर ।

(३)

कवि—कौन दुख तेरे हरता है ?
आशा पूर्ण कौन करता है ?
स्वतन्त्रता—काल, जगत का उन्नतिकर्ता
आशापूरक दुख का हर्ता

(४)

कवि—शक्तिमूल तव कहाँ बता दे ?
है किस जगह मुझे दिखला दे ?
स्वतन्त्रता—प्रजा-पीडना होती जहाँ
शक्ति-मूल मम रहता वहाँ ।

(५)

कवि—कहाँ निडर हो रहती तू है—
जाना कही न चहती तू है ?
स्वतन्त्रता—जहाँ न भेद-विरोध-विकास
वही निडर मैं करती वास ।

(६)

कवि—कब तू जन्म सफल जानेगी ?
कब कृतार्थता तू मानेगी ?
स्वतन्त्रता—शान्तिराज्य जब पाऊँगी मैं ।
तब कृतार्थ हो जाऊँगी मैं ॥

जुलाई १९०६

२७—देशोपालम्भ

(१)

हे भाग्यहीन ! हत ! भारतवर्ष देश !
हे हे विनष्ट-धन-धान्य-समृद्धि-लेश !
प्राचीन-वैभव-विहीन ! मलीन-वेश !
हा हा ! कहाँ तव गई गरिमा विशेष ?

(२)

जो थे प्रणम्य पहले तुम कीर्तिमान,
विज्ञान और बल-विक्रम के निधान।
सम्पत्ति, शक्ति निज खोकर आज सारी,
हा हा ! हुए तुम वही सहसा भिखारी॥

(३)

स्वाधीनता-सदृश वस्तु न और प्यारी,
हे दीन-देश ! वह भी न रही तुम्हारी !
व्यापार एक तुमको कर खूब आया,
आलस्य-मोह-मद-मत्सर-मन्त्र भाया ॥

(४)

हा ! सभ्यभाव तुमने जिनको सिखाया,
विद्या-कलादि गुण से जिनको लजाया।
देखो, वही अब असभ्य तुम्हें बनाते,
तौभी कभी न कुछ भी तुम चित्त लाते॥

(५)

आत्माभिमान-गुण के अतिमात्र त्यागी,
हे देश ! क्यो न तुम डूब मरे अभागी ?
आत्मावलम्ब जिसको कुछ भी न प्यारा,
देता उसे न जगदीश्वर भी सहारा ॥

(६)

दिव्यातिदिव्य तव रत्न, अहो, कहाँ है ?
शोभा-समूह पट-पुञ्ज, कहो, कहाँ है ?
खोया सभी कुछ, न, हाय, तुम्हे हया है !
हे देश ! शेष तुममें रह क्या गया है ?

(७)

नि सार होकर पडे तुम जी रहे हो,
पानी सदैव पर के कर पी रहे हो ।
अन्यावलम्ब-सम और न पाप भारी,
वोलो, गई विमल वुद्धि कहाँ तुम्हारी ?

(८)

हे आत्मशत्रु ! परदेशज वस्तु त्यागो,
सौ कोस दूर उससे सब काल भागो ।
जागो, चहो यदि अभी अपनी भलाई,
क्यो आँख मूँद करते निज नाश भाई ?

(९)

क्यो है तुझे पट विदेशज, देश, भाये ?
क्यो है तदर्थ फिरता मुँह नित्य वाये ?
तूने किया न मन मे कुछ भी विचार,
धिक्कार भारत ! तुझे शत-कोटि वार !

(१०)

सूई, छडी तक, निकृष्ट दियासलाई,
लेता सदैव मुख से फिरता पराई ।
निर्लज्ज ! सोच मन मे कर क्या रहा है ?
क्यो व्यर्थ ही धन अपार लुटा रहा है ?

(११)

लूटा तुझे, बहुत बार गुले-खजाना,
तातार-गोर-गजनी नृप ने न माना।
पै लूट, आज-काल, जो यह हो रही है,
तू सोच देख उससे बढके कहीं है॥

(१२)

छाई जहाँ अति अपार दरिद्रता है,
प्राचीन धान्य-धन का न कहीं पता है।
दुष्प्राप्य पेट भर नित्य जहाँ न दाना,
क्या चाहिए धन वहाँ पर यों लुटाना?

(१३)

जो जो पदार्थ तुमको अपने बनाये,
हैं प्राप्य, लो तुम वही, न छुवो पराये।
लावो न गे वचन जो मन मे हमारा,
तो सर्वनाश अब दूर नहीं तुम्हारा॥

(१४)

हे देश! सै-प्रण विदेशज वस्तु छोडो,
सम्बन्ध सर्व उनसे तुम शीघ्र तोडो।
मोडो तुरन्त उनसे मुँह आज से ही,
कल्याण जान अपना इस बात मे ही॥

(१५)

हे दीन-देश! तव निंद्य परायलम्ब,
नाशै समूल, सुखकारिणि शक्ति अम्ब।
त्यागो तुरन्त विष-तुल्य विदेश वस्तु,
सानन्द पाठक! कहो तुम भी 'तथास्तु'॥

"स्वदेशी-आन्दोलन और बायकाट" अगस्त १९०६

२८---कान्यकुब्ज-अबला-विलाप*

(१)

प्यारे पिता, पुत्र-वर, भाई—वन्धु आदि जो सारे हैं,
ससुर, जेठ, देवर, पति, पुरजन जो जग वीच हमारे हैं।
दयादृष्टि करिए थोडी-सी सुनिये हम क्या कहती हैं,
अवला होकर मवलो के घर किस प्रकार हम रहती हैं ॥

(२)

कितने ही तुम मजिस्ट्रेट जज न्यायासन के अधिकारी,
वडे शरम की वात दुख जो पावे तुमसे ही नारी ।
अव तक रही पेट में डाले दुख अपने भारी भारी,
पर अव नहीं सही जाती है विपति मर्म्म-कन्तनकारी ॥

(३)

अपनी दशा याद करते ही फटा कलेजा जाता है,
निकल पेट के भीतर से वह मुंह में आ आ जाता है ।
किया कौन अपराध हाय कुछ नही समझ मे आता है,
निरपराध निर्बल नारी-गण वृथा सताया जाता है ॥

(४)

यदि न जगत मे होवें हम तो नाश नरो का हो जावे,
रक्खी रहे बुद्धि, विद्या, वल, काम नही कुछ भी आवे ।
ध्रुव, प्रह्लाद, व्यास, शङ्कर ने जन्म हमी से पाया है,
मनुज-रत्न जो हुए सभी को हमने गोद खिलाया है ॥

(५)

जिस घर में हम नही, शीघ्र ही वियावान हो जाता है,
कदम हमारे पडते ही वह नन्दनवन वन जाता है ।
दुख मे हम जी-जान होमकर साथ तुम्हारा देती हैं,
तुम्हे खिलाकर रूखा-सूखा जो वचता खा लेती हैं ॥

---

* यह कविता कन्नौज में कान्यकुब्ज-महासभा के अधिवेशन में पढी गई थी ।

(६)

"जहाँ हमारा आदर होता वही देवता करते वास,
जहाँ निरादर होता वह घर हो जाता है सत्यानाश।"
देखो खोल पोथियाँ अपनी यह मनु जी की वानी है,
तुममे से किससे किससे यह गई यथा-विधि मानी है ? ॥

(७)

सच पूछो तो हम, हे भाई, अपने घर की महरानी,
खुशियो में हम खुशी मनावे दुख में ज़रा न घवरानी ।
पडने पर विपत्ति हमसे ही मिलता तुम्हे दिलासा है,
"भीरु" वनाया तिस पर हमको तुमने अजब तमाशा है ॥

(८)

इज्ज़त और आवरू सारी जिस पर तुम इतराते हो,
सोचो ज़रा, वन्धुवर प्यारे, उसे कहाँ से पाते हो ?
अगर नेकचलनी में हमसे ज़रा भूल हो जाती है,
चाहो यत्न करो तुम लाखो फिर न हाथ वह आती है ॥

(९)

पति को देव-तुल्य हम माने वच्चो की भी दासी है,
सेवा सदा करे नहिं सोचें भूखी है या प्यासी है ।
धर्म्म-कर्म्म तुम जिसे पुकारो उसे हमी में पाओगे,
सोचो-समझो अभी, नही तो फिर पीछे पछताओगे ॥

(१०)

यदि अभाग्यवश अपने पति का चिर वियोग-दुख पाती है,
परिणामो पर ध्यान न देकर जीती ही जल जाती है ।
दुराचरण मे तुम्हे देख रत विलख विलख रह जाती है,
वश कुछ नही करे क्या तुममे केवल हाहा खाती है ॥

(११)

पैदा जहाँ हुई हम घर में सन्नाटा छा जाता है,
वडे वडे कुलवानो का तो मुंह फीका पड जाता है ।
कन्या नही वला यह कोई यही चित्त मे आता है
किसी किसी के ऊपर मानो वज्रपात हो जाता है ॥

(१२)

हे भगवान ! भला फिर क्यो तुम हमे हाय उपजाते हो ?
क्या न हमारे लिए ठिकाना कही और तुम पाते हो ?
नारी, नर, दोनो ही जग मे यदि प्रभु तुम्ही पठाते हो,
तो कहिए किसलिए दयामय ! पक्षपात दिखलाते हो ॥

(१३)

जो बच गई मौत के मुंह से जल्द बडी हो जाती हैं,
माता, पिता, बन्धुवर्गो के हुक्म सदैव बजाती हैं ।
काम महा मैले घर के सब करने में न लजाती हैं,
जो कुछ मिल जाता खा-पीकर खुशी खुशी सो जाती हैं ॥

(१४)

कूडा, करकट, वर्तन, चौका, गोबर सदा उठाती हैं,
शिक्षा और कला-कौशल में इतना ही सिख पाती हैं ।
जो विद्या पुरुषों को सुखकर सुधा-सदृश मङ्गलकारी,
वही हमारे लिए विषम विष, विमल वुद्धि की बलिहारी ॥

(१५)

व्याह-योग्य होने पर दुखित होती, लाजो मरती हैं,
काँटे-सी सबके आँखो में निशि-दिन खरका करती हैं ।
कितनी ही आमरण कुवाँरी हममे से रह जाती हैं,
मन ही मन सन्ताप-ताप से तन चुपचाप जलाती हैं ॥

(१६)

यदि कुलीन निर्धन के घर मे जन्म हमारा होता है,
तो अवला-समुदाय जन्म भर हाय सभी सुख खोता है ॥
बीस वर्ष में यदि विवाह, गौना मुश्किल से होता है,
पति-घर की ताडना याद कर जार जार उर रोता है ॥

(१७)

खाने को न पेट भर मिलता नथ, विछिया बिक जाती है,
जरा जरा-सी भी बातो पर नित डडे हम खाती हैं ।
जिन्दा ही जलती रहती हम, जब दुख अति अधिकाता है,
फिर पापी तन पिता-भवन मे आकर आश्रय पाता है ॥

(१८)

इन झूठी कुलीनता को है गिन कर लाख वार धिक्कार,
जिसके कारण हम अवला सब पाती इतना दुख अपार ।
किस मुँह से तुम न्यायी परमेश्वर के सम्मुख जावोगे ?
क्या कह उसके अटल न्याय से परित्राण तुम पावोगे ॥

(१९)

यदि अभाग्य से कही हमारे हुआ सुहागिलपन का नाश;
यही हमें जीते ही मिलता रौरव-नरक-कुण्ड का वास ।
जिसने पुरुष-जाति को जग मे न्यायाधीश वनाया है,
उसी निठुर ने सब सहने मे वज्र हमे उपजाया है ॥

(२०)

महा मलिन से मलिन काम हम करती रहती हैं दिन-रात,
दुखी देख पति, पिता, पुत्र को व्याकुल हो कृश करती गात।
हे भगवान, हाय ! तिस पर भी उपमा कैसी पाती हैं,
"ढोल-तुल्य ताडन-अधिकारी" हमी वनाई जाती है ! ॥

(२१)

कभी कभी गुडिया-सी वचपन ही मे व्याही जाती है,
जिसके कारण ही अति दुसह दुख जन्म भर पाती हैं ।
प्यारे पिता, वन्धुवर, तुम कव भला होश में आवोगे ?
कव हम दुखी दीन अवलाओ पर तुम दया दिखाओगे ॥

(२२)

पढे-लिखे जो नही, जिन्होने शिक्षा नही कभी पाई,
उनके साथ वात तक करते सकुचाते हो हे भाई ।
पर हम जो घर मे ही रहती, जिनसे सब सुख पाते हो,
उन्हे मूर्ख रखने मे क्यो तुम ज़रा नही शरमाते हो ? ॥

(२३)

सबके सब दिन नही वरावर जाते, इसमे नही विवाद,
कभी अवश्य मिलेगी हमको भी दुनिया में चुप की दाद ।
है हमको विश्वास हृदय से आगे वह दिन आवेगा,
जो अन्याय हो रहा उसका सब हिसाव चुक जावेगा ॥

(२४)

छोडो सब कुरीतियाँ कुल की, छोडो अब तो निठुराई,
बहुत हो चुका कनवजियापन सुनिए हे प्यारे भाई।
जिसमे बनै बात वह करिए, रख लीजिए हमारी लाज,
दुख-सागर में डूब रहा है अबलाओ का जीर्ण जहाज़॥

सितम्बर १९०६

२६—टेसू की टाँग

बजै आज यारो का गाँग[१],
लाँग[२] नहीं, यह छोटा साँग[३]।
तोडो इस टेसू की टाँग,
लडको, फिर तुम छानो भाँग॥ १॥

इधर-उधर से पैसे माँग,
मकतब-मसजिद में बन स्वाँग।
देता था यह पहले बाँग,
बात नही यह कुछ भी राँग[४]॥ २॥

घर है इसका रेगिस्तान,
गुरू शेख़ जी, मुगल, पठान।
ख़ुदा लडकपन का भगवान,
आगे का अब सुनो बयान॥ ३॥

अरबी का हो अफ़लातून,
दौड चला यह छूने मून[५]।
इतने मे हो गया जिनून,
यह कोरा रह गया बफून[६]॥ ४॥

देखी कुँजडे की दूकान,
बैठ गया बस वही जवान।
बरसो बेचे सब सामान,
डडी पकड हुआ सज्ञान॥ ५॥

१—घटा। २—बड़ा। ३—गीतम्र। ४—ग़लत। ५—चन्द्रमा। ६—भाड।

इन्द्र-अखाडे की एक हूर,
देख वहाँ पर इसका नूर ।
उड ले गई कोसों दूर,
जाकर की खातिर भरपूर ॥ ६ ॥

पेशवाज उसने पहनाई,
चमकदार चोली कसवाई ।
घुंघरू बांध, दुपट्टा ताना,
टेसू जी को किया जनाना ॥ ७ ॥

लगे थिरकने टेसू राजा,
बजा खूब अलबेला बाजा ।
तातायेई की धुन लगी,
हया छोड, भक्खर को भगी ॥ ८ ॥

देख ठाठ यह माशूकाना,
हुआ खलक सारा दीवाना ।
"करता क्या बेचारा काज़ी,
मर्द और जोरू जब राज़ी" ॥ ९ ॥

मुंह पर बाल हुए जब काले,
तब टेसू जी गये निकाले ।
गिरे धडाम, उड गये धुर्रे,
बोलो लडको, "हिप हिप हुर्रे" ॥ १० ॥

रही न उठने की भी ताब,
एक टाँग के हुए जनाब ।
कलम आपने उससे बाँधी,
चलने लगी मिस्ले वह आँधी ॥ ११ ॥

कुन्द, मुकुन्द और मुचकुन्द,
भण्ड-भेष तुम चौपटचन्द ।
चौपटचन्दी हाल सुनाऊँ,
टेसू का सब मजा चखाऊँ ॥ १२ ॥

पूरब-पश्चिम दौड लगाई,
नही पेट भर रोटी पाई ।
तब सूरत ले सत्यानाशी,
बने आप गंगातटवासी ॥ १३ ॥

अरबी-तुर्की वहाँ भुलाई,
"कक्का का" की तान उठाई ।
सनद सफाचट ज्यो ही पाई,
कलम रेल-सी झट दौडाई ॥ १४ ॥

रहे खोलने मे अलमारी,
घुसी उसी में विद्या सारी ।
चौपट हुई अक्ल महरानी,
मरी उसी दम उसकी नानी ॥ १५ ॥

नानी मरी कनागत आये,
टेसू जी तब बाहर धाये ।
देखी धोबिन एक सयानी,
ले उसकी कुण्डी का पानी ॥ १६ ॥

सात पुश्त के पुरखे तारे,
खुद भी उसमें गोते मारे ।
सारी पुजा-पाठ सँभाली,
स्वर्ग-लोक को सडक निकाली ॥ १७ ॥

काली ने एक शहर बसाया,
टेसू दौड वही पर आया ।
टाँग वही उसने फैलाई,
पकड उसे दिन-रात हिलाई ॥ १८ ॥

नौ मन खटमल जिस पर छाये,
टूटी ब्यच, तख्त, मँगवाये ।
उन पर अपनी टाँग पसारी,
खटमल चाट गये दुम सारी ॥१९ ॥

गन्दा घर, भई गन्दा घर,
चादर-चिथडो की दुल्तार ।
चने पडे उस पर चुरमुर्रे,
बोलो लडको, "हिप हिप हुर्रे" ॥ २० ॥

उसको एक कलूटा भाया,
कोट-बूट उसको पहनाया ।
घडी एक उसके लटकाई,
उसके लिए ट्रक मँगवाई ॥ २१ ॥

हुआ वही टेसू का प्यारा,
उम्र कोई सत्रह-अट्ठारा ।
किया उसे आँखो का तारा,
था कहार या वह वनजारा ॥ २२ ॥

उस पर टेसू करे सवारी,
देख हँस रही दुनिया सारी ।
लडके भगे हाथ रख सिर पर,
टेसू रहा अकेला घर पर ॥ २३ ॥

जोरू तब जी मे घबराई,
चीख़ मार रोई-चिल्लाई ।
टेसू ने उठ धता बताई,
"खल को खाय कालिकामाई " ॥ २४ ॥

बना एक चण्डाल-चौकडी,
टेसू हुआ उसी की कडी ।
हिल-मिल सबने काम चलाया,
जो जैसा जिसको कर आया ॥ २५ ॥

एक बकार चाकडीवाला,
घर से निकल हुआ मतवाला ।
वह गुरुओ के घर को भगा,
बिना बुलाये जाने लगा ॥ २६ ॥

कदम चूम रज सिर पर रक्खी,
कूद पड़ी इतने में मक्खी।
मक्खी ने उड़ आग लगाई,
टुमची जलने लगी पराई ॥२७॥

अगर न सीताराम बचाते,
तो चकार जी जल-भुन जाते।
यार न समझो इसे चकार,
यह पूरा पिशाच-अवतार ॥२८॥

ऐसा निपट नीच नर-पिल्ला,
गुरुओं का भी करता गिल्ला।
इससे ही टेसू को भाया,
"जैसा पति वैसी ही जाया" ॥२९॥

तख़्त और एक सज कर आया,
उसे देख टेसू घबराया।
उठने लगे पेट में मुर्रे,
बोलो लड़को "हिप हिप हुर्रे" ॥३०॥

मुंह उसने तब अपना खोला,
मानो मिल* का बबा बोला।
बक बक उसने खूब लगाई,
हया-शर्म सब धोय बहाई ॥३१॥

ए० बी० सी० डी० ई० एफ० सीख,
अँगरेज़ी में मारी चीख।
देख ससकीरत का स्वाव,
उसमें भी कुछ दिया जवाब ॥३२॥

और तख़्तवाले चुपचाप,
सुनते रहे अनाप-शनाप।
टेसू की गुस्ताखी देख,
मजलिस बिगड़ उठी सविशेष ॥३३॥

---

* कारखाना।

सिर बरसे लठ भारी भारी,
निकल गई गुस्ताखी सारी।
टाँग टूट घर लौटे आई,
टेसू ने उठ टाँग लगाई ॥३४॥

मैंने कुछ भी नहीं बिगाड़ा,
बस अब मुझे मिल गया भाड़ा।
मेरे सिर आया था भूत,
भूत नही, था यम का दूत ॥३५॥

अब वह उतर गया है भाई,
छोड़ो मुझको राम दुहाई।
मैं बेचारा बड़ा गरीब,
और करो मत मेरी पीब ॥३६॥

सिर का हुआ कचूमर खासा,
देखा सबने खूब तमाशा।
टेसू जी तब घर को भगे,
दौडे लडके पीछे लगे ॥३७॥

दुम में दे दी दियासलाई,
फिर टेसू की शामत आई।
जले-भुनें घर भीतर पैठे,
उसी तख्त टूटे पर बैठे ॥३८॥

पडे वहीं पर काँखा करते,
कुफल किये का चाखा करते।
फिर आयेंगे अगले साल,
जमने दीजे तब तक खाल ॥३९॥

बहुत दिनो तक टेसू रोये,
पूरे दो सौ साथी खोये।
पास लोग यदि अब है जाते,
काट उन्हे टेसू जी खाते ॥४०॥

लङ्को आई दिव्य दिवाली,
जै काली कलकत्तेवाली ।
उडे खूब खुशियो के तुर्रे,
बोलो सब मिल "हिप हिप हुर्रे" ॥४१॥

अक्टूबर, १९०६

२०—ठहरौनी

(१)

विबुध, बन्धु-वर, कान्यकुब्ज-कुल लब्ध-जन्म, तेजोराशी,
इस कन्नौज-नगर के द्विजवर वा सराय-मीरा-वासी ।
अथवा दूर दूर से विद्वज्जन जो यहाँ पधारे है,
भाल चारु चन्दन से चर्चित उर मे माला धारे है ॥

(२)

रग-विरगी पगडी जिनकी शिखा-स्पर्श सुख पाती है,
जिनको देख पूर्व-पुरुषो की छवि सम्मुख आ जाती है।
भरद्वाज, काश्यप, कात्यायन, शुचि शाण्डिल्य गोत्रधारी,
मुनि उपमन्यु आदि के वशज गुण-गौरव के अधिकारी ॥

(३)

वही आज सब यहाँ विराजे पाँडे, मिश्र, शुक्ल द्विजराज,
पूरे बीस बीस बिस्वे के विमल वाजपेयी महराज।
जिनके दर्शन ही मे मन का अजब हाल हो जाता है,
पूर्व-स्मृति-पयोद-पटलो मे वह सहसा घिर जाता है ॥

(४)

श्री-श्रीहर्ष मिश्र कविवर ने यही सुयश विस्तारा था,
बुध-वर-वृन्द यही पर उनमे तर्क-वाद मे हारा था ।
मख महान् कर यही उन्होने ऊँची पदवी पाई थी,
यही उन्होने अपने कुल की महिमा खूब बढाई थी ॥

(५)

यह वह प्रान्त जहाँ रहने से कान्यकुब्ज कहलाये हम,
यह वह भूमि नाम जिसका ले जाय विदेश बिकाये हम।
यह वह नगर जहाँ वसने को वन्धु-वान्धव लाये हम,
दूर दूर नगरो के वासी वही आज सब आये हम॥

(६)

है यह वही, परन्तु नही है इसका पहला वैभव वह,
क्या से क्या हो गया वन्धुवर! आदि-स्थान हमारा यह।
नही एक भी वैसे पण्डित सम्प्रति यहाँ दिखाते है,
पहले के आचार-विचारो मे भी अन्तर पाते है॥

(७)

पूर्वकाल के विद्वानो की वात याद जब आती है,
मुँह पर समझदार सुजनो के श्यामलता छा जाती है।
जो कुछ किया उन्होने उसको विस्मृति होती जाती है,
कुछ का कुछ कर ज्ञाति हमारी मन मे नही लजाती है॥

(८)

मुझ अल्पज्ञ दुवे मे इतनी वुद्धि नही, न पण्डिताई,
जो कुछ करूँ निवेदन तुमसे, सच कहता हूँ हे भाई!
तदपि आप ही की आज्ञा से, विनय विनीत सुनाऊँगा,
सुन लोगे तो उतने ही से मै कृतार्थ हो जाऊँगा॥

(९)

लडके के विवाह मे कहिए मोल-तोल क्यो करते हो?
इस काले कलङ्क को हा हा! क्यो अपने सिर धरते हो?
जिनके नही शक्ति देने की क्यो उनका धन हरते हो?
चढकर उच्च सुयश-सीटी पर क्यो इस भाँति उतरते हो?॥

(१०)

हे प्रिय वन्धु! पूर्व-पुरुषो का धर्म्म, नीति, आचार, विचार
विनय, विवेक, विशद-विद्या-वल, निर्म्मल यशोराशि-विस्तार।
उनका नाम, काम सब उनके, उनकी महिमा, उनका मान,
जरा सोच देखो तो मन मे, थे कितने वे बुद्धि-निधान॥

(११)

फिर हे कान्यकुब्ज-कुल-नन्दन! खजुहा और मुरादावाद,
ऊगू, अमनी और गेगासो आदिक की कर लीजे याद।
ठहरौनी के कारण उन पर वह वह आफत आती है,
सव गहनो की नाक, नाक की नथुनी तक बिक जाती है॥

(१२)

कहाँ पूर्वजो की वह करनी? कहाँ हमारा ऐसा काम?
निपट, निंद्य, निर्दय, अति निष्ठुर, न्यायहीन, दोषो का धाम।
कन्याकुल को भाँति भाँति से पीडित हम नित करते है,
मुनियो के वशज होने का तिस पर भी दम भरते है॥

(१३)

सुत है नहीं वस्तु विक्रय की, वह सर्वस्व हमारा है,
वह आत्मा का आत्मरूप है, वह आँखो का तारा है।
भूल हुई सो हुई वन्धु-वर! अव अवश्य सँभालो तुम,
इस कलङ्क को अपने उज्ज्वल कुल से झट धो डालो तुम॥

(१४)

मुनि उपमन्यु और कात्यायन, कश्यप देवलोकवासी,
देख देख अतिशय दुखित हो यह कुरीति सत्यानाशी।
क्या कहते होगे मन ही मन उन्हे न और सतावो तुम,
उनके विमल नाम पर धब्बा व्यर्थ न और लगावो तुम॥

(१५)

किस स्मृति मे, किस गृह्यसूत्र मे, किस पुराण में, वतलावो,
है विधान इस मोल-तोल का, खोल क्यो न तुम दिखलावो?
जो इसका कुछ पता नही तो क्यो यह रीति चलाते हो?
क्यो न इसे हे प्यारे भाई! छोड अलग हो जाते हो?

(१६)

महामूढ अविवेकी जन ही रूढ रीतियो के वन दास,
अपना और वश अपने का आँख मूँद कर करते नाश।
जो सुधार का ध्यान तुम्हारे मन में स्थान न पावेगा,
उनमें और आपमें, कहिये, भेद कौन रह जावेगा?

(१७)

जान बूझ कर भी जो अपनी हानि से न घबराते है,
निंद्य, नीच, अनुदार, पुरानी लीक पीटते जाते है।
वे अवश्य इस भूल भयङ्कर पर सिर धुन पछताते हैं,
शायर, सिंह, सपूत कभी क्या लीक लीक भी जाते है?

(१८)

यह कुरीति कुल-कन्याओ का कोमल हृदय जलाती है,
मनस्ताप से उनके तन को तप्ताङ्गार बनाती है।
बीस वर्ष की होने पर भी अविवाहित रह जाती है,
मुँह से यदपि न कुछ कहती है, अति दु सह दुख पाती है।

(१९)

वे व्याही चाहे रह जावे, चाहे करे वश बदनाम,
मर जावे, परवाह नही है, हमें सिर्फ रुपये से काम।
पाँच का न व्यवहार हमारा, लेगे हम तो एक हज़ार,
चारु चमकवाले चाँदी के वही अखण्ड-मण्डलाकार?

(२०)

हे भगवान्! कहाँ सोये हो? विनती इतनी सुन लीजे,
कामिनियो पर करुणा करके कमले! ज़रा जगा दीजे।
कनवजियो मे घोर अविद्या जो कुछ दिन से छाई है,
दूर कीजिए उसे दयामय! दो सौ दफे दुहाई है॥

(२१)

यह भी नही सोचते हम, क्या दुनिया हमको कहती है?
कान्यकुब्ज की भूमि अभागी! तू भी सब कुछ सहती है।
क्यो न छोडते हो कुरीति यह अतिशय निंद्य दुखदाई?
क्या जवाब रखते हो इसका? बतलावो तो हे भाई!॥

(२२)

पुत्रवान् लोगो के घर क्या कन्या कभी न आयेगी?
क्या उनको इन ठहरौनी की व्यथा न कभी सतावेगी?
वर-विक्रय-बाज़ार बीच क्या कभी नहीं वे जावेंगे?
हार और के जाकर क्या वे ज़िल्लत नहीं उठावेंगे?॥

(२३)

अपने निर्धन बन्धु-वरो की जो तुमको परवाह नही,
हाय हाय ! तो कन्याओ के दुख पर भी क्या आह नही?
उनकी गुप्त अश्रुधारा जो कही निकल वाहर आवे,
तो यह चन्दन-खौर हमारा सारा उससे धुल जावे ! ॥

(२४)

दत्त, प्रसाद और नारायण आदिक है कितने ही वीर,
जिनके कुलिश-कठोर हृदय में कन्याओ की जरा न पीर।
कान्यकुब्ज-कुल के नायक वन करते है अतिगर्हित काम,
लडको को पढाय अँगरेजी फिर उनको करते नीलाम ॥

(२५)

वीघे-विश्वे से मर्यादा अव तक नापी जाती थी,
कन्याकुल की फूँक सम्पदा सुख से तापी जाती थी।
एम० ए०, वी० ए० की सनदो से अव है होने लगे करार,
ऐसे सुजन शिरोमणियो को गिन कर वीस वार धिक्कार ! ॥

(२६)

जरा देर के लिए समझिए आप षोडशी क्वारी है,
(क्षमा कीजिए असभ्यता को हम ग्रामीण अनारी है)।
मान लीजिए नयन आपके कानो तक वढ आये है,
पीन पयोधर देख आपके, कुञ्जर-कुम्भ लजाये है ॥

(२७)

ज्यो ज्यो कटि घटती जाती है, चिन्ता वढती जाती है,
मदनदाह से देह दिनो दिन दुवली होती जाती है।
रात रात भर नीद आपको नही जरा भी आती है,
हाय हाय कर ठडी साँसे लेते वह कट जाती है ॥

(२८)

देख देख यह दशा आपकी माता व्याकुल होती है,
सिर हाथो पर रख सारा दिन फूट फूट कर रोती है।
घर में "भूँजी भाँग" नही है, पिता करे क्या वेचारा,
विना दहेज मिले वर कैसे? दौड दौडकर वह हारा ॥

(२९)

वह कहिए इस समय आप पर कैसी बीतेगी भाई !
ठहरौनी की निंद्य रीति यह होगी कितनी दुखदाई !
इससे इसे छोड अब दीजे मान लीजिए मेरी बात,
अपने ही कुल की कन्याओ को कलपावो मत दिन-रात ॥

(३०)

किसी किसी ने इस कुरीति को पहले ही से छोडा है,
त्याज्य समझ इस पिशाचिनी को इससे निज मुंह मोडा है।
जिनमें प्रचलित है उनको भी इसे छोडना ही चहिए,
भूल जाइए मत घर जाकर, भाई 'एवमस्तु' कहिए ॥

(३१)

जो अपने को उच्च मानते है, उनके न द्वार जावो,
ठहरौनी करके कौडी भी कभी न उनको दिखलावो।
जो अपने को सम समझे है, जिनको नही उच्चता-गर्व,
सालकृत कन्या उनको ही दे, सम्वन्ध कीजिए सर्व ॥

(३२)

यही शास्त्र की रीति, यही थी प्रचलित पहले हे भाई !
अवलम्बन कीजिए इसी का, यही महा मङ्गलदायी।
औरो के करने पर हम भी होगे उसके अनुयायी—
यह विचार कर देर न करिए, वहुत हो चुकी निठुराई ॥

(३३)

शुभ कामो मे देर लगाना नही वुद्धिमानी का काम,
वडे वडे ज्ञानी-विज्ञानी कहते है यह वात तमाम।
अनुचित निकल गया हो यदि कुछ, हे भाई ! हे गुण-गण-धाम !
क्षमा कीजिए उसे वन्धुवर ! जाता हूँ, वस तुम्हे प्रणाम ॥

नवम्बर, १९०६

---

* यह कविता कन्नौज मे कान्यकुब्ज-महासभा के अधिवेशन में पढी गई थी।

२१——प्रियंवदा

(१)

यह है प्रियवदा पति-प्यारी,
कुलकामिनी पारसी नारी।
इसकी रुचिर रेशमी सारी,
तन की द्युति दूनी विस्तारी॥

(२)

नित सरितापति-तट को जाती,
नित आमोद-प्रमोद मचाती।
नित यह गीत मनोहर गाती,
कल-कण्ठो को खूब लजाती॥

(३)

मधुर "पियानो" नित्य बजाती,
जौहर नये नये दिखलाती।
"गौहर" का गरूर गिर जावे,
यदि इसका गाना सुन जावे॥

(४)

परदे का कुछ काम नही है,
कही सकुच का नाम नहीं है
चम्पकवर्णी श्याम नही है,
इसमें ज़रा कलाम नही है॥

(५)

सीखा चित्र बनाना इसने,
करके कौशल नाना इसने।
पढना और पढाना इसने,
पति का चित्त चुराना इसने॥

(६)

पुरुषो मे भी जाना इसने,
मन्द-मन्द मुसकाना इसने।
सुधा-सलिल वरसाना इसने,
ज़रा नही शरमाना इसने॥

(७)

इसके कुण्डल श्रुति-सुखकारी,
देख अनस्थिरता-रत भारी।
चित्त हुआ उनका अनुयायी,
चचलता की पदवी पाई॥

(८)

कच-कलाप दिखराये कैसे?
सम्मुख सुघर वनाये कैसे।
दर्शक-दृग यदि उन पर जाते,
फिर वे नही लौटने पाते॥

(९)

सरस्वती से जो वर पावे,
इस पर कविता वही वनावे।
इससे श्रम क्यो वृथा उठावें?
क्यो न यही अब हम रुक जावे॥

(१०)

अग अग सुन्दरताशाली,
सूरत क्या ही भोली-भाली।
नही और इसकी हमजोली,
रूप-राशि की हद वम हो ली॥

(११)

जिसने इसका चित्र बनाया,
मनोमुग्धकर भाव दिखाया।
नृप रविवर्म्मा सबसे प्यारे,
हाय! हाय! सो स्वर्ग सिधारे॥

दिसम्बर, १९०६

३२—इन्दिरा

(१)

क्यो, क्या यही इन्दिरा वाई ?
क्या इन्दिरा महीतल आई ?
नही, नही, यह मानव-जाई,
सुन्दरता अति अद्भुत पाई ।।

(२)

पुण्य-नगर पूना की नारी,
पहने श्याम रग की सारी ।
यही इसे अतिशय है प्यारी,
सचमुच यह लोचन-सुखकारी ।

(३)

शीश खुला रखती यह वाला,
गले 'गलश्री' नामक माला ।
नथ-मुक्ता-सौन्दर्य निराला,
घर इसका इससे उजियाला ।।

(४)

कुकुम का यह तिलक लगाती,
कर्णफूल से कर्ण सजाती ।
हाथो को पटली पहनाती,
अन्य आभरण दूर हटाती ।।

(५)

जब यह देवालय को जाती,
भाव-भक्ति अतिशय दिखलाती ।
हाथ जोडती, शीश झुकाती,
मन ही मन पति-कुशल मनाती ।।

(६)

शिक्षा भी है इसने पाई,
कार-कौशल, कुशला यह 'आई'।
पत्र केसरी और सुधारक,
उसकी चित्त-वृत्ति के हारक ॥

(७)

नाटक नये देखने जाती,
पति को सदा साथ ले जाती।
मुख-मयक को नहीं छिपाती,
बहुत रात बीते घर आती ॥

(८)

शाल ओढ बाहर जाती है,
मन सकोच नही लाती है।
सखियो को जब यह पानी है,
बातो से मधु टपकाती है ॥

(९)

सभ्य सभाओ मे भी जाती,
व्याख्यान सुनती, सुख पाती।
मनोमोद, घर लौट, बढाती,
बाते कर पति-चित्त चुराती ॥

(१०)

यह है दाक्षिणात्य वर नारी,
अपने शिक्षित पति की प्यारी ॥
इसकी मूर्ति विलोचनहारी,
रविवर्म्मा ने विशद उतारी ॥

अप्रैल, १९०७

———

३३—सन्देश

(हिंदी साहित्य-सम्मेलन के दूसरे अधिवेशन मे पढी गई)

(१)

सुनिए सब सज्जन, विद्वज्जन, प्रिय हिन्दी-भाषा-भाषी,
पूज्य, पवित्र, मातृभाषा की उन्नति के अति अभिलाषी।
प्रबल प्रेरणा से हिन्दी की यहाँ आज मै आया हूँ,
उसका ही सदेश आपको स्वल्प सुनाने लाया हूँ॥

(२)

हिन्दी ने सेवक-समूह मे महा तुच्छ मुझको जाना,
इससे यह सदेश भेजने योग्य मुझी को अनुमाना।
आप बडे है, बडे काम सब कर, साधें उसका परमार्थ,
मै सदेश-वहन करके ही हो जाऊँगा आज कृतार्थ॥

(३)

छोटे हो या बडे, काम जो करके कुछ दिखलाते हैं,
वही लोग अपने स्वामी के सत्सेवक कहलाते हैं।
यही सोच, सकोच छोड सब, माना मैंने यह आदेश,
अब मेरी खिचडी भाषा में सुनिए हिन्दी का सदेश॥

(४)

अर्थ यथार्थ मातृभाषा का यदि तुम सबने जाना है,
मेरे अन्तरगत भावो को यदि तुमने पहिचाना है।
तो तुम नि सन्देह करोगे मुझसे सुत-समान व्यवहार,
मेरी सकल आपदाओ का होगा भी अवश्य सहार॥

(५)

इस जड-जगम जग में सबके दिन न एक-से जाते है,
दु ख भोगने पर निश्चय ही सुख के भी दिन आते है।
माता के सुख-दु ख किन्तु सब होते सन्तति के स्वाधीन,
चाहे भिखारिनी वह कर दे, चाहे उच्चासन-आसीन॥

(६)

या तो मुझे मातृभाषा तुम समझो तो इस दिन में [illegible],
मेरा शब्द न मुँह पर लाओ अँगरेज़ी बोलो सब [illegible]।
या मेरी दुर्दशा देखकर कुछ तो मन में शरमाओ,
जो सच ही हूँ उसे करो तुम; व्यर्थ न मुझको [illegible]॥

(७)

पैम्फलेट आदिक या इश्तहार, अखबार, और दुकान, रेल—
परिचालन [illegible] रचना सब पर हो मम निर्मल [illegible]।
ऐसा करने से सम्मेलन इसी शोभा पावेगा,
मेरे बहुत विरोध मार्ग भी सहज इसके दिखलावेगा॥

(८)

करो वही प्रस्ताव "पास" तुम जिसमें हो कुछ मेरा काम,
रहने दो तुम, बहुत हो चुका, अपना वादविवाद तमाम।
मेरे इस जर्जर शरीर की बार बार कर लेना याद,
लक्ष्य इसी पर रखना, अपना करना नहीं वक्त बरबाद॥

(९)

एक डिग्री है, या एकादश पुस्तक—यह सब व्यर्थ विचार,
बूढ़ा है, या प्रौढ़, या युवा—यह भी निःसार निःसार।
जो मेरा उपकार करे कुछ वही सपूत सभापति-योग्य,
यही देख, हर साल, सम्मिलन-समय समझना योग्य-अयोग्य॥

(१०)

कोई क्यों न सभापति हो, क्या वह न तुम्हारा भाई है?
पिशाचिनी ईर्ष्या इन बातों में भी हाय समाई है।
दूर करो अपने मन से तुम ऐसे अति अनुदार विचार,
दया करो, होने भी दोगे मुझ अभागिनी का उद्धार॥

(११)

आज ईद कल, बक़र ईद है परसों घट-स्थापना-योग,
होली और दिवाली को भी लगा तुम्हारे पीछे रोग।
जितनी हैं छुट्टियाँ सभी तुम त्यौहारों पर ही पाते,
खेल-कूद, पूजा-अर्चा की उनमें तुम सब ठहराते॥

बतलाओ अब तुम्हीं, सुअवसर और कौन-सा पावोगे ?
सम्मेलन की छुट्टी क्या तुम बड़े लाट से लाओगे ?
धर्म करो, त्योहार मनाओ, मुझको कुछ भी नहीं विषाद,
पर इतना तो बतला दो तुम, पाऊँगी कब तुमसे दाद ॥

(१३)

यदि घर में सुत-सुता किसी के आने पर कोई त्योहार,
महा-भयंकर-व्यथा-व्यथित हो लगे मचाने हाहाकार ।
तो क्या घर ही बैठ रहोगे करने निज वार्षिक व्यापार,
या नंगे पाँवों दौड़ोगे किसी वैद्य-विद्यानिधि-द्वार ॥

(१४)

कितना कष्ट तुम्हें मिलता है उँगली जो कट जाती है,
मेरा तो सब अंग गलित है; पीड़ा प्रबल सताती है ।
ऐसे में भी जो इलाज का अवसर ढूँढ़ोगे प्यारे,
तो मैं यही कहूँगी, मेरे सुत न शत्रु हो तुम सारे ॥

(१५)

वाणी की पूजा करते हो, क्या मैं उसका अंग नहीं ?
मृतवत् मुझे पड़ी रखने में क्या स्वधर्म-विध्वंस नहीं ।
फिर क्यों तुम सम्मिलन-कार्य में पखें अनेक लगाते हो ?
अत्याचार घोर मुझ पर कर बातें व्यर्थ बनाते हो ॥

(१६)

आर्त्त जनों के परित्राण से धर्म किस तरह जाता है ?
क्या कर्तव्य-विमुख होना ही परम धर्म कहलाता है ?
भरत-भूमि के धर्मज्ञों का यदि ऐसा ही धर्म-ज्ञान,
व्याकुल व्यथित जनों की तो फिर क्या गति होगी हे भगवान !

(१७)

यदि तुम कहो शीघ्रता क्या है ? क्यों इतना घबड़ाती हो ?
क्यों कायरता-पूर्ण कण्ठ से इतना शोर मचाती हो ?
तो मैं अपनी करुण-कथा का तुम्हें सुना देती हूँ सार,
सम्भव है उससे हो आवै तुममें दया-दृष्टि-संचार ॥

(१८)

जब देखती और बहनो को किये हुए सुन्दर शृगार,
बहु-वैभव-मद से मतवाली, मृदु मुसकाती, सालकार ।
तब जो गति मेरी होती है, कुछ मत पूछो उसका हाल,
फटती यदि पृथ्वी प्रयाग की मै जाती तुरन्त पाताल ॥

(१९)

कई करोड वोलनेवाले है मेरे भारतवासी,
हतभागिनी हाय तिस पर भी मरती मै भूखी-प्यासी !
जो सुदृष्टि इन नर-रत्नो की मेरी ओर न जाती है,
विश्वम्भर ! तो क्या तुमको भी मुझ पर दया न आती है ?

(२०)

दुख-दारिद्र भोग करने से अच्छा ही मर जाना है—
कवि के इस कठोर कहने को मैंने तो सच माना है ।
जीती हूँ, परन्तु, आशा-वश, वडे कष्ट से किसी प्रकार,
नही तरस तुझको आता है क्या कुछ भी हे प्राणाधार !

(२१)

यद्यपि तुम विरक्त हो मुझसे, नही फटकने देते पास,
मै तुमसे अनुरक्त पूर्ववन, मुझे तुम्हारी ही है आस ।
ऐसी नि सहाय अवला को यदि तुम और सताओगे,
न्यायी नारायण को अपना मुह कैसे दिखलाओगे ॥

(२२)

जो मेरे प्रेमी, जो मेरी कभी कभी कर लेते याद,
मत हो अव अप्रसन्न वे मन में उनसे मेरा नही विवाद ।
अपनी छोड पराई भाषा मे आता है जिनको स्वाद,
उन्ही कुलिश-कर्कश हृदयो के सत्पुरुषो से है फरयाद ॥

(२३)

या उनसे जो मेरे दुख को कर सकते है कुछ कुछ दूर,
पर जो कर तक नही हिलाते रहते हैं आलस मे चूर ।
अथवा उनका दोष नही कुछ यह मेरा ही पापाचार,
ऐसे भी जिसके सपूत हो उस माता को ही धिक्कार ॥

(२४)

तुममे किसी किसी पर व्यापी जिस भाषा की माया है,
सच कहना किस किसने उससे कितना लाभ उठाया है।
उस दिन अभी मधुरमोदक कुछ पूने से जो आये थे,
कैसे थे वे! मीठे थे क्या! किस किसने ले खाये थे!

(२५)

घोर घृणा तुमसे जो करती, पास उसी के जाते हो!
मृत सुनकर भी नाम न लेती, उसको सदा सजाते हो।
आते नही होश मे यद्यपि होता है इतना अपमान,
अध पात का इससे बढकर हो सकता क्या और प्रमाण॥

(२६)

हिन्दू होकर भी हिन्दी में यदि कुछ भी न भक्ति का लेश,
दूर देश की भाषाओ मे यदि इतना है प्रेम विशेष।
इँगलिस्तान अरब, फारिस, को तो अब तुम कर दो प्रस्थान,
यहाँ तुम्हारा काम नही कुछ, छोडो मेरा हिन्दुस्तान॥

(२७)

दिव्य देववाणी की दुहिता मैं हूँ वह हिन्दी प्राचीन,
तुलसी, सूर, बिहारी आदिक रहे भक्ति मे जिसकी लीन।
परित्याग उसका ही करके बनते हो विद्याधारी,
ऐसी अद्भुत गुणज्ञता की बलिहारी है बलिहारी!

(२८)

कहते हो मुझमें है ही क्या! मुझसे कुछ न निकलता काम!
मेरे घावो पर नश्तर-सा चलता है सुनकर इल्जाम।
इसका दोष तुम्हारे ही सिर, फिर यह कैसी उलटी बात,
जिसे जानती दुनिया सारी वह भी क्या तुमसे अज्ञात?

(२९)

जननी और जन्म की भाषा, जन्मभूमि सब सुख की खानि,
चाहे जहाँ पूछ तुम देखो, तीनो का सम्मान समान।
पर तुमने मेरी उन्नति का किया न कोई कभी उपाय,
तिस पर भी ताने देते हो! क्यो करते इतना अन्याय॥

(३०)

अन्यायी से परमेश्वर भी कभी नही खुश होता है ,
जो कर्त्तव्य नही करता है वह अवश्य कुछ खोता है ।
क्षमा करे वह क्षमा क्षीरनिधि-ईश तुम्हारा यह अपराध,
जीते रहो कभी तो मेरा दूर करोगे दुःख अगाध ॥

(३१)

संस्कृत, अरबी, और फारसी, उर्दू, अँगरेजी सारी—
भाषाओ से प्रेम करो तुम जिसको जो जो हो प्यारी ।
मना नही मैं करती तुमको, पर इस दुखिया की भी याद ,
कभी कभी कर लिया कीजिए, मेरी इतनी ही फरयाद ॥

(३२)

बच्चे थे तुम तबसे ही मै काम तुम्हारे आती हूँ ,
पत्नी और सुता-सुत के भी मै ही काम चलाती हूँ ।
हो सकते मेरे विनाश से बन्द तुम्हारे सब व्यापार ;
नही अन्य भाषायें कोई कर सकती कुछ भी उपकार ॥

(३३)

उस मुझको ही यदि अभाग्यवश अब इस समय भुलाओगे ,
कृतघ्नता के घोर पाप से क्या तुम वच भी जाओगे ?
जो कुछ हुआ हो गया सो तो, सोचो अब आगे की वात ,
लोक-लाज पर भी क्यो करते इतना निष्ठुर वज्र-निपात ?

(३४)

मेरे ही प्रभाव से भारत पायेगा परमोज्ज्वल ज्ञान,
मिट अवश्य ही जायेगा यह अति अनर्थकारी अज्ञान ।
गाँव-गाँव , घर-घर में मेरा जव प्रचार हो जायेगा,
दुरित, दैन्य, दारिद्र, दुख सव क्रम क्रम से घट जायेगा ॥

(३५)

जितने उन्नत देश सभी है करते निज भाषा की वृद्धि ,
देख क्यो नही लेते उनकी कितनी है निसीम समृद्धि ।
अपना, मेरा, भारत का भी यदि चाहो कुछ भी कल्याण,
तो मेरा उद्धार करो अव; व्याकुल है ये पापी प्राण ॥

(३६)

और लोग इस भारत में भी निज भाषाओं का उपकार—
देखो आँख उठाकर कितना करते हैं सब विविध प्रकार ॥
उन्हें देखकर भी उत्साहित होते नहीं आप, क्या बात ?
करो न अपने ही पैरों पर महा कठोर कुठाराघात ॥

(३७)

समय नहीं, अभ्यास नहीं है, लिखना मुझे न आता है—
यह सुन मेरा कठिन कलेजा दो टुकड़े हो जाता है ।
विकट विदेशी भी भाषायें लिखनेवालों के उस्ताद !
मत अब और बहाने ऐसे किया करो तुम बे-बुनियाद ॥

(३८)

इस सम्मेलन की सहायता करना काम तुम्हारा है,
जी से मैं कहती हूँ, इससे मुझको बड़ा सहारा है ।
यहाँ उपस्थित रह कर सोचो कोई ऐसा उच्च उपाय,
जिससे मिले मुझे भी थोड़ा गुरुतापूर्ण ग्रन्थ-समुदाय ॥

(३९)

इसकी त्रुटियाँ अपनी समझो; दोषों को अपने ही दोष,
भाई को अपने भाई पर करना नहीं चाहिए रोष ।
यदि कुछ भी गौरव रखते हो यदि कुछ भी है तुममें जोश,
ग्रन्थ-रत्न रच पूर्ण क्यों नहीं कर देते हो मेरा कोश ?

(४०)

सारे भारत में व्यापकता मेरी ही है यदपि विशेष,
निःसंशय तदपि मुझको है सबसे प्यारा यही प्रदेश ।
निर्दयता, निष्ठुरता कम कर हो जाओ कुछ अधिक उदार,
दया-द्रवित होकर सत्वर ही कर दो अब मेरा उद्धार ॥

(४१)

विकल-आर्त्त, आतुर को होता नहीं उचित-अनुचित का ज्ञान,
यदि कटु वचन कहे हों कोई क्षमा करो हे क्षमानिधान !
अधिक क्या कहूँ अब मैं तुमसे, मेरी लाज तुम्हारे हाथ,
चाहो और झुका दो, चाहे ऊँचा कर दो मेरा माथ ॥

(४२)

हे गोविन्द दया के सागर नारायण अन्तरयामी !
शरणागत-वत्सल तुमसे है छिपा नही है कुछ स्वामी ।
सुमति और सद्बुद्धि दीजिए सबको करुणा के आगार,
जिसमे इस अभागिनी का भी हो जावे अब बेडा पार ॥

अक्टूबर, १९११

३४——विवाह-सम्बन्धी कवितायें*

पहला दिन

(१)

इस आंगन में भोजन करके जो सुख मुझे मिला है आज,
मिलता नही अगर मिल जाता मुझे देवताओ का राज ।
देख आपका प्रेम आपके ये उदारतासूचक काज,
मै कृतार्थ हो गया आपसे कर सम्बन्ध दुवे महराज ॥ १ ॥
अपने घर में अपने कुल का मनुज बच रहा हूँ मै एक,
आज आपका सम्बन्धी बन एक नही अब हुआ अनेक ।
बाँधा है जिस प्रणय-बन्ध से मुझे आपने आज अशेष,
शिथिल न होने देना उसको विनती मेरी यही विशेष ॥ २ ॥
इन कोकिल-कण्ठी कामिनियो ने जो मधुर गीत गाये,
सुधा-सदृश कानो से पीकर वे मुझको अति ही भाये ।
इनका यह गाली गाना भी चित मे जब यो चुभ जाता,
यदि ये कही और कुछ गाती——बिना मोल मै बिक जाता ॥ ३ ॥

दूसरा दिन

(२)

किये जिन्होने ये वर-व्यञ्जन अति रोचक रसाल तैयार,
उनके कर-कमलो मे कमला करे सदा दिन-रात विहार ।
और परोसा इन्हें जिन्होने उनको धन्यवाद शतबार,
अब तक कभी कही भी मेरा हुआ नही इतना सत्कार ॥

---

* ये कवितायें श्री कमलाकिशोर तिवारी के विवाह में भिन्न भिन्न अवसरो पर पढी गई थी ।

तीसरा दिन

(३)

इन स्वादिष्ठ भोजनो के गुण वन्धु कहाँ तक मैं गाऊँ,
गाते गाते चुकें नही वे चाहे मैं ही चुक जाऊँ ।
इससे धन्य धन्य कहना ही बस होगा प्यारे भाई,
ईश्वर करे होय आगे भी यह सम्बन्ध सौख्यदायी ॥ १ ॥

परसो जो मधुमय गीतो का रस-समुद्र भर आया था,
मैंने तो उसमें परसो ही गोता खूब लगाया था ।
आज उसी का वढा हुआ जो वहा वेग से निर्मल नीर,
मन मेरा वह गया उसी में यहाँ रह गया सिर्फ शरीर ॥ २ ॥

गानेवाली जो सधवा है उनका बढता रहे सुहाग,
प्रेमी पति पावें कुमारिका विधवा श्री-हरि-पद-अनुराग ।
मम कृतज्ञता-सूचक लेकर यह मुद्रापञ्चक महराज,
पाँच पाँच पानो का बीडा दे दीजे इन सबको आज ॥ ३ ॥

चौथा दिन

(४)

होता है विवाह मे भाई मुख्य दान कन्या का दान,
सो सद्‌गुणी आपने दे दी लक्ष्मी मगल-मूर्ति-समान ।
वस्त्र, पात्र, धन-धान्य आदि भी देकर हे औदार्यनिधान,
शालीनता दिखाई इतनी, इसका जव आता है ध्यान ॥ १ ॥

तव मेरा यह हृदय बन्धुवर द्रवीभूत हो जाता है,
अति अगाध आनन्द-सिंधु मे वारम्वार समाता है ।
पूर्व-जन्म के पुण्य-पुज से दिवस आज यह आया है,
दान, मान, सन्मान आपसे सब कुछ मैंने पाया है ॥ २ ॥

इस कन्या को सदन-स्वामिनी मैं सप्रेम वनाऊँगा,
आशा यही, देख इसको मैं अपने दुख भुलाऊँगा ।
विनती है, मेरी त्रुटियो को मन में आप न लावेंगे,
इस लडके को पुत्र समझ अब, इसको भी अपनावेंगे ॥ ३ ॥

अप्रैल, १९१९

३५——भारतवर्ष

१——जै जै प्यारे भारतदेश

जै जै प्यारे देश हमारे
तीन लोक में सब से न्यारे
हिमगिरि-मुकुट मनोहर धारे
जै जै सुभग सुवेश ॥ १ ॥ जै जै०

हम बुलबुल तू गुल है प्यारा
तू सुम्बुल, तू देश हमारा
हमनें तन-मन तुझ पर वारा
तेज पुञ्ज-विशेष ॥ २२ ॥ जै जै०

तुझ पर हम निसार हो जावें
तेरी रज हम शीश चढावें
जगत पिता से यही मनावे
होवे तू देशेश ॥ ३ ॥ जै जै०

जै जै हे देशो के स्वामी
नामवरो में भी हे नामी
हे प्रणम्य तुझको प्रणमामी
जीते रहो हमेश ॥ ४ ॥ जै जै०

आँख अगर कोई दिखलावे
उसका दर्प-दलन हो जावे
फल अपने कर्मो का पावे
बने नाम निशेष ॥ ५ ॥ जै जै०

बल दो हमें ऐक्य सिखलाओ
सँभलो देश होश में आवो
मातृभूमि-सौभाग्य बढाओ
मेटो सकल कलेश ॥ ६ ॥ जै जै०

हिन्दू मुसलमान ईसाई
यश गावे सब भाई भाई

सबके सब तेरे शैदाई
फूलो-फलो स्वदेश ॥ ७ ॥ जै जै०
इष्ट-देव आधार हमारे
तुम्हीं गले के हार हमारे
भुक्ति-मुक्ति के द्वार हमारे
जै जै जै जै देश ॥ ८ ॥ जै जै०

अक्टूबर १९२०

३६—मेरे प्यारे हिन्दुस्तान

हम बुलबुल तू चमनिस्तान
हम शरीर तू प्राणसमान
नहीं कही तेरा उपमान
जान-माल तुझ पर कुरबान ॥ १ ॥ मेरे०
तू था दुनिया का सरताज
तेरा है हम सबको नाज
तेरे हाथ हमारी लाज
तुझसे ही हम सबका त्राण ॥ २ ॥ मेरे०
एक नहीं हम कई करोड़
कर उद्योग काहिली छोड़
सत्पथ से तू मुंह मत मोड़
आँख खोल बल-वीर्य-निधान ॥ ३ ॥ मेरे०
मक्का मसजिद देवस्थान
काशी और प्रयाग समान
तू ही हम सबका भगवान
जै महान जै महिमामान ॥ ४ ॥ मेरे०
जलवा तेरा जग मे छाया
जो जिसने मांगा सो पाया
ग़ैरों को भी सभ्य बनाया
धन्य धन्य जै जै भगवान ॥ ५ ॥ मेरे०

नवम्बर १९२०